सद्ग्रन्थ

रहनि प्रबोधिनी सटीक

250

❀ सद्गुरवे नमः ❀

श्री कबीर पथ-प्रदर्शक ज्ञान वैराग्यादि
सद्गुण सम्पन्न पारखनिष्ठ महात्मा

सद्गुरु श्री रामसूरत साहेब
निर्मित

रहनि प्रबोधिनी

(टीका-व्याख्या सहित)

व्याख्याकार
शिष्य—
अभिलाषदास

आपा तजै हरि भजै, नख शिख तजै विकार।
सब जीवन से निर्वैर रहे, साधु मता है सार॥
(बीजक)

सन् १९६२ ई०

प्रकाशक—
शरणपालदास जी
श्री कबीर मन्दिर बड़हरा,
पो० मद्दौ बाजार,
जि० गोंडा।

प्रथमावृत्ति २०००
वि० सम्वत् २०१६
मूल्य (मूल्य रु० २०·००)

मुद्रक-
श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला,
वाराणसी—१.

निवेदन

अखण्ड वैराग्यवान् प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद सद्गुरु श्री-कबीरसाहेब के पारख सिद्धान्तानुसार शिक्षक ज्ञानवैराग्यादि सद्गुण सम्पन्न पारखनिष्ठ सद्गुरु श्रीरामसूरत साहेब का बनाया हुआ यह 'रहनि प्रबोधिनी' सद्ग्रन्थ है।

इसमें चार प्रकरण हैं, पहला प्रकरण 'दुखशमन-चालीसा' नामक है। इसमें अन्य-अन्य शिक्षाओं का समावेशहोते हुए सद्गुरु के गुण, रहस्य और महिमा का वर्णन है। गुरु के गुण-आचरण एवं स्वरूप पर विवेचन करते हुए संक्षेप में शिष्य के आचरण को भी बतलाया गया है और विविध शंका-समाधानों के सहित त्रिविधि कर्म ध्वंश पूर्वक जीवन्मुक्ति स्थिति के आचरण का यथास्थान संक्षिप्त और विस्तृत निर्णय है।

दूसरे प्रकरण का शीर्षक 'सदाचरण-षोड्सी' है। इसमें सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, क्षमा, दया, अस्तेय, शम, दम, विवेक, वैराग्यादि ६४ सद्गुण और सदाचरणों का विशद विवेचनात्मक वर्णन है। यह प्रकरण बहुत महत्त्वपूर्ण है

एक-एक विषय जीवन में उतारने योग्य हैं। वास्तव में वही लिखना, पढ़ना और कहना सफल होता है, जो जीवन में उतार लिया जाता है। अर्थात् जिन सद्गुण-सदाचरणों का जीवन में पूर्ण प्रयोग किया जा रहा है। अतएव अविलम्ब आचरण सम्पन्न होने की महान आवश्यकता है।

'छन्द-सप्तामृत' नामक तीसरा प्रकरण है, इसमें सात छन्द हैं। इन छन्दों में मानव-जीवन सम्बन्धी हर शिक्षाओं का उल्लेख है। सबके समझने योग्य और उपकारी है।

चौथे प्रकरण का शीर्षक 'शब्द-पचीसी' है। इसमें पचीस शब्द हैं। जो विविध ध्वनि युक्त गायन करने योग्य और उपदेशक हैं।

आरम्भ के दो प्रकरण 'दुखशमन-चालीसा' और 'सदा-चरण-षोड्सी' के पदों पर संक्षिप्त अर्थ किया गया। पुनः प्रायः प्रत्येक पदों पर प्रश्नोत्तर पूर्वक विवेचनात्मक व्याख्या की गयी। विस्तृत होने से ग्रन्थ का कलेवर तो अवश्य बढ़ गया है, परन्तु मेरे लघु विचार से प्रत्येक विषय समझने के लिये सरलता हो गयी है।

अन्त के दो प्रकरणों (छन्द-सप्तामृत और शब्द-पचीसी) के विषय 'सटीक विवेक प्रकाश' और 'बीजक शिक्षा' में अति स्पष्टता से आगये हैं। ऐसा विचार कर इसका संक्षिप्त अर्थ किया गया। केवल टीका की शैली पूरे ग्रन्थ में सुरक्षित

रखने के लिये ही इनमें स्थल-स्थल पर संक्षिप्त प्रश्नोत्तर रख दिये गये हैं। आरम्भ के दो प्रकरणों के समान अन्तकी भी टीका-व्याख्या की गई होती, तो विवेक प्रकाश टीका की दुगुनी हो गयी होती। इसलिये उत्तरार्ध को संक्षिप्त रखा।

यह तो सटीक विवेक प्रकाश की भूमिका में ही लिख दिया गया है कि "सब बातों की एकही काल में परीक्षा न होने से, दृष्टि-दोष से, असावधानी से तथा अनभिज्ञता वश मनुष्य से त्रुटियाँ हो जाती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी ऐसी अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं।" अतएव पूज्यचरण सन्त-महात्माओं तथा स्नेही पाठकों से दोनों हाथ जोड़कर अत्यन्त विनम्रभाव से निवेदन करता हूँ कि ग्रन्थगत समस्त त्रुटियों पर क्षमा करते हुए मधुकरवत् केवल गुण ग्रहण करने की कृपा करेंगे। किसी सज्जन के ग्रन्थगत कोई त्रुटि बतलाने पर पुनः संशोधन करने का विचार किया जा सकता है।

जिन सद्गुरुदेव और सन्त-महात्माओं की कृपादृष्टि से ग्रन्थ सम्पन्न होना सुलभ हुआ, उनके चरणों में बारम्बार अभिवादन है तथा पूज्यचरण बोधदाता श्रीसद्गुरुदेव के चरण कमलों में यह सद्ग्रन्थ सादर सप्रेम समर्पित करता हूँ।

विनम्र

अभिलाष दास

❀ प्रार्थना तथा अर्पण ❀

हम सर्व सेवक भक्त की गुरु प्रार्थना सुन लीजिये ।
सब शोकमोह विनाशकरि कल्याण पदको दीजिये ॥टेक॥
हम कौन हैं संसार क्या कल्याण हो केहि भाँति से ।
दे बोध पारख सद्गुरू दुख द्वन्द्व मेरे छीजिये ॥ १ ॥
मन वासना के वेग में हम सब बहे नित जा रहे ।
आधार दे हे साधु वर ! भव पार नौका कीजिये ॥ २ ॥
आवरण मल विक्षेप से हम सब सदा मालिन्य हैं ।
दुख दीन आश्रयहीन को आधार पद का दीजिये ॥ ३ ॥
तन मन वचन निज अर्पते हे सद्गुरू तव चरण में ।
भव भय हरण तारण तरण हम सब जनों पर रीझिये ॥ ४ ॥

समर्पक–

शंकर भक्त, कमलसिंह, गिरधारी, किशुन, उदयराम,
शुभियामण्डलिन, देवन्तीबाई, पुनियाबाई आदि
बस्ती छत्तिसगढ़ के सेवकजन ।

❀ सद्गुरवे नमः ❀

रहनि प्रबोधिनी सटीक का सूचीपत्र

प्रथम प्रकरण दुखशमन चालीसा

क्रम संख्या	विषय	पृष्ठ
१—गुरुपद महिमा का स्वरूप		१
२—गुरु कबीर और पारख पद का स्वरूप		२
३—अज्ञान मोह का निराकरण, निर्मोही राजा की कथा; भजन		६
भजन-चेतावनी-थोरी जिनगानी तुम भूल न जाना		१२
४—दैव का निराकरण		१५
५—माया अभिमान का निराकरण		१७
कहरा-चेतावनी-थोरे दिन का प्रभुताई तू न भूलो मनुवा		२१
६—गुरु और ज्ञान बिना दुःख		२३
७—चारों खानि के दुःख		२४
८—पूर्व पुण्य की महत्ता		२६
९—गुरु कृपा स्वरूप का बोध		२७
१०—गुरु की महत्ता' भ्रम निराकरण		२८
११—वृक्ष वनस्पतियों में जीवों का निराकरण		३५
१२—गुरु बिना मोक्ष नहीं, गुरु शरण की आवश्यकता		४१
१३—यथार्थ सद्गुरु का लक्षण		४५
१४—सञ्चितशमन		५०
१५—जीवन्मुक्तों के विषय में प्रश्नोत्तर		७८
१६—यथार्थ सद्गुरु का लक्षण		१०३
१७—गुरु महिमा के दृष्टान्त प्रमाण		१२५
१८—साधु गुरु की विशेषता और विनय		१३३
१९—प्रकरण की महिमा		[illegible]

क्रमसंख्या	विषय	पृष्ठ
२०—उपसंहार		१३४
	शब्द-दुख हर आप सद्गुरुदेव	१४२

द्वितीय प्रकरण सदाचरण षोड़सी

१—मङ्गलाचरण	१४५
२—अहिंसा शुद्धाहार	१४८
हिंसा-मांसाहार-निषेध कहरा-त्यागो हिंसा मांस भाई	१८४
मद्यपान-निषेध कहरा-त्यागो मदिरा कै पियाई	१९२
अमल-निषेध कहरा-दीजै अमल हटाई मेरे भाई	१९३
३—जीव वाद या चेतन बाद का महत्व	१९४
४—शिक्षा देने की शैली, भासादि का मिथ्यात्व	२०१
५—चोरी, व्यभिचार, झूठ, छल, प्रपंचादि का निराकरण	२०७
६—ब्रह्मचर्य	२२०
७—चुगुली निन्दादि दुर्गुणों का निराकरण	२३१
८—निर्मानता राग द्वेष हीनता निष्कपटता आदि	२३३
९—मैत्री परोपकार की विधि	२३७
१०—स्वच्छता	२३८
११—तितिक्षा, तन, मन, वचन से भक्ति, सत्संगादि की विधि	२४६
१२—सेवा लक्षण दान विधि	२५२
१३—धर्म रक्षाहित सहन, स्वाध्याय लक्षण	२५५
१४—शम दम विनय शील के लक्षण और विधि	२६३
१५—सीधापन दया क्षमादि की विधि	२७२
१६—गुरु-ग्रन्थ में प्रेम, जड़-चेतन निर्णय पुनर्जन्म की सिद्धि	२७७
१७—श्रद्धा विवेक वैराग्य के लक्षण तथा विधि	२८५
१८—एकान्त वास और असंग्रह के लक्षण तथा विधि	२८८
१९—निःसंशय निर्विक्षेप समाधान के लक्षण	३००
२०—उपरामता के लक्षण और विधि	३०१

क्रमसंख्या	विषय	पृष्ठ
२१—कर्तव्य परायणता, शत्रु के प्रति भी मैत्री का भाव		३०४
२२—सबको शान्ति प्रदान और हितैषी भाव		३२१
२३—क्षमा अंग की पुष्टता		३२३
२४—धैर्य अद्रोह के लक्षण और विधि		३२८
२५—स्वस्वरूप का लक्षण, विषयों से वैराग्य की विधि		३३३
२६—भोगों की नश्वरता, हन्ता का त्याग, निर्भय निष्काम		३३६
२७—प्रमाद का विस्तृत विवेचन और निराकरण		३४३
२८—चेतन और मोक्ष के विषय में प्रश्नोत्तर		३५२
२९—जीवन्मुक्ति के लक्षण		३६०
३०—उपसंहार		३६६
शब्द-हमारे मन सद्गुण ग्रहण करो		३६८

तृतीय प्रकरण छन्द—सप्तामृत

१—छन्द—पुरुषार्थ याही सार है		३७१
२—पाये विना निज स्थिती वहते सभी भवधार हैं		३७६
३—सो चतुर सुज्ञ उदार है		३८२
४—स्वराष्टक छन्द-अ अधार तु गुरु क ले तव		३८७
५—चौतीसा वर्ण विचार क है कपट से पूर्ण सब सुख भोग		३९२
६—सवैया—वृत्ति मनोवश मेल सबै जग		४०२
७—कवित्ताष्टक-मनहीं से काम क्रोध मन ही से लोभ आदि		४०९
शब्द-भजन बिन नरतन खोय दियोरे		४१७
शब्द-जीवन जात कौन भरोस		४१८

चतुर्थ प्रकरण शब्द—पचीसी

१—विनय गजल-कठिन दुष्कर्म से मुझको,		४२१
२—गजल-मिटादो दोष त्रय स्वामी, दुहाई आपकी ये है		४२२
३—गजल-हमारा मन हमारे वश, करा दीजै गुरु स्वामी		४२४

क्रमसंख्या	विषय	पृष्ठ
४--	गजल-शरणों में हूँ तुम्हारे, गुरुदेव मुझको तारो	४२५
५--	गजल-मनकी अमित भुलावा, गुरुवर प्रखाने वाले	४२७
६—	गजल-तू चेतकर पियारे, तन रत्न जा रहा है	४२८
७—	गजल-नर चेत जिन्दगी सब, तेरी गुजर रही है	४३०
८—	गजल-हमें है मोक्ष को पाना, तो क्या दुनिया से यारी है	४३२
९—	गजल-जिसे भवसिन्धु तरना हो, प्रथम मन को मिटा डाले	४३४
१०--	गजल-जिसे हो आश तरने की, किसी से मोह क्यों लावे	४३५
११--	गजल-ध्याय सन्त समाज को, नरशरण गुरु की आइए	४३७
१२--	गजल-अब जाग मुसाफिर चेत करो, कोई न तुम्हारा साथो है	४३८
१३--	गजल-वैराग्य ही जीवन परम्, वैराग्य ही अपनाय है	४४०
१४--	गजल-सदा अपने दिलन्दर में, लगी लव मोक्ष होने की	४४१
१५—	गजल-वैराग्य के प्रभाव, जो दृढ़ किये दिल में सदा	४४३
१६—	शब्द-समुझि मन अपनी वृत्ति सुधारो	४४५
१७—	शब्द-करौ यतन परलोक बनन की	४४७
१८—	शब्द-तजो जड़ नेह सदा सुख कारे	४४८
१९—	शब्द-हमारे उर गुरुवर बसिये आ।	४४९
२०—	शब्द-चलि गये हंस सरवर तन सूनी	४५१
२१—	शब्द-परखि मन आपन रहो हुशियार	४५२
२२—	शब्द-करो नर चेत यक दिन तन छूटी	४५३
२३—	शब्द-भजन करो तन की कौन है आश	४५५
२४—	शब्द-सजग तू नर तन पाय सुभागे	४५६
२५—	कव्वाली-नमों नमों सद्गुरु दीद दयाल,	४५८
	शब्द-जय हे साधु सद्गुरुदेव	४६०

साधुता !

पर-दोष-दर्शन का सर्वथा त्याग करके अपने दोषों को पुनः-पुनः देखना, दूसरे द्वारा अपने ऊपर किये हुए आक्षेपों को निर्विकार भाव से सहना, अपने सम्बन्ध में दूसरे को दोष न लगाना, न दूसरे को उद्वेग चाना न स्वयं उद्वेगित होना, अपने अन्तःकरण की वृत्तियों को सबके संसर्ग से रहित रखना, जन-समुदाय-रहित एकान्त का सेवन करना, अन्तिम में होने वाली मृतक दशा का आज ही चरितार्थ करना, दुःखदायी जड़-जगत् की वासना का त्याग कर और स्वरूपस्थिति में दृढ़ तत्पर होकर सार-चिन्ता से रहित हो जाना—साधुता है।



❀ वन्दना ❀

मेरे मन में बस जाये, मेरे तन में बस जाये ।
हे सद्गुरू तुम्हारे, सद्ज्ञान आचरन ॥ टेक ॥
कीड़े से हस्ती लेकर, कोई भि प्राणियों के ।
नहिं भूल के दुखाऊँ, तन मन तथा वचन ॥ १ ॥
दीनों पे दया पालूँ, समता धरूँ सभी में ।
ममता वो स्वार्थ तज कर, परमार्थ की लगन ॥ २ ॥
सब धर्म मजहबों के, मानव समान समझूँ ।
नहिं पक्ष द्वेष वो कुतर्क, का करूँ जनन ॥ ३ ॥
चोरी व काम त्यागूँ, संग्रह अधिक से भागूँ ।
भय त्याग कर सभी का, सत्पथ करूँ गमन ॥ ४ ॥
जिभ्या का स्वाद त्यागूँ, पाँचों विषय विरागूँ ।
होके उदास तन से, मन से करू भजन ॥ ५ ॥
आलस प्रमाद डारूँ, पुरुषार्थ से न हारूँ ।
अपने को अब सुधारूँ, पाया अमोल तन ॥ ६ ॥
प्रमदा को काल जानूँ, अवगति कुसँग से मानूँ ।
होके असंग अथवा, सत्सङ्ग में रमन ॥ ७ ॥
मुक्ती के साज सारे, धर लूँ स्व आचरन में ।
तजि राग द्वेष चिन्तन, स्थिति प्रबुद्ध घन ॥ ८ ॥
अभिलाष तन वो धन के, होके विरक्त जन से ।
लूँ मुक्ति लाभ-जीवन, छूटै जनम मरन ॥ ९ ॥

❀ प्रार्थना ❀

नमों दीनबन्धू चरण में तुम्हारे।
मेरी नावका नाथ! कीजै किनारे॥ टेक॥
महा काम की है प्रबल वेग धारा,
फटी नावका वासना वायु झारा।
टुटे बाँस बल्ली है पतवार नारे,
नमों दीनबन्धू चरण में तुम्हारे॥ १॥
है अज्ञान की रात्रि तम पूर्ण छाई,
अविद्या के घनघोर वारिद सुहाई।
सुखाध्यास विद्युत् चकाचौंध छारे,
नमों दीनबन्धू चरण में तुम्हारे॥ २॥
अमित कामना वृष्टि भव भोग जाड़े,
हैं सत्सङ्ग साधन के तट बल बिगाड़े।
वो चारों दिशा से कुसङ्ग बाढ़ भारे,
नमों दीनबन्धू चरण में तुम्हारे॥ ३॥
हैं क्रोधादि जल जन्तु विष पूर्णकारी,
महा मोह की है भँवर वेग भारी।
मगरमच्छ हैं राग वो द्वेष धारे,
नमों दीनबन्धू चरण में तुम्हारे॥ ४॥

न कोई है आगे न पीछे सहारा,
मेरी डूबती नावका मध्य धारा ।
बनो नाथ ! कड़िहार कर दो किनारे,
नमों दीनबन्धू चरण में तुम्हारे ॥ ५ ॥
सकल भाँति से है विकल चित्त मेरा,
अनाश्रय दुखी दास अभिलाष तेरा ।
दिया खोल लंगर तिहारे सहारे,
नमों दीनबन्धू चरण में तुम्हारे ॥ ६ ॥

❁ प्रकरण-महिमा-छन्द ❁

यह दुख शमन प्रकरण,
सद्गुरु के महत्त्व प्रकाश कर।
अज्ञान तम के नाश हित,
पारख प्रकाशक भासकर॥
श्रीगुरु कबीर दिनेश के,
सत्पथ प्रदर्शक खासकर।
कल्याण सुखदायक सकल–
दुख द्वन्द्व शोक विनाश कर॥१॥

❁ साखी ❁

अति समता अरु युक्ति युत,
सरल ज्ञान आगार।
पढ़ि सुनि गुनि सुख पावईं,
जिनके विमल विचार॥ १॥

❁ सद्गुरवे नमः ❁

❁ रहनि प्रबोधिनी ❁

प्रथम प्रकरण

दुख-शमन चालीसा

(टीका-व्याख्या सहित)

१—गुरु-पद महिमा का स्वरूप ।

॥ दोहा ॥

गुरु पद महिमा ध्यान से, सब दुख होवे छार ।
वन्दन करि तिनको सदा, उभय जाल भव पार ॥ १

टीका—सद्गुरु के चरण कमलों के अथवा उनके उपदिष्ट यथार्थ स्व-स्वरूप के महत्त्व को अपने लक्ष्य में रखने से एवं तदनुसार ही स्व-आचरण बनाने से मानसिक जन्मादिक एवं देहोपाधिक सम्पूर्ण क्लेशों का नाश हो जाता है। तिन सद्गुरुदेव की सदैव विनम्र-वन्दना करके खानी-वाणी तथा जन्म-मरण दोनों बन्धन रूपी संसार-सागर से मुक्त हो जाऊँगा ॥ १ ॥

व्याख्या-प्रश्न—गुरु पद किसे कहते हैं और उनकी महिमा के ध्यान से सब दुःखों का नाश होना क्या है ?

उत्तर—(१) सद्गुरु के चरण कमलों को गुरुपद कहते हैं, (२) दया, क्षमा, सत्य, धैर्य, विचार, विवेक, वैराग्य, गुरु-भक्ति, समता, नम्रतादि सद्गुण-सद्रहस्य युक्त जो स्वतः स्वरूप की स्थिति का दर्जा है—उसे गुरुपद कहते हैं और (३) गुरुपद कहते हैं—अपने निश्चित शुद्ध चैतन्य सत्य पारख स्वरूप को। सो सद्गुरु के चरण कमलों तथा सर्व सद्गुण युक्त स्थिति दर्जा एवं स्वतः सत्य स्वरूप के महत्त्व का भावयुक्त चिन्तन-मनन करते रहने से सांसारिक वासनायें निवृत्त होकर स्व-स्वरूप में स्थिति की प्राप्ति हो जाती है और स्थिति प्राप्ति पश्चात् काम, क्रोधादि मानसिक विकारों के अभाव हो जाने से मानसिक कष्टों की निवृत्ति हो जाती है तथा मानसिक कष्टों की निवृत्ति हो जाने पर प्रारब्धान्त पश्चात् विदेहमुक्ति प्राप्त हो जाती है और विदेहमुक्ति प्राप्त होने पर जन्म-मरण रूप संसृतिचक्र का अभाव हो जाता है। अतएव तब सर्वदा के लिये सर्व दुःखों का सर्वथा अभाव हो जाता है। गुरुपद महिमा के ध्यान से सब दुःखों का यही नाश होना है।

२—गुरु, कबीर और पारख पद का स्वरूप।

॥ चौपाई ॥

गुरु कबीर पद पारख दाता।
भूल अनादी बन्ध नशाता ॥ २ ॥

बन्दीछोर सद्गुरु श्रीकबीरसाहेब पारखपद के ज्ञान रूप दान को देने वाले हैं। और सदाकाल के स्वरूप-भूल रूपी बन्धन को नाश करनेवाले हैं ॥ २ ॥

प्रश्न—गुरु तथा कबीर किसे कहते हैं और पारखपद का क्या भाव है ?

उत्तर—'गु' नाम अन्धकार और 'रु' नाम प्रकाश; अर्थात् अज्ञान-अन्धकार में जो ज्ञान-प्रकाश कर दे, उसे कहते हैं—'गुरु'। सत्य पारखज्ञान के आदि संशोधक पारखपथ-प्रदर्शक सद्ग्रन्थ बीजक के निर्माता, जिनका शारीरिक नाम था 'श्रीकबीरसाहेब' उनको कहते हैं—'कबीर'। अथवा क—काया के विकारी स्वभावों पर वीर-विजयी जो देहाध्यास से सर्वथा रहित दया-क्षमादि एवं विवेक-वैराग्यादि सद्गुण युक्त स्व-स्वरूपस्थ पारखी सन्त हैं, उन्हें कहते हैं—"कबीर'। सार-असार, सत्य-असत्य, जड़-चैतन्यादि सब की जहाँ से परीक्षा होती है, उसी को कहते हैं—'पारखपद'। वह 'पारखपद' चैतन्य का ही निश्चित सत्य-स्वरूप है अर्थात् चैतन्य से पारख-पद अभेद है। जो चैतन्य देहोपाधि से भिन्न जड़ वर्ग की और उससे पृथक् अपने आपकी यथार्थ परीक्षा करता है, उसी में पारख-गुण है। "पारख गुण चेतन गुणी एक स्वरूप न आन ॥ ज० ॥"

प्रश्न—यदि परीक्षा या ज्ञान धर्म चेतन का न मानकर मन का मान लिया जाय, तो क्या दोष है ? क्योंकि प्रतीत भी होता है कि मनन-चिन्तन रूप मन जब सामने रहता है, तभी किसी वस्तु का ज्ञान होता है, निरुपाधि चेतन किसी का ज्ञान नहीं करता। जैसे सुषुप्ति में या विदेहमोक्ष आदि में'

उत्तर—जो-जो देखा सुना और भोगा गया है, उसी-उसी के संस्कार अन्तःकरण में टिके रहते हैं, उसी संस्कार (यादगीरी) को मन कहते हैं। मन का सरूप असत्य और क्षणभंगुर है, थोड़े समय के लिये प्रतीत होता हुआ भी जड़ है। चैतन्य जीव ही ने दृश्य पदार्थों को मान-मान करके मन को बना लिया है। एक संस्कार (यादगीरी) रूपी मन दूसरे संस्कार रूप मन को नहीं जान सकता। और चैतन्य देहोपाधि से भिन्न-भिन्न समय में सब स्मरण रूप मन को जानता और प्रतिकूल को मिटाता तथा अनुकूल को पुष्ट करता रहता है। इसलिए मन स्वभाव से ही असत्य, क्षणभंगुर तथा जड़ है। उसका 'ज्ञान-धर्म' कदापि नहीं हो सकता। 'ज्ञान धर्म' चैतन्य जीव ही का है।

जैसे तार बाबू के पास तारों का कनक्सन रहने से भिन्न-भिन्न देशों का समाचार क्षण-क्षण जाना करता है और यदि सब तारों का कनक्सन काट दिया जाय, तो जनैया होते हुए भी तारबाबू तार सम्बन्धी किसी बात का ज्ञान नहीं करता। और जैसे अग्नि में जलाने की शक्ति होने पर भी जब उसके पास कोई अन्य वस्तु नहीं रहती, तब वह किसको जलावे ? अतः जलाने की क्रिया त्याग कर वह स्वयं शान्त रहती है। इसी प्रकार ज्ञानरूप होते हुए भी निरुपाधि चैतन्य के पास जड़ दृश्यों का सम्बन्ध न होने से कुछ न जान-जना कर स्वयं शान्त रहता है। अतएव 'ज्ञान धर्म' चैतन्य का ही है। मन

का नहीं। दोहा—"जाते सकलो परखिया, सो पारख निज रूप। तहाँ होय रहु थीर तू, नहिं झाईं भ्रम कूप॥ त्रिजा॥

स्वयं प्रकाश प्रकाशक स्वामी।
बार बार गुरुदेव नमामी॥ ३॥

सद्गुरु साहेब स्वतः ज्ञान रूप हैं और दूसरे को ज्ञान कराने वाले हैं। अतः उन्हें बारम्बार नमस्कार है॥ ३॥

प्रश्न—स्वयं प्रकाश और प्रकाशक पद का विशेषण किनके लिये है?

उत्तर—स्वयं कहते हैं अपने को, प्रकाश का यहाँ भाव है 'ज्ञान' और प्रकाशक यहाँ ज्ञान कराने वाले को कहा गया है। यद्यपि अण्डज, पिण्डज, तथा उष्मज, इन तीन खानि के सम्पूर्ण देहधारी जीव भी स्वरूप से ज्ञान रूप ही हैं तथापि वहाँ केवल स्वार्थ और भोग ही का ज्ञान है। और सत्संग विमुख मनुष्य भी भौतिक अनुभव क्रिया में अन्य तीनों खानियों से विशेष होने पर भी केवल स्वार्थ-भोग तक के ही ज्ञानी हैं। इसलिये जड़-चेतन, बन्धमोक्ष—परमार्थ विषयक ज्ञान को प्राप्त दया, क्षमादि तथा विवेक-वैराग्यादि सद्गुण युक्त ज्ञान रूप जो स्वामी सद्गुरुदेव हैं, उन्हीं के लिये यहाँ 'स्वयं प्रकाश और प्रकाशक' पद का विशेषण दिया गया है। वे स्वतः ज्ञान रूप और अन्य जिज्ञासुवों को प्रकाश देने वाले—ज्ञानोपदेश करने वाले हैं।

३-अज्ञान मोह का निराकरण, निर्मोही राजा की कथा, भजन।

मैं अज्ञान मोह वश कामी।
सुत वित नारि केर अनुगामी ॥ ४ ॥

हे प्रभो! मैं अविद्या और आसक्ति के वशीभूत हूँ। अत्यन्त विषयासक्त हूँ। पुत्र धन और स्त्री का दास हो गया हूँ ॥ ४ ॥

प्रश्न–अज्ञान और मोह में क्या अन्तर है, और कामी या अनुगामी किसे कहते हैं?

उत्तर–जड़ क्या है, चैतन्य क्या है? मैं शरीर ही हूँ, कि शरीर कोई भिन्न पदार्थ है और मैं भिन्न हूँ? इन बातों की जानकारी न होनी ही अज्ञान है। शरीर, स्त्री, पुत्र, घर तथा धनादि क्षण भंगुर जड़ पदार्थों में आसक्ति होनी ही मोह है। जो भोग परायण है, अनेक जड़ विषय भोगों की इच्छा करने वाला है, उसे कामी कहते हैं। अनु=पीछे, गामी=चलनेवाला, अर्थात् पीछे चलने वाले सेवक (चाकर) को अनुगामी कहते हैं।

मात पिता बन्धू के मोहे।
निशि दिन रहे जगत के खोहे ॥ ५ ॥

माता-पिता और भाई-बन्धुवों के मोह में बँध कर रात-दिन संसार रूपी खाईं में पड़े थे ॥ ५ ॥

प्रश्न—क्या कुटुम्बियों में मोह नहीं करना चाहिये?

उत्तर—कल्याणार्थी को तो कदापि नहीं करना चाहिये। मोह से परमार्थ-शक्ति क्षीण हो जाती है, मन प्रपंचाकार और विषयाकार हो जाता है, जगत्-चिन्तन बढ़ जाता है। इस प्रकार साधक मोह को धारण कर जब अपनी ही हानि कर बैठेगा, तब क्या अपना कल्याण-सुधार करेगा, क्या दूसरे का ? मोह-माया से जो रहित रहेगा, वही अपना और अन्य का सुधार-उद्धार कर सकता है "निर्मोही कोई सन्त हितैषी सबके"। जो छुद्र कुटुम्ब के मोह को त्याग देगा वही "वसुधैव कुटुम्बकम्" का भाव अपने हृदय में ला सकता है। अर्थात् विश्व के समस्त प्राणियों को अपना कुटुम्ब मान कर सब के हित में रत रह सकता है। गृहस्थ सज्जनों को भी चाहिये कि आजीविका सम्बन्धी खेती, नौकरी, व्यापार सत्यता पूर्वक करके न्याय युक्त कुटुम्बियों तथा आश्रयी जनों का समता दृष्टि से पालन करें। परन्तु कुटुम्बियों का मोह करना तो "अजयागलस्तनवत्" निरर्थक ही है।

मोहासक्ति ही से मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्य के ज्ञान से शून्य होकर पक्ष-राग में पड़कर सब अनर्थ कर डालता है। इस संसार में कोई किसी का नहीं है। यह संसार धर्मशाला है, सब जीव पन्थी हैं, दो दिन के लिये सब का सम्बन्ध है। इस संसार में मानव-तन पाकर भजन-भक्ति और परमार्थ कमाना ही सार है। फिर मोहासक्त होकर और सार-वस्तु त्याग कर क्यों दुःख का पात्र बना जाय ? एक दिन सब का वियोग

अवश्य होगा। चाहे सब के रहते हुए हमीं को कूँच कर जाना पड़े और चाहे हमारे ही सामने सब कुटुम्बी एक-एक करके चल बसें। फिर अधिक मोहाशक्ति से वियोगकाल में कष्ट अवश्य होगा। अतएव प्रथम ही मोहासक्ति का त्याग करना परम् आवश्यक है। निर्मोही राजा गृहस्थ ही थे। उनका दृष्टान्त मनन करने से मोह की जड़ सहजिक खुद जाती है।

दृष्टान्त—एक निर्मोही नामक राजा था, उसका पुत्र वन में विहार करने गया। कुछ समय पश्चात् उसे प्यास लगी वह जल खोजते-खोजते एक सन्त के आश्रम पर गया और सन्त से जल माँगा, सन्तने जल दिया। पश्चात् सन्त ने पूछा—आप कहाँ के रहने वाले हैं और किनके पुत्र हैं ? राजकुँवर ने कहा—मैं अमुक देश के निर्मोही राजा का पुत्र हूँ। महात्माने आश्चर्जित-सा होकर कहा—'राजा और निर्मोही !' ये दोनों बातें विषम-सी प्रतीत होती हैं। राजा होगा तो निर्मोही नहीं होगा और निर्मोही होगा तो राजा नहीं होगा। राजकुंवर ने कहा—आप सत्य मानिये ! मेरा पिता राजा होते हुए भी निर्मोही है। आप को विश्वास न हो, तो आप जाकर परीक्षा करलें। आप के लौट आने तक मैं यहाँ आप के आश्रम पर रहूँगा। कुछ विचार कर महात्मा ने कहा—यह बात है कठिन, परन्तु असम्भव नहीं है। मनुष्य शरीर स्वतन्त्र साधन धाम है, अतः कहीं भी रह कर मनुष्य

अपना साधन कर सकता है। परन्तु मैं परीक्षा लेने अवश्य जाऊँगा ? महात्मा ने ऐसा कह कर और राजकुँवर को अपने आश्रम पर छोड़ कर निर्मोही राजा की परीक्षा लेने उसके राज भवन पर गया। प्रथम राजभवन पर राजा की चेरी (नौकरानी) मिली। महात्मा ने चेरी से कहा—

दो०—तू सुन चेरी श्याम की, बात सुनावों तोहिं।
कुँवर विनाश्यो सिंह ने, आसन पड़ो है मोंहिं ॥ १ ॥

अर्थ--ऐ राज कुँवर की सेविका ! तू सुन, मैं तेरे को एक बात सुनाता हूँ। तेरे निर्मोही राजा के कुँवर को वन में सिंह ने मार डाला है, उसका शव (लाश) हमारे आश्रम पर पड़ा है। अतः यह बात राजा को सूचित करदे ॥ १ ॥

यह सुन कर चेरी उत्तर देती है—

दो०—ना मैं चेरी श्याम की, नहिं कोइ मेरा श्याम।
प्रारब्धिहिं वश मेल यह, सुनो ऋषी अभिराम ॥२॥

अर्थ—परमार्थ दृष्टि से देखिये तो इस स्वप्नवत् संसार में न तो मैं राज कुँवर की दासी हूँ और न राज कुँवर ही मेरा कोई है। हे ज्ञानी महात्मन् ! सुनिये, यह तो पूर्व कर्मों के वश यहाँ थोड़े दिन के लिये सम्बन्ध हो गया है। फिर इस असत्य संयोग-वियोग में क्या हर्ष-शोक करना है ? ॥ २ ॥

अब महात्मा राज कुँवर की स्त्री से कहते हैं—

दो०—तू सुन चातुर सुन्दरी, अबला यौबनवान्।
देवी बाहन दलि मल्यो, तुम्हरो श्रीभगवान् ॥ ३ ॥

अर्थ---हे बुद्धिमती, रूपवती, नवयौवन सम्पन्ना अबले ! तू सुन; तुम्हारे प्रिय-पति को सिंह ने मार डाला है ॥ ३ ॥

इतना सुनकर राज कुँवर की स्त्री बोली--

दो०---तपिया पूरब जन्म की, क्या जानत हैं लोग ।
मिले कर्म वश आन हम, अब विधि कीन्ह वियोग ॥४॥

अर्थ---हे महात्मन् ! पहले जन्म की हमारी (भली-बुरी) क्या कमाई है---इसको कोई जानता है? अर्थात् नहीं जानता। (वह तो भोग उदय होने पर ही पता चलता है।) पूर्व जन्म के कर्म वश हमारा और उन (राज कुँवर) का सम्बन्ध हो गया था, अब टेढ़े कर्म ने वियोग कर दिया। इसमें शोक क्या है? ॥ ४ ॥

अब महात्मा कुँवर की माता से कहते हैं--

दो०--रानी तुमको विपति अति, सुत खायो मृगराज ।
हमने भोजन ना कियो, तिसी मृतक के काज ॥५॥

अर्थ-ऐ रानी ! तुम्हारे ऊपर बड़ी भारी विपत्ति पड़ गयी, वह यह कि तुम्हारे पुत्र को सिंह ने खा लिया। उस तुम्हारे पुत्र के आश्रम में मृतक हो जाने से मैंने भी तब से भोजन नहीं किया ॥ ५ ॥

इतना सुन कर रानी उत्तर देती है—

दोहा---एक वृक्ष डालें घनीं, पंछी बैठे आय ।
यह पाटी पीरी भई, उड़ि उड़ि चहुँ दिशि जायँ ॥६॥

अर्थ—एक पेड़ में बहुत-सी डालियाँ होती हैं, उन डालियों पर सन्ध्या समय में बहुत-से पक्षी आकर बसेरा लेते हैं। रात्रि व्यतीत होने पर इधर जब प्रकाश होने लगता है, तब प्रातः-काल जानकर उड़-उड़ करके पक्षियाँ चारों दिशा में जाने लगती हैं। तैसे इस संसार रूपी वृक्ष के घर रूपी डगाली पर पक्षी रूपी अनेक कुटुम्बी कर्म वश इकट्ठे हो गये हैं। परन्तु अपना-अपना कर्म भोग पूरा होने पर सब चल बसते हैं। फिर हे महात्मन् ? किन के लिये शोक-मोह किया जाय ? ॥६

अब महात्मा निर्मोही राजा से कहते हैं—

दोहा—राजा मुख ते गुरु कहो, पल पल जात घड़ी।
सुत खायो मृगराज ने, मेरे पास पड़ी ॥ ७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! मुख से गुरु–गुरु कहो पल-पल, घड़ी-घड़ी आयु बीती जा रही है। तुम्हारे पुत्र को सिंह ने खा लिया है। मेरे आश्रम में उसका शव पड़ा हुआ है ॥ ७ ॥

इतना सुनकर राजा उत्तर देता है—

दोहा—तपिया तप क्यों छाड़िया, इहाँ पलक नहिं शोक।
वासा जगत सराय है, सबै मुसाफिर लोग ॥८॥

अर्थ—हे तपस्वी महात्मन् ! आप अपनी साधना-तपस्या त्याग कर यह स्वप्न की कथा कहने क्यों यहाँ आये ? जितने समय में आँख की पुतली गिरती है, उतने अल्प समय भी पुत्रादि किसी के वियोग की यहाँ चिन्ता नहीं की जाती, यह संसार तो धर्मशाला है, यहाँ बहुत थोड़े दिन के लिये

सब का निवास है। सब प्राणी यात्री हैं। फिर किसके लिये मोह-शोक किया जायगा ? ॥८॥

इतने वचन सुनकर महात्मा को प्रत्यक्ष हो गया कि राजा ही नहीं बल्कि राजा के कुटुम्बी दासी तक निर्मोही हैं। पश्चात् महात्मा ने राजा से सच्ची बात कह सुनायी कि आपका पुत्र मेरे आश्रम पर जीवित उपस्थित है। मैंने केवल परीक्षार्थ यहाँ आकर ऐसा कहा है।

इस दृष्टान्तानुसार कोई भी स्त्री-पुरुष एवं मनुष्य मात्र सत्सङ्ग-ज्ञान-विचार धारण करके निर्मोही हो सकते हैं। कुछ भूले लोग मोह करना ही कुटुम्बियों को सुख देना समझते हैं। यह नितान्त भूल है। अपना धर्म समझकर समता पूर्वक यथायोग्य कुटुम्बियों तथा आश्रयीजनों का पालन करना चाहिये। परन्तु मोह करना अपने और उनके (सबके) दुःखों का कारण बनना है। कहा है—

मोह सकल व्याधिन कर मूला। तेहिते पुनि उपजै बहुशूला ॥
माया मोह कठिन है फन्दा। करे विवेक सोई जन बन्दा ॥

॥ भजन-चेतावनी ॥

थोरी जिनगानी तुम भूल न जाना,
यह तन धन का कौन ठिकाना ॥ टेक ॥
तेरी जवानी बाढ़ क पानी, सुन्दर काया होगी पुरानी।
दो दिन में बूढ़ापन आये, नैन दिखे नहिं कान सुनाये ॥
निर्बल काया होगे बेगाना ॥ यह तन० ॥ १ ॥

मात-पिता भगनी अरु भाई, सुत नारी से तेरी होगी बिदाई ।
तू किसका है कौन तुम्हारा, किसके बल गुरु भक्ति बिसारा ॥
यह दुनिया है मुसाफिरखाना ॥ यह तन० ॥ २ ॥

रात दिवस माया हित धाया, कौड़ी-कौड़ी जोड़ि बढ़ाया ।
दान किया न धर्म कमाया, मद माया में उमर बिताया ॥
आँख लगे सब होंगे बिराना ॥ यह तन० ॥ ३ ॥

घर सम्पति सुख साज सवाँरे, इक दिन उठि चले हाथ पसारे ।
सब अभिलाष आश जो तेरे, रह गये मन के मन में अधेरे ॥
छूटे तन अरु माल खजाना ॥ यह तन० ॥ ४ ॥

तज के ममता मद अरु माया, कर सत्सङ्गत अवसर पाया ।
गुरु भक्ती सन्तन सेवकाई, करके ले ले शुभ गति भाई ॥
यह तेरे हित हेतु सिखाना ॥ यह तन० ॥ ५ ॥

तेहि दुख दुखित रह्यों दिन राती ।
स्वपनेहु ध्यान नहीं कुशलाती ॥ ६ ॥

तिन कुटुम्बियों के दुःखों से मैं रात-दिन दुखी था । मुझे भूलकर स्वप्न में भी अपने कल्याण-सुधार का लक्ष्य नहीं था ॥६

प्रश्न—क्या कुटुम्बियों के दुःखों से दुखी नहीं होना चाहिये ?

उत्तर—अनुकूल वस्तु-प्राणियों की हानि-वियोग तथा अपमान-निन्दादि की प्राप्ति में मनुष्य दुःख मानता है; किन्तु विचार करने से पता चलता है कि हानि-वियोग तथा अप-

मान-निन्दादि की प्राप्ति कर्माधीन हैं और उनमें दुःख का मानना केवल अज्ञान से है। जैसे मान लीजिये, किसी मनुष्य के खेत में से सरकार नहर निकलवाना चाहती है, तब उस खेत की हानि से खेत वाले को दुःख होता है। परन्तु वह खेत बेचकर कहीं घर खरीद लेता है, तो उस घर की हानि में उसे दुःख लगता है। खेत की हानि से दुःख नहीं होता। परन्तु घर भी बेचकर यदि रुपया कर लिया, तो घर की हानि में भी दुःख न लग कर रुपये में ममता हो जाने से उसी की हानि में दुःख लगता है।

इस प्रकार जिस प्राणी में मेरी ममता है, उसी के वियोग में मुझे दुःख लगता है। परन्तु यदि उसी प्रिय प्राणी से शत्रुता हो जाय, तो उसी की हम मरण-कामना करते हैं। इसलिये अज्ञान सम्भव अहन्ता-ममता जिस वस्तु में होती है, उसी की हानि में हमें दुःख होता है। अपमान-निन्दादि की प्राप्ति को भी यदि हम पूर्व या इस जन्म के अपने ही बुरे कर्तव्यों का फल समझ लें, अथवा अपमान-निन्दा को कल्याण साधन में बल्कि उपयोगी ही मान लें। तो उसकी प्राप्ति में भी हमें कोई अधिक दुःख न होकर बल्कि पीछे से प्रसन्नता ही होगी। इसलिये विचार दृष्टि से यह सत्य प्रतीत होता है कि हानि-वियोग एवं अपमान-निन्दादि पूर्व या आज के कर्माधीन हैं और उनमें दुःख-मानना अज्ञान-सम्भव अहन्ता-ममता से ही है।

अतएव माने हुए दुःखमय घटना से न तो स्वयं दुखी

होना चाहिये और न तो दूसरे प्राणी के दुःखों से ही शोकातुर होना चाहिये। बल्कि दुःख (शोक-चिन्तादि) के कारण रूप अज्ञान की निवृत्ति के लिये स्वयं ज्ञानवान् होना चाहिये और दूसरे को सद्ज्ञान की शिक्षा देकर अज्ञान सहित दुःख की निवृत्ति करनी चाहिये। जो आप से बन सके न्यायपूर्वक दुखियों की दुःखों से निवृत्ति कीजिये और यह न करके उनके दुःखों से स्वयं शोकातुर हो जाना तो अपनी और उनकी हानि ही करनी है।

प्रश्न—स्वप्न में भी अपने कुशल का ध्यान नहीं था—इस कथन का क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ का अभिप्राय ऐसा है कि स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब तथा गृह, धनादि की मोह-ममता में फँस कर भूल कर भी कभी सत्संग न करना, मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मुझे क्या करना चाहिये ? इन बातों का विचार न करना-स्वप्न में भी अपने कुशल का न ध्यान करना है।

४-दैव का निराकरण।

सुख भ्रम हेतु बहुत अनुमाना।
देवादिक रक्षक कोइ माना ॥ ७ ॥

स्त्री, पुत्र, ऐश्वर्य, सम्पत्ति तथा कल्पित स्वर्ग लोकादि के असत्य सुखों के लिये अनेक अनुमान किया। और विशेष लोकादि वासी कोई देवादि हमारा कर्ता-धर्ता एवं हर्ता है, ऐसा अनुमान करके मान लिया ॥ ७ ॥

प्रश्न—क्या सांसारिक भोगों में या स्वर्ग लोकादि के भोगों में सुख नहीं है ?

उत्तर—कदापि नहीं, निर्णय-विवेक से स्वर्ग लोग तो मानना ही भ्रम है। जीव चारों खानियों में देह धर-धर कर शुभाशुभ कर्मों के फल सुख-दुःख पाता है। इससे भिन्न स्वर्ग-नर्क केवल कल्पित हैं। अतः स्वर्ग कल्पित तथा असिद्ध होने से तिसका सुख स्वतः असिद्ध है और इस लोक के भोगों में सुख नहीं है। जब भोगों से ही काम-क्रोधादि की वृद्धि, तृष्णा-वासना की अधिकता एवं जन्म-मरण की प्राप्ति होती है, तब भोगों को सुख रूप कैसे कहा जा सकता है ?

प्रश्न—जीव का रक्षक क्या कोई दैव नहीं ?

उत्तर—निर्णय, विवेक, युक्ति और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से असिद्ध होने से दैव भी केवल कल्पित है। योगवासिष्ठ ग्रन्थ में वसिष्ठ जीने श्रीराम जी के प्रति उपदेश देते हुए दैव का बड़े जोरों से खण्डन किया। तब श्रीरामजी ने कहा—"हे प्रभो ! आप बारम्बार दैवका खण्डन क्यों करते हैं ? वसिष्ठ जी ने कहा—बारम्बार दैव के खण्डन करने का यह अभिप्राय है कि दैव शब्द की कल्पना तुम्हारे हृदय से बिल्कुल निकल जाय। हे राम ! दैव शब्द की कल्पना किसी मूर्ख ने की है। सद्-पुरुषार्थ त्याग कर जो कल्पित दैव की कल्पना में पड़ता है, वह सब प्रकार से नष्ट हो जाता है।" आप ने कहा है "एक मूर्ख ग्वाला भी होता है वह भी किसी कल्पित दैव के भरोसे

न रह कर स्वयं अपने गौवों को चरा लाता है । पुरुषार्थ करके ही कोई जीव वे भी थे जो ब्रह्मा, विष्णु और शंकर के पदों को प्राप्त किये । बिना पुरुषार्थ के किसी दैव के भरोसे तो कुछ भी नहीं हो सकता । इसलिये हेराम ! तुम सब देवों की आशा त्याग कर सन्तों की सेवा करते हुए जगत्-सिन्धु से अपना उद्धार करो । नहीं तो कीट पतंगादि योनियों में जाने के लिये तुम भी वाध्य हो । " यहाँ न कहने योग्य बात भी वसिष्ठ जी ने कह डाला है । आप ने कहा है "जो कहे दैव ही सब करता है । उसका शिर काट लेना चाहिये ।" गोस्वामी तुलसीदास जी कृत रामायण में भी श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी से कहते हैं—

दैव दैव आलसी पुकारा । कादर मन कर एक अधारा ॥
नाथ दैव कर कौन भरोसा । शोषिय सिन्धु करिय मन रोषा ॥

अतएव कल्पित दैव की आशा परित्याग कर सद्पुरुषार्थ से अपना उद्धार करना चाहिये ।

५—माया अभिमान का निराकरण ।

देह भोग माया बहु बानी ।
त्तण सुख पाय बने अभिमानी ॥ ८ ॥

शरीर, पाँचों विषयों के भोग, सम्पत्ति और अनेक भाषाओं का ज्ञान । इन सब क्षण भंगुर सुखों को पाकर मैं अहंकारकी मूर्ति बन गया ॥ ८ ॥

प्रश्न—इस चौपाई का स्पष्ट भाव क्या है ?

उत्तर—इसका भाव यह है कि यह जीव थोड़े दिन रहने वाली काया को पाकर अभिमान कर बैठता है और कहीं इस मल-मांस पूर्ण शरीर की चमड़ी भी चिकनी हुई, सर्वांगता और जवानी भी मिली और शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध इन पाँचों विषयों की भोग सामग्री प्रयाप्त मात्रा में प्राप्त हुई तथा अधिक धन और दो-चार भाषाओं की विद्वता भी प्राप्त हो गयी, तो फिर कौन किसे पूछता है ? फिर विवेक न होने से अभिमान का ठिकाना नहीं रहता। परन्तु इस अविवेकी मनुष्य को यह भी समझना चाहिये कि इन उपर्युक्त मायाबी पदार्थों के आते-जाते कोई अधिक विलम्ब नहीं लगता।

तनिक से रोग-व्याधि में शरीर सूख जाता है। आँखे बैठ जाती हैं, गाल पिचक जाते हैं। अविद्या वश प्रतीत होता हुआ वह माधुर्य, सौंदर्य तथा लावण्य का सुखानुभव नष्ट हो जाता है। यौवन-शक्ति का पता नहीं चलता कि कहाँ चली गयी ? असाध्य व्यधियों के प्रकोप से इस शरीर के साथ मनुष्य को जीवन भर लड़ना पड़ता है। अनेक भावी दुःख रूप काल इसे अपना ग्रास बनाने के लिये आक्रमण कर रहे हैं। व्याधि, विपत्ति और जरा के मुख में पड़े हुए इस मल-मांस के पिण्ड रूप क्षण-भंगुर शरीर से (परमार्थ के अतिरिक्त अन्य) कौन-से स्थिर सुख का सम्पादन किया जा सकता है ? जल

भरे हुए कच्चे घड़े के समान क्षण-भंगुर, पानी के बुदबुदे वत् असत्य, इन्द्र-धनुष के समान चंचल, दुःख के कोट रूप तुच्छ काया का एवं इस अशुचि मांस के पिण्ड रूप मिट्टी के पुतले का भूले लोग ही अभिमान करते हैं।

अविद्या पूर्वक सत्य माने हुए शरीर का ही जब क्षण मात्र के लिये विश्वास नहीं है, तब भोगों की कौन गिनती है ? समुद्र-नदियों में लहर आते हैं, झाग और फेन उठते हैं, बहते हैं। देखने वाला देखता है—इसका कोई वास्तविक स्वरूप नहीं है। ये जल के विकार हैं, ये सब-के-सब नष्ट हो जायँगे। इसी प्रकार इस संसार-समुद्र में अनेक ऐश्वर्य भोग उपस्थित हैं। विवेकवान् देखता है और समझता है—ये असत्य हैं। तत्त्वों के विकार हैं, प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहे हैं और एक दिन ये सब-के-सब नहीं रह जायँगे। पुनः प्रवाह रूप दूसरे उत्पन्न होते रहेंगे। सगर, अज, दुर्योधन, पाण्डव, आल्हा, ऊदल, पृथ्वीराज, यहूदियों, मुगलों तथा अंग्रेजों के साम्राज्य-काल के वे सब अपरिमित ऐश्वर्य कहाँ चले गये ? बड़े-बड़े मन्दिर सुन्दर सेज, रमणीय बालायें, उत्तम परियाँ, श्रेष्ठ भोग वस्तुयें, अतुल धन-कोश, अपार सैना और शासन सब कहाँ छिप गये ? सब इन्हीं (पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु) चार तत्त्वों से उत्पन्न हुए थे और इन्हीं में समा गये।

इन्हीं झूठे पदार्थों के मोह वश लड़ाइयों में वे रजवाड़े करोड़ों मनुष्यों का वध किये और उसीराज्य की अहन्ता-ममता

में मोक्ष दायी जीवन नष्ट कर दिये। परन्तु उसी शरीर से न वे सब रजवाड़े रह गये और न वे सब भोग-पदार्थ रह गये। इसी प्रकार हम सब भी अनन्तों बार राजा-रंक धनी-निर्धन, बली-निर्बल, विद्वान् अविद्वान्, सुन्दर-कुरूप तथा स्त्री-पुरुष हो चुके हैं। चारों खानियों के शरीरों को अगणित बार धारण किये, परन्तु जैसे तब के वे सब ऐश्वर्य और जीवन हमारे निकट आज नहीं हैं। तैसे आज के भी ऐश्वर्य-भोग तथा जीवन आजकल में बिल्कुल नहीं के तुल्य होने वाले हैं। जिस घड़ी हमारा श्वास रुका, बस तुरन्त ही ये दीखते हुए ऐश्वर्य-भोग और जीवन हमारे लिये समाप्त हो जायँगे, सुषुप्ति वत् हो जायँगे। फिर ऐसे 'नहीं' पदार्थों का अभिमान करना कितना पागलपन है?

मनुष्य यदि विविध भाषाओं का ज्ञाता होने का अभिमान करता है, तो यह भी उचित नहीं है। क्योंकि यदि विद्या से नम्रता, सात्विकता, परमार्थ परायणता नहीं प्राप्त हुई, बल्कि विद्या प्राप्त कर अभिमान धारण किया, तो और भी पतन-पथ में पड़ गया। फिर यह भी विचार करना चाहिये कि संसार के सम्पूर्ण भाषाओं तथा विद्याओं का सम्यक् ज्ञाता कोई भी मनुष्य नहीं हो सकता। तब जब अनेक भाषाओं का ज्ञाता होते हुए भी किसी भाषा या शब्द-ज्ञान से हम भी अपरचित हैं। हमारे में भी अपूर्णता है, तब हम अपने से कम विद्या वालों को देखकर अभिमान क्यों

करते हैं ? हो सकता है, कोई साधारण व्यक्ति कोई साधारण शब्द का अर्थ मुझ से पूछे और उस शब्द से अपरचित होने से मैं उसका अर्थ न बतला सकूँ । फिर बुद्धिमानों को अपने मन में अभिमान के लिये स्थान देने का कहाँ अवसर है ? और भी, सभी भाषाओं एवं विद्याओं का ज्ञान जड़ अधारित अन्तःकरण सम्बन्धी ही हैं। स्वाभाविक उनका भूलना होता रहता है और रोग-व्याधि के लग जाने से तो अधिक विस्मृति हो सकती है। कहीं प्रारब्ध भोग के प्रकोप से मुख में कोई विकार हो गया तथा पागलपन आ गया, तब तो बुद्धि भी विपरीत हो जाने से तथा मुख या जिह्वा सम्बन्धी रोग की विवशता से बोलना और यथार्थ निर्णय करना कैसे हो सकेगा ? बुद्धिचातुर्य तथा वाणी की धारावाहिकता धूल में मिल जायगी । फिर यहाँ तो सब अभिमान पर पानी फिर जाता है ।

अतएव शरीर, ऐश्वर्य-भोग, सम्पत्ति तथा विद्या-वाणी आदि क्षण-भंगुर काल्पनिक सुखों को पाकर अभिमान न करके बल्कि कल्याणोपयोगी परिमित वस्तुवों का ग्रहण कर इन सब का वासना—सम्बन्ध त्यागना ही शान्तिदायी है। मद-नाशक एक भजन नीचे दिया जाता है, इसे मनन कीजिये ।

॥ कहरा—चेतावनी ॥

थोरे दिन की प्रभुताई तू न भूलो मनुवाँ ॥ टेक.॥

देखि जवानी भूल न जाना थोरे दिन की भाई ।
दो दिन में बूढ़ापन आवै खाँसी दमा सताई ॥
लाठी लैकै चलिहौ भाई ॥ तू न भूलो मनुवाँ ॥ १ ॥
नारी कै सुन्दरताई और लरिकन कै तुतराई ।
इन माया में भूल न जाना सब से होय जुदाई ॥
यक दिन छुटि हैं सगे भाई ॥ तू न भूलो मनुवाँ ॥२॥
घूस ठगी चोरी छल करिकै माया लियो बढ़ाई ।
धन के साथी कुल कुटुम्ब हैं पाप न कोई बटाई ॥
अकसर देइहौ बदला भाई ॥ तू न भूलो मनुवाँ ॥३॥
कौड़ी-कौड़ी माया जोड्यो धर्म भक्ति बिसराई ।
भिक्षुक को भिक्षा नहिं दीन्हों दुखी न भयो सहाई ॥
सारी बिरथा भई कमाई ॥ तू न भूलो मनुवाँ ॥ ४ ॥
पर उपकार धरम में अपनो देय न द्रव्य कमाई ।
व्यास देव तेहि चोर कहत हैं श्री भागवत में गाई ॥
पूछो पण्डितन से जाई ॥ तू न भूलो मनुवाँ ॥ ५ ॥
माया के मद में मत भूलो ये नश्वर दुखदायी ।
यक दिन सब धन धाम छुटैंगे कर्म शुभाशुभ जाई ॥
अपनी भोगिहौ करी कमाई ॥ तू न भूलो मनुवाँ ॥ ७ ॥
पद पा करके भूल न जाना चलो न्याय से भाई ।
नहिं तो पाँच बरस पर भैया दूसर होय चुनाई ॥
जइहौ कनवा पकरि हटाई ॥ तू न भूलो मनुवाँ ॥ ८ ॥

साधु गुरू कै कहा न मान्यो कीन्हों पाप अघाई।
यक दिन पासा पड़े काल को बात न मुख से आई॥
भूलिहैं सारी चतुराई॥ तू न भूलो मनुवाँ॥ ९॥
तुलसी सूर कबीर गुरू वो सब सन्तन जो गाई।
वही बात अभिलाष तेरे को कहते पुनः बुझाई॥
चेतो प्यारे नर-तन पाई॥ तू न भूलो मनुवाँ॥१०॥

६—गुरु और ज्ञान बिना दुःख।

यहि विधि भरम भार खर लादा।
गुरु बिन पाप बढ़्यो जग ज्यादा॥ १॥

इस प्रकार विपरीत समझ का बोझा खरवत् शिर पर रख लिया। यथार्थ सद्गुरु के ज्ञान बिना संसार में अधिक पाप बढ़ गया॥ १॥

प्रश्न—भरम-भार लादना क्या है और सद्गुरु बिना संसार में अधिक पाप बढ़ना क्या है?

उत्तर—चौपाई ४ से ८ तक का भाव लेकर यहाँ कहा गया है कि स्वरूप का ज्ञान न होना, मोहासक्ति में मूढ़ बने रहना, कामासक्त रहना, पुत्र, धन तथा स्त्री आदि का गुलाम हो जाना, सम्बन्धियों तथा जगत्-जीवों के मोह में फँस कर रात-दिन संसार रूपी गड्ढे में पड़े रहना, उन्हीं के सम्हालने में निशिवासर विकल रहना, स्वप्न में—भूलकर भी अपने कल्याण-सुधार का लक्ष्य न होना, मनःकल्पित असत्य विषय

सुखों के लिये नाना अनुमान कल्पना करके कल्पित देवादिकों का मान-मनौता करना, शरीर, ऐश्वर्य, भोग, धन तथा विद्यादि क्षणिक सुखों को पाकर अभिमानी बने रहना। इस प्रकार खानी और वाणी दोनों बन्धनों में ग्रसित होकर पूर्वोक्त जो समस्त वस्तु, भावनायें एवं क्रियायें परिणाम में दुःख जनक (तथा असत्य और क्षण-भंगुर) हैं, उन्हें सुख-दायक (और सत्य एवं अविनाशी) मानकर संसार में भ्रमते रहना ही भरमभार अर्थात् विपरीत समझ का भार लादना है।

यथार्थ परीक्षक सद्गुरु-सन्तों से परिचय न प्राप्त होने से ही अज्ञानवश संसार के गहन मोह तम में मनुष्य भूलकर कर्तव्य-अकर्तव्य के ज्ञान से शून्य हो चोरी, हिंसा, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबर्दस्ती तथा अभक्ष्य-भक्षण आदि सब अपराध कर डालते हैं सद्गुरु बिना संसार में अधिक पाप बढ़ जाना यही है।

७—चारों खानि के दुःख।

चारि खानि योनिन धरि देहा।
दुःख अपार सह्यों करि नेहा॥१०॥

संसार में आसक्त होकर मनुष्य, पिण्डज, अण्डज और उष्मज इन चार खानियों के विविध योनियों में शरीर धर-धर कर मैं अथाह क्लेशों को सहा॥ १०॥

प्रश्न—जीव चारों खानियों में शरीर क्यों धारण करता है। और शरीर धारण करना दुःख क्यों है?

उत्तर—अन्य तीन भोग खानियों में भ्रमण करके जब जीव इस मोक्ष-प्रद नर खानि में आता है, तब यहाँ के स्त्री, पुत्र, गृह धन तथा शरीरादि मायावी पदार्थों को देख कर अभिमान करके उनमें आसक्त हो जाता है। मायासक्ति वश सत्संग एवं सद्गुरु-शरण न ग्रहण करने से ज्ञान-विहीन मनुष्य अनेक शुभाशुभ सकाम कर्म करके पुनः नाना योनियों में भ्रमने के लिये बाध्य हो जाता है। इसी प्रकार जीव चारों खानियों में भ्रमता रहता है।

देह धारण करने से गर्भ दुःख, जन्म दुःख, बाल्य-कालिक दुःख, यौवन-प्रमाद एवं विषयान्धता का दुःख, अधेड़ अवस्थाके चिन्तादि का दुःख, वृद्ध अवस्था के निर्बलतादि का दुःख, रोग-व्याधि, प्रिय-वियोग, दरिद्रता, धनान्धता का दुःख, मरण का दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, मानसिक चिन्ता-शोकादि का दुःख, शीत धूप भूख-प्यास लज्जा-घृणादि का दुःख, अन्य तीन खानियों में नाना देह धारण करने का दुःख, एक जीव द्वारा एक का सताये जाना, चबाये जाना, जलाये जाने आदि का दुःख, इत्यादि। देहोपाधिक त्रिविधि दुःखों की जहाँ तक शाखा-प्रशाखायें हैं, उनका पूरा वर्णन करने के लिये वाक्यों की रचना ही नहीं की जा सकती है। येही सब शरीर धारण करने में दुःख हैं।

८—पूर्व पुण्य की महत्ता ।

सुकृत पूर्व संचित शुभ जागे ।
नर तन पाय गुरू मग लागे ॥११॥

संचित रहे हुए पूर्व नर जन्मों के अच्छे कर्मों के कल्याणकारी संस्कार आज जग गये । जिससे मोक्षदायी उत्तम नर-शरीर पाकर सद्गुरु के स्वरूपज्ञान, कल्याण-पन्थ में लग गये ॥ ११ ॥

प्रश्न—पूर्व के शुभ संचित जगना क्या है और उसके प्रभाव से आज गुरु-मग में लगने का क्या भाव है ?

उत्तर—यह जीव अनादिकाल से प्रवाह रूप असंख्यों वार शरीर धारण ही करते आ रहा है । रह गया कुछ हाल नर-जन्मों में जब यह रहा तब सुसंग—सुसमझ वश इस जीव से जो दया, दान, क्षमा, परोपकार, सन्त-सेवा, भक्ति, विवेक, विचारादि रूप शुभ कर्म बन पड़े, उन्हीं के शुभ संस्कार अन्तःकरण में संचित अर्थात् एकत्र होते रहे । उन्हीं शुभ संचितों के प्रभाव से आज नर-जन्म प्राप्त होने पर स्वाभाविक सात्विकता और परमार्थ सत्संग में उत्साह-प्रेम बढ़ा और सद्गुरु के ज्ञान-आचरण धारण रूप कल्याण-पन्थ में यह जीव लग गया ।

प्रश्न—पूर्व के अधिक शुभ संचित न होने से आज मनुष्य कल्याण-पन्थ में क्या नहीं लग सकता ?

उत्तर—क्यों नहीं लग सकता ! सज्जन-सन्तों के सङ्ग

से शुद्ध समझ प्राप्त कर सद्पुरुषार्थ द्वारा मलीन संस्कारों को मिटा कर शुभ संस्कार बना सकता है। कल्याण-पन्थ में लग सकता है। यहाँ तक कि अच्छे संग, दृढ़ समझ वैराग्य और विरह-भावना पूर्वक निरन्तर साधन से इसी जन्म में मोक्ष लाभ प्राप्त कर सकता है। नर-तन मोक्ष-भूमिका है, मनुष्य स्व-तन्त्र है। सद्पुरुपार्थ से कल्याण प्राप्त कर लेने में तनिक भी शंका नहीं है।

४—गुरु-कृपा स्वरूप का बोध।

गुरु की कृपा चीन्ह निज रूपा।
निज से भिन्न जगत भ्रम कूपा ॥१२॥

सद्गुरु की दया से अपने चैतन्य स्वरूप का परिचय प्राप्त हुआ। और यह जानने में आया कि अपने चैतन्य स्व-रूप से यह दृष्टि गोचर सम्पूर्ण संसार पृथक् है, विपरीत बुद्धि उत्पादक और दुःखों में डुबाने वाला है ॥ १२ ॥

प्रश्न—गुरु की कृपा से अपने स्वरूप को पहचानना क्या है और अपने स्वरूप से जगत् भिन्न तथा भ्रमकूप रूप कैसे है ?

उत्तर—सर्व परीक्षक विवेक सम्पन्न सद्गुरुदेव जब मिलते हैं, तब मनुष्य को पात्र (जिज्ञासु) समझकर उसके बोध अर्थ कहते हैं—"हे मनुष्य ! जिस अखण्ड तृप्ति, दुःख-द्वन्द्व रहित सदा एकरस अविनाशी वस्तु की तुम अन्यत्र खोज करते हो, वह तुम्हारे हृदय में ही सदैव स्थित तुम्हारा निश्चित सत्य

स्वरूप ही है "जेहि खोजत कल्पौ गया, घटहि माहि सो मूर। बाढ़ी गर्भ गुमान ते, ताते परि गयी दूर ॥ बी०सा० २८२ ॥" अर्थात् वह वस्तु तुम ही हो। तुम शुद्ध चैतन्य ही स्वरूप से अखण्ड तृप्त हो। दुःख-द्वन्द्व रहित हो, अजर, अमर, एकरस तथा अविनाशी हो। उस अपने दिव्य स्वरूप को भूलकर ही परिणामी, दुःख पूर्ण, विजाति, अपवित्र शरीर को अपना स्वरूप मान कर नाना कर्म-कीचड़ में डूब कर वासना वश रहँट-चक्र में घूम-घूम कर त्रिविधि तापों के भागी हो रहे हो। मन-अन्तःकरण, प्राण श्वासा, स्थूल-सूक्ष्म शरीर सहित यह पंच विषय पिण्ड-ब्रह्माण्ड रूप सम्पूर्ण संसार तुम्हारे चैतन्य स्वरूप से सर्वथा और सर्वदा पृथक् है।"

इस प्रकार सद्गुरु की शिक्षा रूप दया दृष्टि से अपने स्वरूप को पहचानना है। अपने स्वरूप में जगत् न होने से स्वरूप से जगत् पृथक् है और अनादि अविद्या-विषयाध्यास वश दुःखपूर्ण, क्षण-भंगुर, जड़ पदार्थों में सत्य और सुख बुद्धि होकर संसार में मनुष्य पतन होता रहता है। इसीलिये जगत् भ्रम कूप अर्थात् विपरीत बुद्धि उत्पादक दुःखों में डुबाने वाला कहा गया है।

१०—गुरु की महत्ता, भ्रम निराकरण।

गुरु बिन ब्रह्मा विष्णु महेशा।
जानि न पाये निज पद लेशा ॥ १३ ॥

सर्व परीक्षक विवेकी सद्‌गुरु के बिना विधि, हरि, शंकर भी अपने यथार्थ स्वरूप को किञ्चित् भी नहीं जान सके। विश्राम सागर में कहा भी है--

दोहा—"ब्रह्मा विष्णु महेश से, जो अधिकी होइ जाय।
गुरु बिन भव निधि ना तरै, कहत निगम अस गाय॥"

गोस्वामी तुलसी दास जी भी कहते हैं—

"गुरु बिन भव निधि तरै न कोई।
जो विरंचि शंकर सम होई ॥१३॥"

जो जाने सो गुरु की शरणा।
गुरु बिन कबहु न भव से तरणा ॥१४॥

जो अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान भलीभाँति प्राप्त किये, वे सद्‌गुरु की अधीनता ही में प्राप्त किये। इसलिये बिना सद्‌गुरु ज्ञान के कभी भी संसार-सागर से कोई तर नहीं सकता॥ १४ ॥

प्रश्न—बिना सद्‌गुरु-शरण के कोई संसार-सागर से तर नहीं सकता—ऐसा होने पर भी सब मनुष्य गुरु-शरण क्यों नहीं ग्रहण करते ?

उत्तर—अनादि सिद्ध अविद्या वश अधिक मनुष्य माया में भूले हैं। स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य से इन्द्रिय-सुख भोगना ही वे जीवन लाभ माने हैं। यह शरीर और जीवन से परे वे कुछ समझते ही नहीं। शरीर की अनित्यता, भावी दुःखों का

आक्रमण, परलोक तथा पुनर्जन्म का उन्हें यथार्थ भाव युक्त ज्ञान ही नहीं है। जीव-देह, कल्याण-अकल्याण समझते ही नहीं। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान से शून्य, इन्द्रिय-विलासिता को ही जीवन लाभ मानने से, सत्संग ज्ञान और सद्गुरु-शरण की कोई श्रेष्ठता न समझने से सब मनुष्य गुरु-शरण नहीं ग्रहण कर पाते। जो भाग्यवान् इसकी श्रेष्ठता को समझते हैं, वे ही ग्रहण करते हैं।

पारख गुरु बिन सबहिं बिराने।
जगत् जाल माया लपटाने ॥१५॥

पारखी सद्गुरु से परिचय बिना भूले हुए सभी मनुष्य विजाति सांसारिक माया जाल में फँसे हुए हैं ॥ १५ ॥

प्रश्न—पारखी सद्गुरु किसे कहते हैं और उनके परिचय बिना मनुष्यों का सांसारिक माया जाल में फँसना क्या है ?

उत्तर—सत्य-असत्य, जड़-चेतन, बन्ध-मोक्ष के यथार्थ परीक्षक और सत्योपदेशक को पारखीगुरु कहते हैं। ऐसे सत्यासत्य परीक्षक सद्गुरु के द्वारा यथार्थ स्वरूप-ज्ञान पाये बिना अधिक मनुष्यजीव मायावी क्षण-भंगुर पदार्थों में अथवा देवी-देवादि एवं लोक-वेदादि रूप सांसारिक माया जाल में आसक्त हैं। गुरु-ज्ञान बिना यही जगत्-जाल में फँसना है।

नाना साधन योग अचारा।
बिन गुरु ज्ञान सकल खर भारा ॥ १६ ॥

विविध साधन, योग और आचार करना—बिना सद्‌गुरु स्वरूप-ज्ञान के—सब गधे पर बोझा लादने वत् निरर्थक है ॥ १६ ॥

प्रश्न—साधन, योग तथा आचार किसे कहते हैं और गुरु-ज्ञान बिना ये सब खर भार वत् निरर्थक क्यों हैं ?

उत्तर—जलशयन लेना, पञ्चअग्नि तापना, उर्ध्वबाँहु रहना, अन्न त्याग कर जलाहार, फलाहार धारण करना, एकान्त-सेवन, मौन वृत्ति तथा नाम-जप आदि—साधन हैं। योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ (योग १।२) अर्थात् यम, नियम, प्राणायामादि अष्टाङ्ग साधन युक्त चित्त की वृत्तियों का सर्वथा रुक जाना योग है। इसके अतिरिक्त हठयोगादि में अनेक प्रकार के कष्ट साध्य अंग हैं—यही योग है। 'आचार' का यहाँ ऐसा अभिप्राय है कि—बहुत-से जल से त्रिकाल स्नान करना, सेरों मिट्टी से हाथ-पैर धोना, टोपी, कुर्ता, जूतादि उतार कर भलीभाँति सफाई से चौका के भीतर भोजन करना, शूद्र की परिछाईं न काड़ना, इत्यादि ।

जैसे गधा उत्तम-उत्तम वस्तुवों का बोझा लादता है; परन्तु उन वस्तुवों से उसे कुछ लाभ नहीं मिलता, अन्त में उसे घास-फूस ही खाना पड़ता है। इसी प्रकार विवेकी सद्‌गुरु से अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान पाये बिना उपरोक्त साधन, योग तथा आचारादि से वास्तविक ध्येय (मोक्ष) की पूर्ति नहीं होती ।

प्रश्न—सद्गुरु से स्वरूप-ज्ञान प्राप्त होने पर क्या पूर्वोक्त साधन, योग तथा आचारादि उपयोगी हैं ?

उत्तर—कुछ अंग उपयोगी हैं, जैसे—एकान्तवास, वाक्य संयम, मन का निरोध, जल-मृतकादि द्वारा शरीर, घर, भूमिका, पात्र, पट आदि की स्वच्छता। कुर्ता, टोपी तथा जूतादि उतार कर भोजन करना, इत्यादि। बाकी जल शयनादि, हठयोगादि एवं शूद्रादि की परिछाईं न काड़ना आदि निरर्थक बातें त्याज्य हैं।

तीरथ व्रत देव कोइ माने।
भूत प्रेत हिंसा कोइ ठाने॥१७॥

गुरुज्ञान बिना कल्पित स्वर्गादि सिद्धि के लिये कोई तीर्थ भ्रमण करते, कोई व्रत उपवासादि करते, कोई कल्पित स्वर्ग लोकादि वासी देवता मानकर उपासना करते। कोई भूत-प्रेत मानते और उनके शान्त एवं अनुकूल रहने के लिये जीव-वध रूप हिंसादि पाप कर्म करते हैं॥ १७॥

प्रश्न—क्या किसी को तीर्थ, व्रत तथा देवोपासनादि नहीं करना चाहिये ?

उत्तर—जब तक पारखी सद्गुरु नहीं मिलते और स्वरूप-ज्ञान नहीं प्राप्त होता है, तब तक तिन्हें तीर्थ-भ्रमण, व्रत-उपवासादि तथा कल्पित देवादि मानकर उनकी उपासना करना धर्म-विरुद्ध नहीं है। क्योंकि इन सत्कर्मों से अन्तःकरण शुद्धि

या लौकिक सुख की प्राप्ति होगी ही। परन्तु कल्पित तामसी भूत-प्रेतादि मान कर हिंसादि पाप कर्म तो किसी को भी नहीं करना चाहिये और जब यथार्थ गुरु मिल जायँ। अथवा स्वस्वरूप का बोध हो जाय, तब बाह्य तीर्थ, व्रत तथा कल्पित देवोपासना का भी त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि यथार्थ गुरु भक्त के लिये तो सत्संग ही श्रेष्ठ तीर्थ है, गुरु-आज्ञा ही महान व्रत है और गुरु की उपासना ही कल्पित सब देवो-पासना से सर्वोत्तम है। कहा है—सवैया—

"तीर्थ वही जो कि पाप से तारत, पाप वही मन मध्य विकारा।
सो सत्संगत तीरथ सत्य है, दुरगुण नाशत लागै न बारा॥
व्रत वही जो बुरे कर्म त्यागहु, और जो व्रत सो झूँठ पसारा।
पूजा वही जो कि चेतन पूजत, जाप वही गुरु प्रेम न टारा॥

यहि विधि सत रज तम गुण नाना।
करम विवश योनिन भरमाना॥ १८॥

इस प्रकार नाना प्राणी सत, रज और तम—इन त्रिविधि गुणों में आसक्त होकर और कर्म-बन्धनों के वशीभूत होकर-दुःख-मय नाना योनियों में भ्रमते रहते हैं॥ १८॥

प्रश्न—इस चौपाई का स्पष्ट भाव क्या है?

उत्तर—चौपाई १६ औ १७ का भाव लेकर इस अठारहवें चौपाई में कहा गया है कि साधन, योग तथा आचारादि करनेवाले मुक्ति इच्छुक सतोगुणी और कल्पित स्वर्ग सुख

प्राप्ति-अर्थ तीर्थ, व्रत एवं देवोपासनादि करनेवाले रजोगुणी और लौकिक स्वार्थ की सिद्धि हेतु कल्पित भूत-प्रेत, मशान, जिन्द, चुड़ैल, डाकिनी-शाकिनी, नट्टवीर, दुर्गा, दानवी, भैरवी, भैरव, वटुक, काली तथा दिउहार आदि मान कर बकरी, मुर्गी, सूअर आदि वध करके हिंसादि पाप कर्म करने वाले महान (घोर) दुःख के पात्र तमोगुणी। ये सब मनुष्य-प्राणी सकाम त्रिगुणों में आसक्त होकर नाना कर्म करके अज्ञान वश विविध दुःख पूर्ण योनियों में भ्रमते रहते हैं।

प्रश्न—क्या भूत-प्रेतादि की योनि संसार में नहीं है ?

उत्तर—बिल्कुल नहीं। छोटी-सी-छोटी खानि के भी वंशज (कुटुम्बी) दिखलाई पड़ते हैं, भूत-प्रेत के कुटुम्ब कहीं नहीं दीख पड़ते। लोग कहते हैं—"भूत-प्रेत कभी भैंसा बन जाते कभी हाथी।" विचार करना चाहिये—"भैंसा-हाथी बन जाने के पश्चात् तत्त्वों के परमाणु (द्रव्य) रूप शरीर होने से वह सब के देखने में क्यों नहीं आना चाहिये ? उसका शरीर कहाँ लोप हो जाता है ? जैसे आम आदि के बीज जल-मृतका का संयोग लेकर और वृक्षाकार होकर जब तक बड़े नहीं हो जाते, तब तक वे फल-फूल या कोई वस्तु बनाने के लिये काष्ट आदि नहीं दे सकते। तैसे एक शरीर से निकला हुआ जीव सूक्ष्म शरीर सहित किसी खानि में जाकर देह धर कर और हृष्ट-पुष्ट होकर जब तक समर्थ नहीं हो जाता, तब तक वह कोई काम करने में कैसे समर्थ होगा ? लोग कहते

हैं "मनुष्य पाप कर्म वश मर कर भूत हो जाता है और वायु रूप अदृश्य होकर सब को सताता है।" यह कोरी कल्पना है। बिना स्थूल शरीर के कुछ भी बाह्य क्रिया करने में जीव असमर्थ है। इसलिये भूत, प्रेत, काली, भवानी आदि नहीं होते, न इन्हें मानना चाहिये, न इनको मानकर डरना चाहिये और न हिंसादि पाप-कर्म करना चाहिये। नहीं तो इसका परिणाम बड़ा दुःखकर होगा।

११—वृक्ष वनस्पतियों में जीवों का निराकरण।

मानुष पशु पक्षी अरु कीड़े।
सहे अनन्त देह धरि पीड़े॥ १९॥

मनुष्य, पशु, अण्डज तथा उष्मज—इन चारि खानियों में अगणित शरीर धारण करके अधिक कष्ट सहे॥ १९॥

प्रश्न—अन्य अनेक मतावलम्बी मनुष्य खानि को पिण्डज खानि में मिलाकर पिण्डज, अण्डज, उष्मज और चौथी खानि स्थावर माने हैं। परन्तु आप मनुष्य खानि को भिन्न स्थापन कर मनुष्य, पिण्डज, अण्डज और उष्मज इस प्रकार आप चार खानि मानते हैं। इस अन्तर का क्या तात्पर्य है?

उत्तर—अन्य खानियाँ भोग भूमिका हैं, अतः वे निकृष्ट हैं और मनुष्य खानि कर्म भूमिका होने से सर्वोत्तम है। यहाँ बन्ध-मोक्ष सम्बन्धी कार्य का सम्पादन होता है। इसलिये पशु रूप पिण्डज खानि में इसे न मिलाकर सबसे भिन्न मनुष्य

खानि माना गया है और मनुष्य खानि से भिन्न पिण्डज खानि (पशु आदि) को माना गया है। और अन्य मतों में जो स्थावर (वेलि, वृक्ष, वनस्पति तथा पर्वतादि) में जीव मानकर उसे खानि निश्चय किये हैं। वह जीवों के गुण-लक्षणों का विचार करने से स्थावर (वेलि, वृक्ष, वनस्पति तथा पर्वतों) में जीवों का निवास न सिद्ध होने से स्थावर खानि नहीं सिद्ध होती है। इसलिये वेलि-वृक्षादि चेतन जीवों के निवास से रहित बीजी असर अनुसार तथा केवल जड़ तत्त्वों के गुण, धर्म, शक्ति से उत्पत्ति, स्थित, क्षय तथा वृद्धि को प्राप्त, निश्चय से जड़ रूप ही हैं। कोई चैतन्य युक्त खानि नहीं हैं। अतएव जहाँ प्रत्यक्ष गुण-लक्षण संयुक्त जीवों का निवास देखा जाता है; वहाँ "मनुष्य, पिण्डज, अण्डज तथा उष्मज" इन चार खानि को ही चैतन्य निवास संयुक्त स्व-सिद्धान्त में खानि माना गया है।

प्रश्न—जिस खानि में जीवों का निवास है, वहाँ का क्या लक्षण है और स्थावर (वेलि, वृक्ष, वनस्पति तथा पर्वतादि) चेतन रहित कैसे हैं ?

उत्तर—जिस खानि में जीवों का निवास है वहाँ देह-धारी जीवों को—

(१) अन्तर-बाह्य ज्ञान रहता है।

(२) इच्छायुक्त क्रिया रहती है।

(३) हानि-लाभ समझ कर चलना-फिरना तथा त्याग-ग्रहण करना रहता है।

(४) अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थित में सुख-दुःख मानना रहता है।

(५) कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ रहती हैं।

(६) अन्तःकरण (मन) रहता है।

(७) जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें रहती हैं।

(८) भोजन, छाजन, मैथुन, भय, निद्रा और मोह ये छः कर्मों के संस्कार और कर्म रहते हैं। (उष्मज खानि में तो मैथुन कर्म नहीं रहता, परन्तु स्पर्श संस्कार वहाँ भी रहता है। परस्पर कीड़े एक-का-एक स्पर्श करते, कोमल भूमिका के स्पर्श को अनुकूल मानते, इत्यादि।)

(९) निर्वाह के लिये क्रिया रहती है।

(१०) अनुकूल-प्रतिकूल में राग-द्वेष रहता है, इत्यादि। उपर्युक्त बातें मनुष्य, पिण्डज, अण्डज और उष्मज इन चारों खानि में ही हैं। स्थावर, वृक्ष तथा वनस्पति आदि में ये बातें एक भी नहीं हैं।

(१) वृक्ष-वनस्पतियों में भोजन करने के लिये न मुख है, न मल-त्याग करने के लिये गुदा द्वार है और न रूप देखने के लिये नेत्र है, न रस ग्रहण करने के लिये जिह्वा और न स्पर्श

ग्रहण करने के लिये त्वचा[1] है और न शब्द ग्रहण करने के लिये कान ही है। इस प्रकार कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का इनमें सर्वथा अभाव है।

(२) कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय न होने से देखना, सुनना तथा भोगना और बाह्य ज्ञान तथा कर्म वृक्षादि में नहीं हो सकते।

(३) बाह्य-ज्ञान और कर्म तथा देखना, सुनना एवं भोगना न होने से कोई संस्कार वृक्षादि में न टिकेगा।

(४) बाह्य-संस्कार बिना स्थावर (वृक्ष वनस्पति आदि) में अन्तःकरण (मन) नहीं सिद्ध होगा।

(५) इस प्रकार इन्द्रिय-संस्कार अन्तःकरण (मन) के बिना किसी भी देहों में प्रकृतस्थ (जड़ाध्यासी) जीवों का प्रारब्ध भोग संयुक्त निवास विवेक से सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि अमुक्त प्रकृतस्थ जीवों का सूक्ष्म शरीर से सदैव सम्बन्ध बना रहता है। इसलिये वे जहाँ-जहाँ शरीर धारण करते हैं, तहाँ-तहाँ मन-वासना, इन्द्रिय-शरीर लेकर रहते हैं।

(६) उपर्युक्त निर्णय से अन्तःकरण-इन्द्रिय संयुक्त चेतन जीवों का निवास स्थावर में न होने से बाह्य-ज्ञान-क्रिया की

१—देहधारियों के त्वचा में प्रतिकूल स्पर्श हो जाने से त्वचा कम्पित हो जाती है। और अनुकूल स्पर्श होने से त्वचा पर सुखानुभव का भाव दर्शाता है। वृक्षादिकों में यह भाव न होने से वृक्षों के छिलकों को त्वचा नहीं माना जा सकता।

वृक्षादि में प्रथम ही असिद्धि हो चुकी। फिर बाह्य-ज्ञान-क्रिया बिना जागृत अवस्था स्थावर में कहते कैसे बनेगा? जागृत अवस्था न होने से, बाह्य संस्कार के बिना स्वप्न अवस्था किसकी होगी? और जागृत एवं स्वप्न अवस्था की अपेक्षा बिना केवल सुषुप्ति अवस्था मानना किसी विवेकवान् का मत नहीं सिद्ध हो सकता। क्योंकि जागृत अवस्था के बाह्य-ज्ञान-क्रिया रूप परिश्रम से ही इन्द्रिय-अन्तःकरण श्रमित होकर (और अवस्था के प्रभाव से प्रभावित होकर) सुषुप्ति अवस्था आती है। इसलिये जागृत की अपेक्षा से ही सुषुप्ति अवस्था मानी जायगी; बिना जागृत अवस्था के नहीं। और अर्ध-सुषुप्ति रूप स्वप्न में भी जागृत अवस्था के ज्ञान-क्रिया का ही केवल मन में चित्र दिखलाई देने से स्वप्न अवस्था भी जागृत अवस्था की अपेक्षा से है, बिना जागृत के नहीं। इसलिये जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थायें स्थावर में नहीं हैं।

(७) भोजन, छाजन, मैथुन, भय, निद्रा और मोह ये छः पशुकर्म भी स्थावर-वृक्षादि में नहीं हैं। किसी के भयवाली क्रिया से भय नहीं मानता। मान लीजिये कोई कुल्हाड़ी लेकर वृक्ष को काटने आया, एक कुल्हाड़ी मारा भी पृथ्वी में गड़ा होने से यदि भाग नहीं सकता, तो कम-से-कम थर्राना-चिल्लाना चाहिये। भय से डगाली-पात रूप अपने अंगों को इधर-उधर हिलाना या झुकाना चाहिये, परन्तु कुछ भय नहीं। अपने को दुखित होने का कोई भाव नहीं।

(८) किसी भी प्राणधारी की देह के अंगों को काट-काट कर यदि पृथक्-पृथक् कर दिया जाय, तो वे सब अंग जीवित रह कर पूरा आकार-प्रकार संयुक्त सम्पन्न-सुदृढ़ नहीं रह सकते। परन्तु वृक्षों में कलम काट कर पृथक्-पृथक् लगा देने से सब लग जाते हैं। बहुत से वृक्ष-लतों की डगालियाँ और पत्ते काट-काट कर पृथक्-पृथक् अधिक रूप से लगाये जाते हैं। और वे सब-के-सब लग जाते हैं। यदि वृक्ष-लतावों में जीव होवें, तो एक जीव किन-किन पत्तों-डालियों और कलमों में चला गया ?

(९) किसी भी देह से जीव के निकल जाने पर तुरन्त ही उस देह में कुरूपता आ जाती है; परन्तु वृक्षादि के काट देने पर तुरन्त वह कुरूप नहीं होता (कुम्हलाता नहीं) क्योंकि उसको हरा-भरा रखने वाला जल-तत्त्व अभी उसमें विद्यमान है। ज्यों-ज्यों जल-तत्त्व निकलता है, त्यों-त्यों वह सूखता है।

उपर्युक्त निर्णयों से स्थावर (बेलि, वृक्ष, वनस्पति और पर्वतादि) में जीव नहीं हैं। जैसे केवल तत्त्वों के धर्म, गुण, शक्ति तथा क्रियादि से कङ्कड़ बढ़ जाते हैं और जैसे तेल-बत्ती अग्नि आदि के सम्बन्ध से दीपक में ज्योति बनती रहती है। तैसे पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु इन चार तत्त्वों के धर्म, गुण, शक्ति तथा क्रियादि से और बीज-प्रभाव से वृक्ष-वनस्पति आदि की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं क्षय होना लगा रहता है। उनमें जीव नहीं होते।

प्रश्न—'सहे अनन्त देह धरि पीड़े' इस पद का क्या भाव है ?

उत्तर—मनुष्य, पशु, पक्षी एवं कृमि-कीटादि योनियों में अनादिकाल से यह जीव अगणित शरीर धारण करके अपार दुःखों को भोगा, जिसका थोड़े वाक्यों में इस प्रकरण के १० वें पद में चित्रण कर आये हैं, वहाँ से मनन कर लेना चाहिये ।

१२—गुरु बिना मोक्ष नहीं, गुरु शरण की आवश्यकता ।

गुरु बिन सो दुख छुटत न कबहीं ।
बार बार भव धार में बहहीं ॥२०॥

यथार्थ परीक्षक सद्गुरु बिना पूर्वोक्त सम्पूर्ण कष्ट कभी भी नहीं छूटते हैं । बारम्बार जन्मादिक प्रवाह में जीव बहते ही रहते हैं ।

प्रश्न—सद्गुरु बिना दुःख क्यों नहीं छूटता ?

उत्तर—जब तक विवेक-वैराग्यादि सम्पन्न सद्गुरुदेव मिलते नहीं, तब तक यथार्थ ज्ञान होता नहीं, जब तक यर्थाथ ज्ञान होता नहीं, तब तक विषय भोग और सांसारिक माया जाल तथा देहाभिमान का अभाव होता नहीं और जब तक विषयासक्ति, मायाजाल तथा देहाभिमान का अभाव होता नहीं, तब तक वासना मिटती नहीं । जब तक वासना मिटती नहीं, तब तक स्वस्वरूप की दृढ़ स्थिति प्राप्त होती नहीं और दृढ़ स्वरूप स्थिति की प्राप्ति हुए बिना जन्मादिक दुःख नहीं छूट सकते । इसलिये सद्गुरु के बिना दुःख नहीं छूटता ।

प्रश्न—भवधार किसे कहते हैं और बार-बार उसमें बहना क्या है ?

उत्तर—भव कहते हैं जन्म को, भव कहते हैं संसार को, भव कहते हैं विषय वासना को। धार कहते हैं प्रवाह को। तात्पर्य यह है कि जगत्-वासना वश पुनः-पुनः संकट युक्त जन्म ग्रहण करना, प्रारब्ध कर्म भोगार्थ पुनः-पुनः जगत्-नगर में दुःखमय क्रीड़ा करना और भोगासक्ति वश क्लेशपूर्ण विषय-वासनावों में डूबते रहना—यही बार-बार भवधार में बहना है।

याते चहै जो निज कल्याना।
सब तजि गुरु पद गहै सुजाना ॥२१॥

इसलिये यदि चतुर मनुष्य अपना दुःखों से मोक्ष चाहे, तो सब कल्पना, भावना एवं अभिमान, कपट तथा आसक्ति त्याग कर सद्गुरु की चरण-शरण में जाकर स्वरूपज्ञान को प्राप्त करे ॥ २१ ॥

प्रश्न—अपना मोक्ष चाहने वाला चतुर मनुष्य सब तज कर गुरु-शरण ग्रहण करे, इस कथन का स्पष्ट भाव क्या है ?

उत्तर—नीतिकारों ने लिखा है कि यदि पड़ोसियों के सुख के लिये घर का त्याग कर देना पड़े तो त्याग देना चाहिये और ग्राम वालों के सुख के लिये यदि पड़ोस को त्यागना पड़े तो त्याग देना चाहिये तथा देश भरके सुख के

लिये यदि ग्राम को त्यागना पड़े तो ग्राम को त्याग देना चाहिये और यदि अपने कल्याण के लिये सारे संसार का त्याग कर देना पड़े तो त्याग देना चाहिये। इसलिये ज्ञात होता है कि इस स्वप्नमय संसार में ठहरे हुए अल्पकालीन जीवन में जो अपना कल्याण चाहता है, वही चतुर है। क्योंकि प्राण-वियोग काल में यहाँ की कोई वस्तु साथ में नहीं जाती। जो अपना उद्धार किये रहता है, उस दिन उसी की बाजी लगी रहती है। इसलिये जो अपना कल्याण चाहता है, उसको इस चौपाई में चतुर कहा गया है।

सब तज कर गुरु-शरण में जाना यह है—

अपने माने हुए शरीर का, शरीर की सुन्दरता का, जवानी का, विद्या का, स्त्री-पुत्र घर-धन आदि का, बुद्धि का, सेवक-पने का, दान शीलता आदि का अभिमान भलीभाँति त्याग देवे। सद्‌गुरुदेव तथा सन्त-महात्मावों से व्यवहार में सर्वथा कपट का त्याग करे। चुगली, निन्दा, मिथ्याभाषण, परदोष-दर्शन, ईर्ष्या, मद तथा विषयासक्ति आदि सर्व दुराचरणों-दुर्गुणों का सर्वथा त्याग करे। सद्‌गुरुदेव से शीघ्र ही परमार्थ (साधु) भेष, उत्तम-उत्तम वस्तुयें, उत्तम-उत्तम वस्त्र, रुपया-पैसा, सेज-सामग्री, मन अनुकूल रहन-सहन देश-समाज-प्राणी की कामना रूप देह सुखाध्यास को सर्वथा त्याग देवे। अपनी मनसा मिटा कर सद्रहस्य सम्पन्न वैराग्यवान् सद्‌गुरु की आज्ञानुसार ही अपना सब व्यवहार रखे। गुरु ज्ञान के अति-

रिक्त अपना मत कहीं भी जगत् में न रखे। खानी-वाणी कृत सर्व कल्पनावों को त्याग देवे। सत्यासत्य परीक्षक वैराग्यशील श्रीसद्गुरुदेव के समान संसार में कोई भी श्रेष्ठ, उद्धारक, पूज्य तथा उपास्य नहीं है, ऐसा जान कर कल्पित सब देवोपासनावों का त्याग करे। जैसे छः महीने के शिशु को माता ही सब भाँति से आधार है, तैसे अपने को अबोध शिशु मानकर और सद्रहस्य सम्पन्न वैराग्यशील सद्गुरुदेव को ही धर्म के माता-पिता जानकर और अपने सर्व अभिमान बल को मिटा कर सद्गुरुदेव का आधार लेवे। अथवा गुरु—विवेकानुसार कहीं भक्त-सज्जनों में विचरते हुए स्वरूपस्थिति-साधन में तत्पर रहे। यही सब तज कर गुरु-शरण ग्रहण करना है।

प्रश्न—इस संसार में गुरु बन कर घूमने वाले बहुत हैं, फिर किनको गुरु समझा जाय, गुरु का यथार्थ स्वरूप क्या है?

उत्तर—यह बात नीचे चौपाई २२ से २७ तक बताई जाती है ध्यान पूर्वक सुनिये!

१—जहाँ सद्गुरुदेव को सर्वश्रेष्ठ-पूज्य वर्णन किया गया है, वहाँ विवेकी सन्त को भी समझ लेना चाहिये। कहा भी है—"पारखी गुरू नहीं कुछ भेदा। और सकल जग कीन निषेधा॥ निर्णय सार" "एक रूप गुरु साधु का, दूजा काल को फन्द।" "प्रत्यक्षदेव साधु गुरु मान। मान महातम भर्म भुलाना "पंचग्रन्थी।"

१३—यथार्थ सद्गुरु का लक्षण।

गुरू वही निज को जेहि ज्ञाना।
सब भ्रम छोड़ि स्वरूप निधाना ॥२२॥

सच्चा सद्गुरु वही है, जिसे देह से भिन्न अपने यथार्थ पारख स्वरूप का ज्ञान है। जो सब विपरीत समझ को त्याग कर स्वरूप स्थिति करने में निपुण है॥ २२ ॥

प्रश्न—अपने स्वरूप का ज्ञान क्या है और सब भ्रम को छोड़कर स्वरूप स्थिति करने में निपुण रहना क्या है?

उत्तर—मन, प्राण, वीर्य्य, देह, स्थूल-सूक्ष्म शरीर से तथा पंच विषय पिण्ड-ब्रह्माण्ड से मैं सर्वथा पृथक् हूँ। इन सबों का देहोपाधि से द्रष्टा (साक्षी) हूँ। व्याप्य-व्यापक, अंश-अंशी, कार्य-करण-कर्ता भाव रहित अजर, अमर, अखण्ड, शुद्ध चैतन्य हूँ, उत्पत्ति, वृद्धि, क्षय रहित हूँ। स्वरूप से सन्तुष्ट हूँ, निर्बन्ध हूँ। अनादि स्वरूप-भूल तथा विषयासक्ति वश बन्ध हूँ। तिसे त्याग कर सर्वथा मुक्त पारख रूप हूँ। 'संक्षेप में यही अपने स्वरूप का ज्ञान है। यह स्वरूप ज्ञान सद्गुरु में होता है।

अपने चैतन्य स्वरूप के अतिरिक्त परोक्ष कल्पित कर्ता-धर्ता, देवी-देवादि, भूत-प्रेत की मानन्दी रूपी विपरीत समझ। दुःख पूर्ण, परिणामी, स्वार्थमय, स्त्री-पुत्र, गृह-धन विषया-सक्ति आदि में सुख एवं प्रिय मानना रूपी विपरीत समझ और दुःख पूर्ण अपवित्र, क्षणभंगुर जड़ शरीर में सुख, पवित्र,

सत्य एवं स्वाभिमान की मानन्दी रूपी सर्व विपरीत समझ को सर्वथा त्याग कर संसार के प्राणी-पदार्थों के आवरण से तथा अपने तन, मन और वचन के दुर्गुणों से अपने को हर क्षण बचाते हुए विवेक-वैराग्य संयुक्त अत्यन्त सावधानता पूर्वक स्वरूप-चिन्तन में सदैव रत रहना ही सब भ्रम छोड़कर स्वरूप स्थिति करने में निपुण रहना है। पूर्वोक्त लक्षण सद्गुरु में होते हैं।

जड़ से भिन्न जीव अभिरामा।
शुद्ध स्वरूप अहै निष्कामा ॥२३॥

जड़ तत्वों और जड़ देहों से सब चैतन्य जीव पृथक् हैं, ज्ञान मात्र, शुद्ध स्वरूप तथा पूर्ण काम हैं ॥ २३ ॥

प्रश्न—जड़ से जीव भिन्न हैं, इस कथन का क्या भाव है?

उत्तर—जीव अगणित हैं, उत्पत्ति नाश रहित एकरस सनातन एवं अविनाशी स्वतः निराधार हैं। पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु ये चार जड़ तत्त्व हैं। ये भी अनादि स्वतः सद्वस्तु हैं। तो इन चार कारण जड़ तत्त्वों से तथा कार्य रूप देहादि अनेक जड़ पदार्थों से चेतन जीवों का स्वरूप सर्वथा पृथक् है। केवल वासना वश उभय सम्बन्ध है। मनुष्य तन धारण कर सद्गुरु द्वारा सद्बोध-वैराग्य प्राप्त कर जड़-वासना त्याग पूर्वक स्वरूप में स्थित हो जाने से प्रारब्धान्त पश्चात् दोनों (जड़-चेतन) का सर्वदा के लिये सर्वथा पृथक्पन हो जाता है। जड़ से जीव भिन्न होने का यही भाव है।

प्रश्न—अभिराम, शुद्ध स्वरूप तथा निष्काम पद का क्या भाव है ?

उत्तर—'अभिराम' कहते हैं सुन्दर या ललित को, परन्तु यहाँ प्रकरण वश अभिराम का अर्थ ज्ञान मात्र लिया गया है। चेतन जीव के शरीर में रहने से ही यह शरीर अभिराम अर्थात् ललति भासता है। अन्यथा चेतन के निकल जाने पर यह शरीर अपवित्र और भयंकर रूप प्रतीत होता है। इसलिये ज्ञानमात्र चैतन्य ही सब सुन्दरता का हेतु रूप है। 'शुद्ध स्वरूप' कहते हैं जिसमें किञ्चत् विकार न हो। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, राग, द्वेष, आशा, तृष्णा, अध्यास तथा वासना ये सब जहाँ तक विकार हैं। ये देहोपाधि से जड़-सम्बन्ध से ही उत्पन्न होते हैं। चेतन जीव के निश्चित स्वरूप में ये सब किञ्चित् भी नहीं हैं। इसलिये चेतन जीव का स्वरूप सर्वथा शुद्ध है। 'निष्काम' कहते हैं जिसे बाह्य कोई प्रयोजन न हो। भूख, प्यास, इच्छा, कामना सब देहोपाधि से हैं। चेतन जीव का जो निश्चित शुद्ध स्वरूप है, वह स्वभाव से ही सदैव सन्तुष्ट, पूर्ण काम है। उसमें न तो जड़-जगत् का किञ्चित् सम्बन्ध है और न तो उसमें कोई सङ्कल्प-विकल्प एवं चिन्तन ही है। इसलिये वह सदैव पूर्ण तृप्त, असङ्ग तथा निष्काम है। अभिराम, शुद्ध स्वरूप तथा निष्काम पद का यही भाव है।

सोइ उपदेश जनन हित बोधा।
करत रहत निशि दिन तेहि शोधा ॥२४॥

उपर्युक्त ज्ञान की शिक्षा जिज्ञासु जनों के बोध के लिये रात-दिन उसे शोध-शोध कर देते रहते हैं ॥ २४ ॥

प्रश्न—इस चौपाई का स्पष्ट भाव क्या है ?

उत्तर—जो सच्चे सद्गुरु देव हैं वे सदैव शोध-विचार करके जो ऊपर २३ चौपाई में जड़ से भिन्न चेतन जीवों का गुण-लक्षण सहित स्वरूप वर्णन किया गया है, जिज्ञासु जनों के बोध होने के लिये उस स्वरूपज्ञान का उपदेश समय-समय से सदैव वे गुरुदेव करते रहते हैं, यही इस चौपाई का भाव है।

जनम करम फल भोग बतावैं ।
इन्द्रिन जीत यती मन भावैं ॥२५॥

प्रकृतस्थ जीवों का बारम्बार जन्म होता है और शुभाशुभ कर्मों का सुख-दुःख फल प्राप्त होता है, इस बात को वे सच्चे सद्गुरु बतलाते हैं। और इन्द्रियों का जीतना ही उन त्यागी सद्गुरुदेव के मन में अच्छा लगता है ॥ २५ ॥

प्रश्न—प्रकृतस्थ जीवों का बारम्बार जन्म धरना तथा कर्म फल भोगना क्या है ?

उत्तर—जड़ से मुक्त होकर जो स्वरूप में स्थित है वह स्वरूपस्थ जीव है और प्रकृत (माया) में जो स्थित (आसक्त) है उसे प्रकृतस्थ जीव कहा जाता है। यहाँ का यह भाव है कि जितने माया में आसक्त जीव हैं, वे बारम्बार चारों खानियों में शरीर धारण करते रहते हैं और जैसे कर्म भूमिका

रूप मनुष्य शरीर में पाप-पुण्य कर्म किये रहते हैं, वैसा ही चारों खानियों के विविध योनियों में देह धर-धर कर पुण्य कर्मों के फल रूप सुख और पाप कर्मों के फल रूप दुःख वे सब जीव भोगते रहते हैं। इस पुनर्जन्म और कर्म फल भोग को वे सच्चे सद्गुरु बतलाते हैं।

प्रश्न—उन त्यागी सद्गुरु के मन में इन्द्रिय जीतना ही अच्छा लगता है, इस कथन का क्या भाव है ?

उत्तर—कान, आँख, नाक, जिह्वा और त्वचा इन पाँच ज्ञान-इन्द्रियों से भोगे जाने वाले क्रम से शब्द, रूप, गन्ध, रस तथा स्पर्श के जो मनःकल्पित सुखभोग हैं, ये शरीर-इन्द्रिय सहित सारे-के-सारे सुखभोग अत्यन्त क्षण-भंगुर हैं। परिणाम में दुःख जनक हैं। इन भोगों की सिद्धि के लिये बहुत मनुष्यों से परवशता लेनी पड़ती है और बड़ी कठिनता से ये भोग प्राप्त होते हैं। इन भोगों से वासना-तृष्णा की वृद्धि होती है। जिससे भोग की सिद्धि हेतु मनुष्य नाना सकाम पाप-पुण्यादिक कर्म करके परिणाम में जन्मादिक घोर कष्टों को प्राप्त होता रहता है। इसलिये प्रमदा-प्रसंगादि मनःकल्पित समस्त सुख भोगों से इन्द्रियों को हटाकर उसे वश में करना ही उन त्यागी विवेकवान् के मन में अच्छा लगता है। क्योंकि जिस भोग-विलासिता रूप इन्द्रिय-मन की चंचलता को अज्ञानी सुखमय समझता है। उस इन्द्रिय-मन की चञ्चलता को विवेकवान् महान दुःखमय मानते हैं। उन त्यागी सद्गुरु

के मन में इन्द्रियों का जीतना ही अच्छा लगना यही है।
सारांश—सच्चे सद्गुरु विषय भोग के कट्टर त्यागी होते हैं।

१४—सञ्चितशमन।

दग्ध वासना मोच्छ के करता।
पालक धरम भरम के हरता ॥२६॥

देहादि जड़-वासनाओं को ज्ञानाग्नि में जलाकर मुक्त रूप तथा उस मुक्ति का जिज्ञासुओं को उपदेश करने वाले। धर्म के रक्षक और विपरीत समझ—अविद्या को हरण करनेवाले—वे सद्गुरुदेव होते हैं ॥ २६ ॥

प्रश्न—जड़-वासनाओं को दग्ध कर मोक्ष होना क्या है?

उत्तर—इस शरीर की आसक्ति, स्त्री-पुत्र, गृह-धन की आसक्ति, पञ्च विषय भोग मान-बड़ाई अर्थात् जहाँ तक स्वरूप से भिन्न दृश्य वर्गों की आसक्ति, अहंता-ममता एवं सुख-संस्कार हैं, येही जड़-वासनायें हैं। ज्ञान-वैराग्य तथा विवेकादि द्वारा इनका भलीभाँति नाश कर मैं अजर, अमर, अखण्ड, सर्व दृश्य-भासों से भिन्न, पूर्णकाम, सन्तुष्ट हूँ। असङ्ग अपने आप हूँ। प्रतीत होते हुए दुःख पूर्ण सम्पूर्ण दृश्य-भास रूप संसार से मेरा कोई वास्तविक सम्बन्ध-प्रयोजन नहीं है। केवल प्रारब्ध भोग में निरासक्ति पूर्वक वर्तमान करते हुए जीवन पर्यन्त सत्-साधन एवं सद्-पुरुषार्थ में रत रहकर प्रारब्ध खेल को समाप्त कर जड़-सम्बन्ध से रहित हो रहना है। इस प्रकार दृढ़ निश्चय

कर सुख-दुःख, मान-अपमान को धैर्य पूर्वक सहते हुए शरीर को कुछ दिन रहने अथवा अभी तुरन्त नष्ट हो जाने के लक्ष्य एवं हर्ष-शोक से सर्वथा रहित, अनुद्वेग सर्वदा-सर्वथा-सर्वत्र निरासक्त होकर जो स्वरूप में दृढ़ स्थित होना है। यही जड़-वासनाओं को ज्ञानाग्नि में दग्ध कर मोक्ष होना है।

प्रश्न—आप विवेक-वैराग्यादि के पुरुषार्थ से जड़ संस्कारों (संचित कर्मों) का नाश मानते हैं। परन्तु यदि किसी की ऐसी मान्यता हो कि "संस्कार के विरोधी कर्म मनुष्य कर ही नहीं सकता, जो कुछ करेगा वह पूर्व संस्कारानुसार ही।" तो इसका क्या समाधान होगा ?

उत्तर—यह बात युक्ति संगत नहीं प्रतीत होती, क्योंकि यदि ऐसा हो, तो एक जीव के साथ में एक ही संस्कार होना चहिये और उसी अनुसार पुरुषार्थ होना चाहिये। उस एक संस्कार तथा तद्नुसार पुरुषार्थ के अतिरिक्त अन्य संस्कार पुरुषार्थ नहीं होने चाहिये। परन्तु प्रत्यक्ष मनुष्यों में देखा जाता है कि वे नाना विरोधी संस्कार धारण किये रहते हैं और संग-समझ अनुकूल नाना पुरुषार्थ करते रहते हैं। 'पूर्व संस्कार के विपरीत मनुष्य कर्म कर ही नहीं सकता'—इस मान्यता से तो मोक्ष होना ही असिद्ध हो जायगा। क्योंकि अनादि से अबोध और राग के संस्कार पड़े हैं। अतः उक्त न्याय से मनुष्य अबोध- राग के विपरीत बोध-वैराग्य बिल्कुल धारण ही नहीं कर सकता। परन्तु प्रत्यक्ष ही अनादि राग

और अबोध के विपरीत बोध-वैराग्य धारण किये अनेक सन्त सज्जन जगत् में देखे जाते हैं। कामी कुचाली संसारासक्त मनुष्यों को देखा जाता है सुसंग-सुसमझ होने से एकरस ज्ञान-वैराग्य धारण कर लेते हैं और बहुत से ज्ञान-वैराग्य तथा भक्ति भाव धारण करने वाले मनुष्यों को कुसंग-कुसमझ हो जाने से परमार्थ-सत्संग से प्रतिकूल होते देखा जाता है। जिधर मनुष्य को लाभ निश्चय हो जाता है, विपरीत संस्कारादि सैकरों विघ्नों को तोड़ कर उधर चल देता है। इसलिये मनुष्य शरीर स्वतन्त्र खानि मोक्ष भूमिका होने से यहाँ करोड़ों जड़-संस्कारों और संचितों के विपरीत विवेक-वैराग्यादि सद्पुरुषार्थ करके जड़-संस्कारों को मिटा कर मोक्ष लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

प्रश्न—कहीं-कहीं सद्ग्रन्थों में ऐसे लेख आते हैं—"कोई-कोई अनेक नर-जन्मों के शुभ संस्कारी पुरुष ही पुरुषार्थ द्वारा मनोमय को अभाव कर सदैव स्ववश जीवन्मुक्ति दशा में विराजते हैं।" अतः पूर्व शुभ संस्कारी का ही मोक्ष होना सिद्ध होता है ?

उत्तर—यह तो ठीक ही है कि पूर्व जन्मों के शुभ संस्कारी पुरुष का सद्पुरुषार्थ में अकारण मन अधिक लगता है और वे पूर्व संस्काराधीन शीघ्र ही कल्याण को प्राप्त हो जाते हैं। थोड़े पुरुषार्थ से उनका मन स्वाभाविक ही शान्त रहता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि पूर्व का कम संस्कारी पुरुष

आज सत्संग-समझ पाने पर भी और पुरुषार्थ करने पर भी कल्याण नहीं प्राप्त कर सकता। अथवा उसका मन कल्याण-साधन में लगेगा ही नहीं। और जहाँ ऐसा कहा गया है कि— "कोई-कोई अनेक जन्मों के शुभ संस्कारी पुरुष पुरुषार्थ द्वारा मनोमय को अभाव कर सदैव स्ववश जीवन्मुक्ति दशा में विराजते हैं।" वहाँ का मुख्य भाव यह है कि जो अनेक नर-जन्मों के शुभ संस्कारी पुरुष हैं, उन्हें यदि अधिक स्थूल सद्-पुरुषार्थ न करते देखा जाय, तो भी समझना चाहिये कि वे आन्तरिक विवेक-वैराग्यादि के दृढ़ पुरुषार्थ से सदैव शान्त एकरस रहते हैं। उनकी शक्ति प्रबल है। अन्य साधकों को उन पुरुषों की बाहरी नकल करके निठल्ला नहीं रहना चाहिये।

सारांश—साधारण साधकों को जो शान्ति पद सर्वांग सद्पुरुषार्थ से प्राप्त होता है, वह शान्ति पद संस्कारी पुरुषों को केवल विवेकादि साधन से ही प्राप्त रहता है। इसलिये संस्कारी पुरुषों की बाहरी (निष्कर्मता की) नकल न करके सद्पुरुषार्थ द्वारा साधारण साधकों को कल्याण पद प्राप्त करना चाहिये। केवल पूर्व शुभ संस्कारी का ही कल्याण होगा, अन्य का पुरुषार्थ करने पर भी नहीं होगा—ऐसा भाव यहाँ का नहीं है। यहाँ तो पुरुषार्थ के लिये अधिक जोर दिया गया है। 'सद्पुरुषार्थ से मनुष्य मुक्त हो सकता है।'

प्रश्न—जिनके प्रथम नर-जन्मों के शुभ संचित हैं, उन्हीं के उत्साह-प्रेम विवेक-वैराग्यादि में आज अधिक लगते हैं।

प्रथम के शुभ संस्कार बिना आज बोध-वैराग्य में अधिक उत्साह होही नहीं सकता ?

उत्तर—यह बात बिल्कुल ही सत्य है कि जो पुरुष प्रथम नर-जन्मों के अधिक शुभ संस्कारी हैं, उनको गड़े धन मिल जाने के समान शीघ्र ही सप्रेम सद्पुरुषार्थ परायण होकर कल्याण-स्वरूप में स्थिति हो जाती है। किन्तु "जिनके पूर्व नर-जन्मों के अधिक शुभ संस्कार नहीं हैं, सुसंग-सुसमझ प्राप्त होने पर भी उनका उत्साह पूर्ण-सद्पुरुषार्थ (विवेक-वैराग्यादि) में लगेगा ही नहीं। उनके मन में कल्याण की तीव्र चाहना ही नहीं होगी या उनका इस जन्म में कल्याण ही नहीं हो सकता"—यह मानना तो उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि मनुष्य में ऐसी संवेदन (अनुभव-ज्ञान) की शक्ति है और उसकी निश्चयता में इतना बल है कि वह मन, वच, कर्म से जिधर ही घूम पड़ेगा, उधर ही करने योग्य कार्य को कर डालेगा।

अच्छा, यह बतलाइए ! जिनको माना जाता है कि इनके प्रथम नर-जन्म के अधिक शुभ संस्कार हैं, इसीसे ये आज अपना कल्याण शीघ्र कर रहे हैं या कर लिये हैं। तो उन्होंने प्रथम नर-जन्मों में उस शुभ संस्कार रूपधन को किस जमा पर कमाया था ? सुसंग, सुसमझ और सद्पुरुषार्थ से उस शुभ-संस्कार को बनाया था कि प्रथम अन्य नर-जन्मों के शुभ-संस्काराधीन तब भी बनाया था। यदि अन्य प्रथम नर-

जन्मों के शुभ-संस्काराधीन ही बनाया था, तो पूर्व-पूर्व कितने नर-जन्मों के शुभ संस्कार थे ? यदि कहिये सदैव से उसके शुभ संस्कार थे, तो यों तो शुभ और अशुभ दोनों कर्मों के संस्कार अनादि से सब जीवों के अन्तःकरण में पड़े हैं। परन्तु यहाँ तो विशेष बोध-वैराग्य रूप संस्कारों का प्रसंग है। जो कि मनुष्य को आज विशेष कल्याण का पात्र बना रहा है।

अतः इससे यह निश्चय हुआ कि प्रथम किसी नर-जन्म में जब कि उसके प्रथम के कोई अधिक शुभ संस्कारादि न थे, तभी इस नर-जीव ने सुसंग-सुसमझ और सद्पुरुषार्थ से कुसंग-कुसमझ तथा कुसंस्कारों को मिटा कर शुभ संस्कार बनाया। इसी प्रकार आज भी सत्संग द्वारा कुसंग-कुसमझ को त्याग कर और सुसंग-सुसमझ तथा सद्पुरुषार्थ से सर्व मलीन वासनाओं को मिटा कर मनुष्य कल्याण का पात्र हो सकता है। जब बासी भोजन खाने से पेट भर जाता है, तब क्या ताजा भोजन बनाकर खाने से पेट नहीं भरेगा ? अर्थात् जब प्रथम नर-जन्मों के शुभ-संस्कार आज कल्याण में बलदायी हो रहे हैं। तब आज के तरोताजा सद्पुरुषार्थ से क्या कल्याण नहीं होगा ? अवश्य होगा। यदि यह शंका हो कि "प्रथम नरजन्मों के शुभ संस्कार जिनके नहीं रहते, सुसंग से प्रथम उनका थोड़ा-थोड़ा भक्ति भावना में मन लगता है। इस प्रकार कई नर-जन्मों को धरते-धरते और थोड़ा-थोड़ा सद्पुरुषार्थ बढ़ाते-बढ़ाते किसी नर-जन्म में वे कल्याण के भागी होते हैं। क्योंकि ऐसे ग्रन्थों के भी प्रमाण मिलते हैं।"

तो यह मानना भी ठीक है। परन्तु उसमें इस प्रकार समझना चाहिये कि जिनके प्रथम के कोई अधिक शुभ संस्कार नहीं हैं, सत्संग और ज्ञान मिलने पर उनके यदि हिंसा तथा अभक्ष्य-सेवनादि घोर अन्धकार मय कर्म छूट गये, तो वे उष्मजादि खानियों से छुट्टी पा गये और यदि अधिक विषयासक्ति आदि का भी त्याग कर इसी जन्म में सत्संग परायण सदाचरण सम्पन्न हो गये, तो पशु आदि खानि से भी छुट्टी पाकर उत्तम नरजन्म के अधिकारी हो गये। फिर एक-दो या तीन-चार नर-जन्मों को लेकर कल्याण का पुरुषार्थ जब पूर्ण बन जायगा और सुखाध्यास पूर्ण नष्ट हो जायगा, तब वे मुक्त हो जायँगे। परन्तु यदि उनका पूर्ण पुरुषार्थ इसी नर-जन्म में बन गया और सुखाध्यास सब नष्ट हो गये, तो वे अन्य कोई भी जन्म को न प्राप्त होकर इसी जन्म में मुक्त हो जायँगे। सारांश यह होता है कि जिनका पुरुषार्थ मन्द चल रहा है, उनको कई नर-जन्मों के पश्चात् कल्याण का अवसर प्राप्त होता है और जिनका पुरुषार्थ कुछ अधिक चलता है, उन्हें एक ही दो जन्म लेने पड़ेंगे और जिनका पुरुषार्थ इसी जन्म में बोध अवस्था के आरम्भ से या धीरे-धीरे आगे चल कर तीव्र हो गया तथा सुसंग-सुसमझ और सद्पुरुषार्थ द्वारा समस्त सुखाध्यासों का नाश और स्वरूप में ठहराव हो गया। तो इसी जन्म में वे मुक्त रूप हो जायँगे।

शुद्धस्वरूप का बोध और वैराग्य पूर्वक पुरुषार्थ द्वारा

सुखाध्यास पूर्ण ध्वंस हो जाने पर पूर्व संचितादि (कोई कर्म) मोक्ष में बाधक नहीं होते । इसलिये मोक्ष की प्राप्ति में सत्संग बोध पूर्वक सद्पुरुषार्थ की ही विशेषता है । पुरुषार्थ पर जोर देते हुए डङ्के के चोट पर सद्गुरु श्रीकबीरसाहेब कहते हैं—

"मानुष जन्म नर पाइ के, काहे को जहँडाय ॥"
"हो हुजूर ठाढ़ कहत हौं, तै क्यों धोखे जन्म गवाँव ॥"
"करु बहिया बल आपनी, छाड़ विरानी आश ।
जाके आँगन नदिया बहै, सो कस मरै पियास ॥"
"कहहिं कबीर सो ऊबरै, जाहि न मोह समाय ॥बीजक"

श्रीनिर्मलसाहेब कहते हैं—

"पुरुषारथ करु चेत सबेरे, आलस वश कहै दैव दई रे ॥"
"मानुष तन सकलो गुण आगर, बड़े भाग पायो सुख सागर ।
ऐसो दाँव फेरि नहिं अइहैं, मानुष तन जब भोगि सिरइहैं ॥
अब की बार भया जो कातर, फिर न मिलै ऐसो दाँव ॥
दुरमति दूर करो ॥"
"अवसर खूब मिला दिलदार, नौका आकर, लगी किनार ।
क्षण में हो जावो भव पार, धीरज धर के जाने वाले ॥".
इत्यादि ।

अतः पूर्व शुभ संस्कारों की आशा त्याग कर गृहस्थ-विरक्त हर व्यक्ति को सद्पुरुषार्थ द्वारा आज ही कल्याण का भागी बनना चाहिये ।

प्रश्न—यदि बोध-वैराग्य से संचित सब दग्ध हो जाते हैं, तो जिनको लोग बहुत वैराग्यवान् जीवन्मुक्त कहते हैं वे भी शारीरिक रोगों से ग्रसित देखे जाते हैं। फिर वे ज्ञान-वैराग्य के बल से शरीर के रोग मय दुःखद कर्म भोगों को क्यों नहीं जला देते ?

उत्तर—यह प्रश्न बिना समझ के है। पहले यह समझना चाहिये कि संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण—इन त्रिविध कर्मों का क्या सरूप है ? फिर बोध-वैराग्य से कौन कर्म नष्ट होता है और कौन कर्म भोगना पड़ता है ?

इनका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—भूतपूर्व अनेक नरजन्मों के अभुक्त शुभाशुभ कर्म तथा विषय सुखों के संस्कारादि जो अन्तःकरण में टिके हैं, वेही—सञ्चित कर्म हैं। उक्त सञ्चित कर्मों में से कुछ शुभाशुभ कर्मों द्वारा बना हुआ जो यह स्थूल शरीर है और सुख-दुःख भोग हैं, यही—प्रारब्ध कर्म है। इस नर-जन्म में जो विषयों में सुखमान कर शुभाशुभ कर्म किये जाते हैं, वह विषयासक्ति युक्त (शुभाशुभ) कर्म ही—क्रियमाण कर्म है।

बोध-वैराग्य पूर्ण उदय होने पर विषय सुख सब दुःख रूप असत् ठहरने से विषयासक्ति जनित सकाम शुभाशुभ कर्म बोधवान् द्वारा हो सकते नहीं। इसलिये बोधवान् के क्रियमाण कर्म रुक (या नष्ट हो) जाते हैं। और पूर्ण बोध-वैराग्य के बल से जन्म हेतुक मुख्य बीजांकुर रूप सुखाध्यास-संचित नष्ट

हो जाते हैं। इसलिये पूर्व के अभुक्त शुभाशुभ कर्म रूप संचित भोग देने की शक्ति से हीन होकर सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। जैसे गेहूँ-चने आदि के बीज अग्नि में सेंक देने से आकारवान् दिखलाई देते हुए भी जामने की शक्ति से हीन हो जाते हैं। तैसे बोधवान् के समस्त सुखाध्यास क्रियमाण कर्म नष्ट होकर स्वरूप[1] में ही दृढ़ स्थिति होने से प्रारब्धान्त में सन्मुख कोई कर्म न उदय होकर वे विदेह मुक्त हो जाते हैं। इसलिये संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। और जो स्थूल शरीर (प्रारब्ध कर्म) है। जैसे तीन अवस्था, तीन पन, श्वास लेना-छोड़ना, खाना-पीना, उठना-चलना-बोलना, रोग-निरोग—यह प्रबल प्रारब्ध कर्म है। इसको ज्ञानी-अज्ञानी सभी को भोगना पड़ता है।

ज्ञानी-अज्ञानी के प्रारब्ध भोग में मात्र इतना ही अन्तर रहता है कि अज्ञानी सुख-संयोग पाकर प्रसन्नता और अभिमान प्रकट करता है। तथा रोग-दुःखों को हाय-हाय करके भोगता है। और बोधवान् सुख-संयोग में शान्त, अभिमान रहित होकर नैराश्यता युक्त बर्तते हैं और रोग-संकट में जान-बूझकर हाय-हाय न करते हुए धैर्य पूर्वक भोग लेते हैं। प्रत्यक्ष देखा जाता है काम, क्रोध तथा लोभादि संस्कारों को बोध-वैराग्य से मिटाया जाता है। परन्तु प्रबल प्रारब्ध जैसे—काला, गोरा रूप-रंग या नाटा-मझोला-लम्बा आकार और

१—पारख माहिं पारखो वासा। दूसर और रहो नहिं आशा॥
(निर्णयसार)

स्त्री-पुरुषों के घट-चिह्न पुरुषार्थ से कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। इसी प्रकार प्रबल प्रारब्ध कृत रोग-सङ्कटों को भी बिना भोगे समाप्त नहीं होता। इससे बोधवान् के कल्याण में कोई हानि भी नहीं है। हानि तो कामादिक कुसंस्कारों में है। इसीलिये सद्गुरु श्री विशाल साहेब कहते हैं—

साखी—

अहै मानसिक में स्ववश, परवश देह के भोग।
करि पुरुपारथ ताहि हित, होउ अचल पद योग ॥८३॥

(भवयान अपनाबोध)

पारख पद को प्राप्त जो, सद्अभ्यास अरूढ़।
मन वच कर्म से जो जुटै, होवे निज पद रूढ़ ॥१०९॥
मानुष तन पुरुषार्थ है, अदृश्य देह के भोग।
काटि मानसिक रोग को, जो प्रारब्धी योग ॥११०॥
सद्मग गामी शूर जो, साहस दिन दिन दून।
कादर बनो न भूलि कोइ, सिद्ध काज दुख भून ॥१११॥

(मुक्तिद्वार निवृत्ति साहस)

अतः प्रारब्ध कर्म-रोग-सङ्कटादि बोध-वैराग्य से बोधवान् क्यों नहीं मिटाते—यह शंका कर्म रहस्य के अजानकारों की है।

प्रश्न—आप बोध-वैराग्यादि के पुरुषार्थ से सर्व संचितादि कर्मों का नाश मानकर मोक्ष मानते हैं, परन्तु यदि किसी की ऐसी मान्यता हो कि प्रबल बोध-वैराग्यादि के

पुरुषार्थ द्वारा क्रियमाण (विषयासक्ति कृत) कर्मों के रुक जाने पर भी पूर्व से आज तक अबोध दशा में किये हुए समस्त शुभाशुभ कर्म जो संचित रूप अन्तःकरण में टिके हैं, उन्हें बारम्बार देह धर कर पूरा भोग लेने के पश्चात् ही उस जीव का मोक्ष हो सकता है। इसमें कौन-सी बात सत्य मानी जाय?

उत्तर—

दृढ़ बोधवान्-वैराग्यवान् को सञ्चित कर्म नहीं भोगने पड़ते, क्योंकि उनके सर्व सञ्चित कर्मों के बीज इसी जन्म में बोधाग्नि से जल जाते हैं और इसी जन्म में वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं। इसके विषय में कुछ युक्तियों से समझाते हैं।

(१) जैसे बीज का अंकुर तोड़ देने से बीज निर्बल (जामने की शक्ति से हीन) हो जाता है, तैसे मुख्य संचित रूप विषयासक्ति मिटा देने से भोग दिये बिना रहे हुए पूर्व के शुभाशुभ कर्म रूप मध्यम संचित निर्बल होकर देह धराने की शक्ति से सर्वथा हीन हो जाते हैं।

(२) स्वरूप की भूल और विषयासक्ति वश जीव का जन्मादिक प्रवाह चल रहा है। सो बोध-वैराग्य के प्रबल

पुरुषार्थ द्वारा स्वरूप-भूल और विषयासक्ति मिटा देने पर जन्म धारण करने का कोई हेतु नहीं रह जाता।

(३) जिस वासना-क्रिया को जीव सुख रूप मानता है, उसी को अन्तःकरण में रखता है और जिस वासना क्रिया को भलीभाँति दुःख रूप जान कर उसे मिटा दिया, वह वासना-क्रिया अन्तःकरण में नहीं रह सकती। तो जड़-संस्कारों को पूर्ण दुःख रूप जानकर और बोध-वैराग्य बल से उसे मिटाकर स्वरूप में ठहर जाने पर जीव को गर्भ में ले जाने में किसकी सामर्थ्य है? अर्थात् किसी की नहीं।

(४) यदि बोध-वैराग्य बल से संचितादि कर्मों का नाशमान कर मोक्ष न माना जाय, तो मनुष्य शरीर और बोध-वैराग्य धारण करने की क्या विशेषता होगी?

(५) शरीर छूटते समय पूर्व के शुभाशुभ रूप संचितों का जीव से मेल कराने वाला और पुनः गर्भ में ले जाने वाला जो आज का विषयासक्ति एवं राग रूप क्रियमाण कर्म था, उसके बोध-वैराग्य द्वारा प्रथम ही नष्ट हो जाने से और अपने चैतन्य स्वरूप के अतिरिक्त कहीं दृश्य जगत् में लक्ष्य-प्रियता न होने से शरीर छूटते समय बोध-निष्ठ पुरुषका पुनः गर्भ में जाने का कोई हेतु ही नहीं है। वहाँ तो संचित-प्रारब्धादि समस्त कर्म-ग्रन्थियों का सर्वथा नाश होकर शुद्ध विदेह मोक्ष ही शेष रह जायगा।

(६) यदि बोध-निष्ठ – वैराग्यवान् को भी पूर्व के

शुभाशुभ कर्म रूप संचितों को भोगने पड़ेंगे, ऐसा माने। तो पशु-पक्षी, शूकर-कूकर, कृमि-कीटादि सब खानियों के संचित कर्म होंगे। तब तो यथार्थ वैराग्य वान् को भी संचित भोग कर समाप्त करने के लिये पशु-पक्षी, शूकर कूकर, कृमि-कीटादि योनियों में जाना पड़ेगा। फिर वैराग्य-बोध की विशेषताई ही क्या रह गयी? पारखी सन्त ही नहीं बल्कि यथासम्भव मोक्ष-प्रतिपादक कोई भी मत के विवेकी सन्त ऐसा नहीं मानते।

(७) यदि बोधनिष्ठ जीव भी संचित कर्म भोगने के लिये पुनः मनुष्य शरीर धारण करेगा, तो अबोध बाल्य अवस्था के पश्चात् जब तक विवेकी सद्गुरु से भेंट होकर और बोध-वैराग्य प्राप्त होकर दृढ़ धारणा न होगी, तब तक कुछ-न-कुछ क्रियमाण-कर्म अवश्य कर लेगा और वह क्रियमाण आगे चलकर संचित रूप होकर अन्तःकरण में टिक जायेगा। बोध-वैराग्य होने पर भी उन संचितों को भोगने के लिये पुनः जीव शरीर धारण करेगा। इस प्रकार जभी मनुष्य शरीर में आयेगा तभी अबोध बाल्य अवस्था के पश्चात् और गुरुबोध अवस्था के प्रथम कुछ-न-कुछ क्रियमाण कर्म करेगा और वह क्रियमाण संचित होकर देह धराया करेगा। फिर इस मान्यता से मोक्ष मानना ही असिद्ध हो जायगा।

(८) यदि कहिये—अधिक संचित भोग, कर समाप्त हो जाने पर किसी नर-जन्म में यदि थोड़ा संचित रहेगा, तो

थोड़ा होने से बोध-वैराग्य से नाश हो जायगा। तो यह भी युक्त नहीं। क्योंकि यदि बोध-वैराग्य से संचितों का नाश माना जायगा, तो चाहे थोड़ा हो चाहे अधिक हो, पूर्ण बोध वैराग्य से सब का नाश माना जायगा। चाहे कम अन्धकार हो चाहे अधिक, सूर्य उगने पर सब (अन्धकार) का नाश हो जाता है। जड़-कर्म अन्धकार मात्र होने से बोध-वैराग्य रूप सूर्योदय के सामने कैसे रह सकते हैं ?

(९) यदि कहिये "जैसे तीन लकड़ियाँ सूखी रहतीं हैं, तो उसमें एक लकड़ी गीली भी रहे तो अग्नि द्वारा जल जायगी और यदि तीन लकड़ियाँ गीली रहें और एक सूखी रहे तो नहीं जलेगी। तैसे थोड़े संचित कर्म बोध-वैराग्य से नाश होते हैं और अधिक नहीं नाश होते।" तो यह भी कहना युक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि यहाँ जो एक सूखी लकड़ी के साथ तीन गीली लकड़ियों को अग्नि द्वारा न जलना माना गया है। उसमें लकड़ियों की अपेक्षा अग्नि की मात्रा और शक्ति कम मानी गयी है। इसलिये यह प्रमाण ऐसा देना युक्त प्रतीत होता है कि यदि करोड़ों मन प्रज्वलित अग्नि की ढेरी हो, तो उसमें एक सूखी लकड़ी के साथ तीन गीली लकड़ियों को कौन कहे उसमें यदि चार हरे-हरे वृक्ष काट कर डाल दिये जायँ, तो वे सब जल कर सर्वथा भस्म हो जायँगे। सिद्धान्त में असंख्यों संचित कर्म प्रबल बोध-वैराग्य के सन्मुख चार लकड़ी से भी कम

शक्ति वाले हैं; क्योंकि दृढ़ बोध-वैराग्य की शक्ति करोड़ों मन अग्नि के तेज से भी सिद्धान्त में प्रचण्ड है। जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार का पता नहीं रहता, तैसे प्रचण्ड बोध-वैराग्य के उदय होते ही तम रूप असंख्यों संचितादि कर्मों का अभाव हो जाता है।

(१०) जैसे अग्नि लगा देने पर चाहे एक मन लकड़ी की ढेरी हो चाहे करोड़ों मन लकड़ी को ढेरी हो—सब जल जायँगी। तैसे बोध-वैराग्य की अखण्ड धारणा से चाहे कम संचित हों चाहे अधिक संचित हों—सब का नाश हो जाता है।

(११) जिन-जिन कारणों से जो कार्य होता है, उन कारणों में के एक कारण के अभाव से ही वह कार्य नहीं होता। जैसे कुम्हार, मिट्टी, चक्र तथा दण्डा से घड़ा बनता है। इन कारणों में से मिट्टी चक्रादि किसी कारण का अभाव हो जाय तो घड़ा रूप कार्य नहीं बनेगा। तैसे (१) अबोध, (२) राग, (३) क्रियमाण कर्म तथा (४) पूर्व शुभाशुभ संचित कर्मों को मिलाकर पुनः जीव का देह धरना होता था। अब बोध-वैराग्य द्वारा (१) अबोध, (२) राग और (३) क्रियमाण तथा सुखाध्यास रूप संचित के नाश हो जाने से केवल एक पूर्व के अभुक्त शुभाशुभ संचित कर्म देह धराने में सर्वथा असमर्थ हैं।

अब कुछ आप्त वक्ताओं के प्रमाणों द्वारा बोधवान् के संचित नाश विषयक सिद्धान्त पुष्ट किया जाता है।

सद्गुरु श्री पूरण साहेब मुक्त पुरुष और बीजक के सर्व श्रेष्ठ टीकाकार हो गये हैं।

(१)—"अबकी बार जो होय चुकाव।
कहहिं कबीर ताकी पूरी दाव ॥बीजक, बसंत ७॥"

इसकी टीका करते हुए आप कहते हैं—"अबकी बार जो सर्व फन्दन को परख लेय औ चुकाव-छुटकाव हो जाय पारख स्थिति हो जाय, गुरु कहते हैं कि ताहिं नर को पूरो दाव।" और—

"दुख से तबहीं बाँचिहो, जब सकलो जरि जाय ॥"
(बी० सा० ७२)

इसकी टीका में आप लिखते हैं—'जब ब्रह्म-जगतादि बिरह जर के नाश हो जाय ज्ञान के प्रताप से औ पारख पद की प्राप्ति होय, तब दुःख से बचे।" आप यह कभी नहीं कहे हैं कि 'बोधवान् के संचित भोग कर समाप्त होने उपरान्त वे मुक्त होंगे।' बल्कि आप प्रत्यक्ष पुरुषार्थ पर जोर देते हुए कहते हैं कि 'सर्व फन्दन को परख लेय, पारख स्थिति हो जाय, सब बिरह (आसक्ति) ज्ञान के प्रताप से नाश हो जाय, उसका दुःख छुटेगा।'

यह बात सद्गुरु श्रीकबीरसाहेब द्वारा ही स्पष्ट हो गयी है। उन्होंने यह नहीं कहा है कि—

'दुख से तबही बाँचिहो, जब सकलो भोगि सिराय।'

बल्कि उन्होंने यह कहा है कि—

'दुख से तबहीं बाँचिहो, जब सकलो जरि जाय।'

जो कर्म भोगकर खतम होगा उसे समाप्त होना या सिराय जाना कहा जायगा, जल जाना कदापि नहीं कहा जायगा और जो कर्म बोध-वैराग्य से नष्ट होगा, उसी को जल जाना माना जायगा। अतएव 'जरि जाय' का अर्थ (भोग कर समाप्त होना)—करना उचित नहीं है। 'जरि जाय' का अर्थ बोध वैराग्य से कर्मों का नष्ट होना ही माना जायगा।

(२)—सद्गुरु श्रीकबीर साहेब और भी कहते हैं—

"कहहिं कबीर सत्सुकृत मिलै, तो बहुरि न झूलै आन॥"

(बी० हिण्डोला १)

अर्थात्—यदि सच्चे सद्गुरु और सत्य स्वरूप की स्थिति-धारणा की पूर्ण प्राप्ति हो गयी है, तो गुरु कहते हैं वह जीव पुनः गर्भ में नहीं आयेगा।

(३) और भी— साखी—

तौ लौं तारा जगमगै, जौ लौं उगै न शूर।
तौ लौं जीव कर्म वश डोलै, जौ लौं ज्ञान न पूर॥"

(बी० सा० २०५)

इसकी टीका में श्री पूरण साहेब कहते हैं—'जब लग पूरा ज्ञान नहीं होता तब लग जीव कर्मन के वश होके चौराशी में फिरता है औ जब पूरा ज्ञान भया तब गुरु पद का अधि-

कारी भया, सम्पूर्ण कर्म-भ्रम छोड़ के निर्पक्ष भया, तब उसके सकल कर्म विनाश भये। जैसे तारे की ज्योति अँधियारे में जगमगाती है औ जब सूर्य उगा तब सभी लय हो गयीं, छिप गयीं। तैसे जब लग अज्ञान रूप अँधियारा है, तब लग कर्मन के फल जगमगाते हैं औ ज्ञान रूपी सूर्य निकरा तब सभी लय हो गये।' इस साखी में सद्गुरुश्रीकबीरसाहेब कर्मों का नाम लेकर उनका ज्ञान से नाश माने हैं 'तौ लौं जीव कर्म वश डोलै, जौ लौं ज्ञान न पूर।'

(४) साखी—

सुर नर मुनि औ देवता, सात दीप नौ खण्ड।
कहहिं कबीर सब भोगिया, देह धरे को दण्ड॥

(बी० सा० २९५)

इस साखी की विस्तृत टीका करते हुए अन्त में श्रीपूरणसाहेब शंका-समाधान रूप में कहते हैं—"सुर, नर, मुनि देवता आदि जेते देहधारी भये सो सबन ने देह धरे का दण्ड भोगे, दण्ड भोगे बिना छुटते नहीं। तब विचार करने की औ सत्संग करने की विशेषता क्या ? ये शंका। (समाधान—) विचार औ सत्संग की विशेषता ऐसी है कि गुरु-विचार उदय होने से संचित कर्मों का नाश होता है औ क्रियमाण कर्म हो सकता नहीं, क्योंकि विचार से सब मानन्दी मिथ्या ठहरी, ताते मानन्दी कर्म भी मिथ्या ठहरा, ताते हो सकता नहीं। जब क्रियमान नहीं, तब आगे देह भी नहीं, जब बीज नाश हुआ तब आगे

वृक्ष भी नहीं । अब रहा प्रारब्ध, सो ताका रूप देह बनी है, सो भोगे से नाश होवेगी । फिर आगे कछु [कर्म] नहीं । ये विचार की विशेषताई ।”

[त्रिज्या से]

(५) श्रीकाशी साहेब जी निर्पक्ष सत्यज्ञान दर्शन प्रश्न १२८ के उत्तर में वर्णन करते हुए अन्त में कहते हैं—“इस प्रकार से संचित, क्रियमाण (आगामी) इन दो कर्मों के सर्व बीज जीवन्मुक्ति-स्थिति में पारखी सन्तों के ज्ञानाग्नि से नाश हो जाते और प्रारब्ध कर्म देहान्त तक भोग के आपही नष्ट हो जाते हैं । ऐसा आप अब जान लीजिये ।”

(६) श्रीकाशी साहेब जी तत्त्वयुक्त निज बोध विवेक ‘मुक्तिस्थिति रहनी आदी’—प्रकरण में लिखते हैं—“सद्गुरु-कृपा से सत्य पारख भूमिका रूप ज्ञान दृष्टि में जब नर जीव स्थित होवेंगे तब पाप-पुण्यादिक कर्मों के आचरण से कल्पित स्वर्ग-नर्कादि भुगताने वाली सर्व शुभाशुभ कर्मों की वासना तिनकी ज्ञानाग्नि से जल जावेगी । ऐसे संचित कर्म नाश हो जावेंगे । किसी खानि व बानी रूप नाद तथा बिन्द कला को दृढ़ मानना तिनका नहीं रहने से क्रियमाण कर्मों का वासना-बीज भी तिनका नहीं बनेगा । बाकी देह के अनेक रोग, अन्न-वस्त्रादि देह प्रारब्ध का व्यवहार तिनका बना है, सो देह रहे तक अभाव वृत्ति से बेगार माफिक देहों के सुख-दुःखादि वर्त-मान व्यवहार कैसे तो भी भोग के अन्त में देह के साथ प्रारब्ध

कर्म भी तिनके सब छूट जावेंगे। ऐसा संचित, क्रियमाण (आगामी) और प्रारब्ध ये तीनों कर्मों के बीज नाश हो सकते हैं। इसलिये साधु व गृहस्थ सेवक जो कोई अग्नि रूप अहंकार जलाय के, दीन दासातन से साधु-गुरु रूप पारखी सन्तों की सेवा में और सत्संग में सदोदित वे लिपटे रहेंगे, तब गुरु भक्ति सहित जीवन्मुक्त हो जावेंगे।

(तत्त्वयुक्त निज बोध विवेक पृष्ठ २२६-२२७)

(७) श्रीप्रेमसाहेब जी 'तिमिर भास्कर' ग्रन्थ में "जीव शुद्ध होने का प्रकरण" में कहते हैं—"जैसे माली बगीचादि के कारण बीज का नाश कर डाले तो फिर बगीचादि कैसे हो सकते हैं ? (अर्थात् नहीं हो सकते) तैसे ही जीव देहादि के कारण बीज का नाश कर डाले तो फिर देहादि रूप बगीचा नहीं होने से इनके बन्धन से छूट कर जीव मुक्त हो जावेगा।"

(८) आप इसी ग्रन्थ के "मुक्त स्वरूप वर्णन" प्रकरण में लिखते हैं—"वैराग्य से लोक-परलोक के फल की अनइच्छा होने से सर्व वासना रूप कर्मों का त्याग होता है। इस रीति से कर्मों का त्याग होता है अर्थात् नाश होता है और अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने से संचित कर्मों का नाश हो जाता है। जैसे अग्नि से इन्धन (लकड़ी) का नाश हो जाता है। स्वरूप का यथार्थ ज्ञान रूप अग्नि तो सर्व कर्मों का नाश कर ही देवेगा और सर्व पदार्थों में अभाव होने से क्रियमाण कर्म होता ही नहीं। पशु आदि खानि में स्वरूप का यथार्थ ज्ञान

न होने से संचित कर्मों का अभाव नहीं होता है। और मनुष्य खानि में पूर्व शुभ कर्मों के योग से स्वरूप का यथार्थ ज्ञान सत्संग द्वारा होता है। इसलिये संचित कर्मों के फलों का अभाव हो जाता है। इसी कारण से सत्संग सहित मनुष्य-जन्म मुक्ति का द्वार सर्व धर्म-शास्त्रों में कहा है। इसलिये सर्व मनुष्यों को चाहिये कि मुक्ति का द्वार मनुष्य जन्म पाकर पारखी सन्तों के द्वारा स्वस्वरूप को जान कर शुभाशुभ कर्मों को छोड़ के तथा शुभाशुभ कर्मों के अध्यासों को तोड़कर स्वस्वरूप में स्थित होकर आवागमन से रहित हो जायँ।"

(९) (इसी प्रकरण में—)"पारखी सन्तों के सत्संग करके भूनने बीज वत् सम्पूर्ण वासना रूपी बीज जला दिया तो पुनः देह होने का नहीं। जब अध्यास छूट गया तो कर्म कहाँ ? जब कर्म नहीं तो शरीर भी नहीं।"

(१०) श्री राघव साहेब बीजक शब्द ११० की टिप्पणी में कहते हैं कि—(आपन कर्म न मेटो जाई) "यद्यपि ज्ञानी सन्त पुरुषों के ज्ञान से संचित, आगामी कर्म नष्ट हो जाते हैं, तथापि प्रबल प्रारब्ध कर्मभोग ज्ञान से भी नाश नहीं होता। वह भोग से ही निवृत्त होता है। यही कारण है कि निज चैतन्य पारख स्वरूप ज्ञान होने पर भी पारखी सन्त प्रबल प्रारब्ध भोगों को भोगते हुए चिरकाल तक संसार में शरीर सम्बन्ध से लोगों के दृष्टि गोचर होते हैं।"

(११) श्रीगुरुदयालसाहेब 'कबीर परिचय' ग्रन्थ में कहते हैं--

एक कर्म है बोवना, उपजै बीज बहूत ।
एक कर्म है भूनना, उगै न अंकुर सूत ॥२३॥

बीज को बो देना रूप एक कर्म है, जिससे एक बीज के बदले बहुत से उत्पन्न हो जाते हैं। और अग्नि में बीजों को सेंक देना रूप भी एक कर्म है, जिससे बीज में किञ्चित् भी अंकुर नहीं उगते। बल्कि पूरे नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार अज्ञानता पूर्वक पंच विषय कल्पित सुख के लिये पाप-पुण्यादि करना भी एक कर्म है, जिसके फल में अनेक देहें धारण करने पड़ते और दुःख-सुख भोगने पड़ते हैं। और बोध-वैराग्यादि के सद्पुरुषार्थ रूप अग्नि से सर्व विषयासक्ति जन्य कर्म क्रियमाण-संचितादि को जला देना भी एक कर्म ही है। परन्तु इस कर्म से त्रिविधि कर्मों की बीज-वासनायें जल कर भस्म हो जाती हैं। और जैसे जलता हुआ अग्नि-पिण्ड घास-फूसों की ढेरी पर गिर कर उसको भी जला देता है, तैसे प्रबल-बोध-वैराग्यादि के पुरुपार्थ रूप अग्नि से जलता हुआ क्रियमाण रूप अग्नि पिण्ड संचित रूप घास की ढेरी पर गिर के उसे भी भस्म कर देता है।

(१२) सद्गुरु श्रीविशाल साहेब मुक्तिद्वार निवृत्तिसाहस शतक में कहते हैं-- साखी--

आगामी को रफ्तार तजि पारख प्राप्ति स्वरूप ।
अनादि विरोध अयोग्यता, संचित नष्ट घनूप ॥८४॥

अर्थात्—आगामी (क्रियमाण) कर्म करने का प्रवाह सर्वथा त्याग कर जो पुरुष स्वस्वरूप पारख की दृढ़ स्थिति प्राप्त कर लिये, उनके 'घनूप' नाम अनन्तों संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि अनादिकाल से अज्ञानतायुक्त क्रियमाण-कर्म के आधार से ही संचित कर्मों का भोग होता रहा, सो क्रियमाण कर्म के नष्ट हो जाने से संचित उदय होने की अयोग्यता होगयी ॥ ८४ ॥

प्रारब्धि नशानी भोग करि, आगामी सत बोध।
को रक्षै सन्मुख करै, संचित नष्ट विरोध ॥८९॥

प्रारब्धकर्म तो भोग करके नष्ट हो गया और अगामी (क्रियमाण) स्वरूप बोधकी धारणा से समाप्त होगया। फिर संचित की कौन रक्षा करे और कौन जीव के सम्मुख करे। अतएव विरोध पड़ जाने से बोधवान् के संचितकर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ८९ ॥

त्रिविधि कर्म का ध्वंस भा, जीव मुक्त निज देश।
सफल भयो पुरुषार्थ सब, जो गुरु बोध सँदेश ॥९०॥

इसप्रकार बोधवान के तीनों कर्मों का अन्त हो जाता है और जीव सबसे मुक्त होकर निजदेश अर्थात् स्व-स्वरूप में ठहर जाता है। यहाँ ही सब कर्तव्यों की सफलता हो जाती है, जो सद्गुरु श्री कबीर साहेब का बोध-उपदेश है ॥ ९० ॥

इस प्रकार सद्गुरु श्रीविशाल साहेब सद्ग्रन्थ मुक्तिद्वार के पाँचवें और छठे प्रकरण निवृत्ति साहस शतक तथा शान्ति

शतक में पचीसों प्रसंगों द्वारा बोध-वैराग्य बल से संचित कर्मों का नाश होना वर्णन किये हैं।

(१३) श्रीकृष्णजी गीता में कहते हैं—

श्लोक—यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥
(गीता ४।३७)

'हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईन्धन को भस्म मय कर देता है, वैसे ज्ञान रूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देता है।'

(१४) योगवासिष्ठ ग्रन्थ में वसिष्ठजी श्रीरामजी से कहते हैं—'ये पूर्व जन्म का पौरुष (संस्कार) मुझे प्रेरित करके विशेष परिस्थिति में डाल देते हैं, इस प्रकार की बुद्धि को बल पूर्वक कुचल डालना चाहिये। क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रयत्न से अधिक प्रबल नहीं है।'

(१५) श्रीनिर्मल साहेब की भी ज्ञानाग्नि से संचितादि कर्म नाश विषयक अमोघ घोषणा सुन लीजिये—

(क) 'दया सिन्धु हैं नाम दाया करेंगे, सबै वासना एक क्षणमें जरेंगे।
निर्मल दास की भास क्षण में छुटैंगे, परखा सबै जाल माया टुटैंगे॥
(निर्मल सत्यज्ञान प्रभाकर पृष्ठ ११८)

(ख) निर्मल दास अध्यास कदीमी, छूटि गयी निज पद पहिचान्यो।
(निर्मल स० पृष्ठ ९)

(ग) देह द्वार वे जक्त ज्ञान है, जक्त ज्ञान है दुख दाई।
देह सम्बन्ध छुटैगा तब, जब सकल वासना जरि जाई ॥
(निर्मल स० पृष्ठ १३८)

(घ) जीव असंख्य अनादि हैं, ईश ब्रह्म कोउ नाहिं।
कर्म बीज सब दग्ध हो, मुक्ति में संशय नाहिं ॥
(निर्मल स० पृष्ठ १४३)

'ज्ञान-वैराग्य से कर्मों के सर्व बीज अवश्य दग्ध होंगे, मुक्ति में किञ्चित् मात्र भी संशय नहीं है।' इत्यादि कितनी निर्णीत वाणी ? कितना साहस ? कितनी वीरता ? इन सब युक्ति-प्रमाणों का भाव युक्त अनुभव करने से ही पता चलता है। प्राचीन या अर्वाचीन पारख निष्ठ आप्त वक्तावों की वाणियों से यह निश्चय हो जाता है कि बोध-वैराग्य बल से स्थितिवान् के संचितादि कर्मों का अवश्य नाश हो जाता है और विवेक-बुद्धि से भी समझा जाता है कि मनुष्य की प्रियता जिधर से सर्वथा हट गयी, उधर की वासना-क्रिया नहीं रह जाती और जिधर प्रियता हो गयी, उसी की वासना-क्रिया दृढ़ हो जाती है। अतः जगत् प्रियता सर्वथा त्याग कर स्वरूप प्रियता दृढ़ हो जाने पर कौन-से हेतु पुर्नजन्म के होंगे ?

आप्तवक्ताओं के प्रमाणों से, सत्संग से और अपनी बुद्धि से यह समझ लेना चाहिये कि मनुष्य शरीर स्वतन्त्र कर्म-भूमिका होने से इसमें सत्सङ्ग, सद्साधन एवं सद्पुरुषार्थ द्वारा सर्व मलीन संस्कार मिटा कर मोक्ष लाभ प्राप्त किया

जा सकता है। मुक्ति स्थिति कुछ परोक्ष नहीं बल्कि विवेकियों को बिल्कुल अपरोक्ष है। गुण-लक्षण द्वारा मुक्त पुरुषों को यह जाना जा सकता है कि ये मुक्त पुरुष हैं। इस जन्म के कौन कहे सदा-सर्वदा [अनादि काल] के अज्ञान, अध्यास, कर्मादि तथा असंख्यों सञ्चितों का प्रबल बोध-वैराग्यादि साधनों से सर्वथा नाश कर मोक्ष लाभ प्राप्त किया जा सकता है। प्रथम का पापी-से-पापी, दुराचारी-से-दुराचारी तथा रोगी-ऋणी सर्वथा दुराचरण-दोष त्यागकर और सत्संग-सद्-बोध द्वारा जीवन पर्यन्त सद्साधनों में निरन्तर रत रहकर अपना कल्याण कर सकता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसलिये जिज्ञासु और मुमुक्षुओं को सत्सङ्ग सत्साधन में डटकर पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष प्राप्त करना चाहिये।

विवेकवान् पारखी सन्तों के निर्णय-प्रमाणों से तथा स्वयं अनुभव युक्ति से यह दृढ़ातिदृढ़ निश्चय है कि अखण्ड बोध-वैराग्य की धारणा से सर्व संचितादि कर्मबीजों का नाश होकर जीव का मोक्ष अवश्य होता है। परन्तु जिनके मत में "विवेक-वैराग्य से संचित कर्म दग्ध होते हैं या नहीं दग्ध होते हैं"—यह विवाद युक्त एवं सन्देह पूर्ण हो। उनको भी 'विवेक-वैराग्य से संचित कर्म अवश्य नष्ट होते हैं।'—यह मानना ही श्रेष्ठ, प्रबल, युक्तियुक्त और कल्याणकारी है। क्योंकि बोधाग्नि से यदि संचित कर्म दग्ध नहीं होते होंगे, तो भी बोधाग्नि से संचित कर्म दग्ध मानने से सद्पुरुषार्थ में

मन अधिक लगेगा और जितना सद्पुरुषार्थ कर लिया जायगा, उसका परिणाम लोक-परलोक में शान्ति जनक ही होगा। और "बोध-वैराग्य के पुरुषार्थ से संचित कर्म नष्ट नहीं होंगे"—ऐसा मानने से तो पहले ही से मन आलसी, हतोत्साह और निकम्मा बना रहेगा। क्योंकि यह मन में प्रथम से ही निश्चय रहेगा कि हम कितना भी पुरुषार्थ करें, तो भी पूर्व के संचित कर्म नष्ट होकर मोक्ष हो नहीं सकता। फिर अधिक पुरुषार्थ क्यों करना ? इत्यादि अकर्मण्यता उत्पन्न होगी। इसलिए बोधाग्नि से संचित न नाश मानने में मुमुक्षु-जगत् की बड़ी हानि है। और यदि सचमुच बोधाग्नि से संचित कर्म नष्ट होते होंगे, तो 'बोध-वैराग्य से संचित नष्ट होते हैं' इस निश्चयता से संचित नष्ट होकर बोधनिष्ठ का अवश्य कल्याण हो जायगा। और 'बोधाग्नि से सञ्चित कर्म नष्ट होते हैं।'—ऐसी निश्चयता जिनकी होगी ही नहीं, उनके तो सञ्चित किसी दशा में भी कदापि नहीं नष्ट होंगे, क्योंकि निश्चय मानन्दी अनुसार ही मनुष्य की स्थिति (दशा) होती है। 'बोध-वैराग्य से सञ्चित-कर्म नहीं नष्ट होते हैं' ऐसा मानने से किसी का लाभ तो होगा नहीं, सिवा हानि के और 'बोध-वैराग्य से सञ्चित कर्म अवश्य नष्ट होते हैं' ऐसा मानने से किसी की हानि तो होगी नहीं, सिवा लाभ के। अतः बोधाग्नि से सञ्चित कर्मों का नाश मानना ही गृहस्थ-विरक्त सबके लिये परम् लाभकारी है।

प्रश्न—उपर्युक्त आपके निर्णय से तो यह ज्ञात होता है कि आपको भी बोधाग्नि से सञ्चित कर्मों के नाश होने में सन्देह है। केवल पुरुषार्थ में उत्साह बढ़ाने के लिये ही बोधाग्नि से सञ्चित नष्ट मानते हैं ?

उत्तर—उपरोक्त निर्णीत वचनों पर ध्यान न देने से यह आप की शंका बेसमझ की है। मैंने इस बात को प्रथम ही कह दिया है कि "विवेकवान् पारखी सन्तों के निर्णय प्रमाणों से तथा स्वयं अनुभव युक्ति से यह दृढ़ातिदृढ़ निश्चय है कि अखण्ड बोध-वैराग्यादि की धारणा से सर्व सञ्चितादि कर्म बीजों का नाश होकर जीव का मोक्ष अवश्य होगा।" अतः सिद्धान्ती को बोधाग्नि से सञ्चित कर्म नाश होने में पक्का निश्चय है।

१५—जीवनन्मुक्तों के विषय में प्रश्नोत्तर।

प्रश्न—जीवन्मुक्त पुरुष ग्रन्थ बना सकते हैं या नहीं ?

उत्तर—जीवन्मुक्त पुरुष ग्रन्थ बना सकते हैं। क्योंकि यदि यह माना जाय कि जीवन्मुक्त पुरुष ग्रन्थ नहीं बना सकते, तो यह मानना पड़ेगा कि पूर्व से आज तक जितने सद्ग्रन्थ बने हैं और आगे जितने बनेंगे, वे सब (सद्ग्रन्थ) किसी जीवन्मुक्त द्वारा नहीं बनाये गये हैं और नहीं बनाये जायँगे। तब यहाँ यह प्रश्न आ जायगा कि सद्ग्रन्थों में जो जीवन्मुक्ति के लक्षण आदि वर्णन हैं। वे अनुभव युक्त एवं प्रमाणित नहीं हैं। क्योंकि जो जीवन्मुक्त होकर जीवन्मुक्ति के अपरोक्ष

अनुभव से युक्त है, वह तो ग्रन्थ बनाकर उसका उसमें कदापि वर्णन कर नहीं सकता और जो जीवन्मुक्त नहीं है, वह जीवन्मुक्ति के अनुभव से सर्वथा हीन है। फिर उसने ग्रन्थ बना कर जो जीवन्मुक्ति स्थिति आदि का वर्णन किया है, वह बिना अनुभव के केवल 'अटकल पच्चू' अर्थात् अपने मन की कल्पना ही लिखा है। अतएव प्रमाणिक जीवन्मुक्त पुरुष द्वारा कोई ग्रन्थ न बनने से और कोई ग्रन्थ अनुभवयुक्त प्रमाणित न होने से सब सद्ग्रन्थ सन्देहपूर्ण और त्याज्य हो जायँगे।

इसलिये यही मानना योग्य है और वास्तव में ऐसा है ही कि जीवन्मुक्त पुरुष ग्रन्थ बना सकते हैं। यह बात प्रमाण से भी सिद्ध है। बड़े-बड़े जीवन्मुक्त पुरुष पूर्व में हुए हैं और वर्तमान में हैं, वे जीवन्मुक्ति-स्थिति काल में ग्रन्थ बनाये हैं और बना रहे हैं। अनुभव युक्ति से भी यही बात सिद्ध होती है। जीवन्मुक्त पुरुष मौखिक (जबानी) शिक्षा देते ही हैं। जब मुख से शिक्षा देते हैं। तब उसी बात को कागज पर लिख देने में कौन-सी आपत्ति है? यदि कहिये वे मुख से भी शिक्षा नहीं देते, तो यह बतलाइये कि व्यवहारिक बात कुछ बोलते हैं या नहीं? यदि व्यवहारिक बात बोलते हैं, तो क्या कल्याण सम्बन्धी शिक्षा की बात बोलने में ही पाप है? यदि कहिये वे किसी प्रकार वाक्य बोलते ही नहीं। तो क्या केवल मौन हो जाना ही जीवन्मुक्ति मानी जायगी? हाँ जीवन्मुक्त पुरुष वाक्य संयमी होते हैं, यथार्थ वक्ता होते हैं। परन्तु

सर्वथा मौन हो जाते हैं--यह किसी विवेकी-पारखी सन्तों का निर्णय नहीं है।

यह बात अवश्य है कि पूर्ण उपरामता युक्त जब स्वरूप-स्थिति की दृढ़ धारणा एवं जीवन्मुक्ति दशा प्राप्त हो जाती है, तब शरीर-संसारादि दृश्यों की निःसारता, दुःखरूपता एवं उसका सम्बन्ध-सुख-मिथ्यात्व और अपने स्वरूप का नित्यत्व चेतनत्व, निश्चिन्तित्व एवं शान्तित्व का दृढ़ मनन होने से उन पुरुषों को कुछ बोलने, कुछ करने आदि कोई क्रिया की इच्छा नहीं होती। यहाँ तक कि कुछ चिन्तन करना तक उन्हें दुःख रूप प्रतीत होता है। परन्तु परीक्षा एवं विवेक दृष्टि से वे यह जानते हैं कि शरीर-मन क्रियाशील होने से प्रारब्ध रहे तक मन, वाणी और इन्द्रियों में क्रिया अवश्य होगी और निवृत्ति लेते-लेते भी कुछ-न-कुछ प्राणी-पदार्थ और व्यवहार का सम्बन्ध भी जीवन पर्यन्त होता रहेगा। इसीलिये शरीर रहे तक जीवन्मुक्त पुरुष को भी मन, वाणी और शरीर में सद्-क्रिया को स्थान देना अनिवार्य हो जाता है।

जीवन्मुक्त पुरुष के मन, वाणी और इन्द्रियों में कोई ऐसी क्रिया होती ही नहीं कि जो किसी मनोवांछित पदार्थ की प्राप्ति के लिये हो। क्योंकि उनके अन्तःकरण में कोई वांछा शेष नहीं रहती। उनकी सभी वांछायें पूर्ण विनष्ट हो चुकी रहती हैं। उनके मन, वाणी और इन्द्रियों में जो क्रिया होती है, वह केवल नैराश्य प्रारब्ध भोग वर्तमान के लिये या न्याय-

युक्त परोपकार के लिये या विवेक-वैराग्ययुक्त मनोद्रष्टा-स्वरूप-स्थितिकार्य के लिये—जो कि उनकी स्वभावसिद्ध दशा है ।

उपर्युक्त बात को प्रकारान्तर से पुनः दोहरायी जाती है—अन्य साधकों से जीवन्मुक्त पुरुष की मानसिक दशा ही विलक्षण हो जाती है और शरीर रहे तक जीवन्मुक्त पुरुष का भी अन्तःकरण, इन्द्रिय और बाहरी दृश्यों से सम्बन्ध रहता है । अतः शरीर रहे तक मन का सर्वथा निष्क्रिय और शून्य हो जाना असम्भव है । शरीर रहे तक मन सर्वथा निष्क्रिय नहीं होता, साधन से शुद्ध (निर्विषय) हो जाता है । स्वरूप-बोध पूर्वक मन का शुद्ध हो जाना ही जीवन्मुक्ति स्थिति है । जब शरीर रहे तक शरीर-मन से क्रिया होगी, तब इसीलिये सद्क्रियाशीलता की आवश्यकता है । यदि सद्क्रिया नहीं की जायगी, तो आलस्य-प्रमादयुक्त असद्क्रिया होने लगेगी । अतएव जीवन्मुक्त पुरुष को भी जीवन पर्यन्त सद्पुरुषार्थ सम्पन्न और मन-माया से सावधान रहना पड़ता है ।

हाँ ! यह अवश्य कहा जायगा कि स्वरूपस्थिति स्वभाव-सिद्ध होने से उन्हें बाह्य सब साधनों की कोई बड़ी आवश्य-कता नहीं रहती । निरन्त स्वरूप चिन्तन में तृप्त रहना उनका परम् पुरुषार्थ है ।

अतः सुखाध्यास का सर्वथा लक्ष्य त्याग कर केवल शरीर-निर्वाह के लिये निर्वाहिक क्रिया करना, खाना-पीना, वस्त्र पहनना, उठना, बैठना, चलना-फिरना और सोना-जागना

आदि तथा मान-बड़ाई सर्वथा त्याग कर केवल स्व-पर कल्याणार्थ उचित सद्-शिक्षा देना, सत्संग करना, निर्णय-विवेक करना जीवन्मुक्ति स्थिति का बाधक नहीं किन्तु सर्वथा साधक है।

एक साधाक होता है, दूसरा सिद्ध साधक होता है। जीवन्मुक्ति को जो नहीं प्राप्त है, अभी उसकी प्राप्ति के लिये जो साधन कर रहा है—वह साधक है और जो जीवन्मुक्ति दशा को प्राप्त कर केवल उस जीवन्मुक्ति की सुरक्षा निमित्त या स्वरूपस्थिति स्वभावसिद्ध हो जाने से सद्पुरुषार्थ निष्ठ है—वह सिद्ध साधक है। जीवन्मुक्ति प्राप्ति के लिये साधन अवस्था में साधक को परिश्रम पूर्वक पुरुषार्थ अधिक करना पड़ता है और जीवन्मुक्त पुरुष को अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। उन्हें स्वस्वरूप का चिन्तन सदैव स्वाभाविक-सा रहा करता है। जैसे हर व्यक्ति को अपने शारीरिक नाम—रूप का हर समय स्वाभाविक ज्ञान रहता है। साधक पुरुषार्थ करके जिस स्वरूप स्थिति को चाहता है, जीवन्मुक्त पुरुष को वह स्वरूप स्थिति स्वभावसिद्ध हो जाती है। परन्तु अन्तःकरण, इन्द्रिय और जगत् दृश्यों का जीवन पर्यन्त सम्बन्ध रहने से जीवन्मुक्त पुरुष को भी शरीर रहे तक मन माया से सावधान रहना पड़ता है।

यद्यपि जीवन्मुक्त पुरुष को अपने ध्येय की पूर्ति के लिये ग्रन्थ बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि उनका

जो ध्येय है (स्वरूपस्थिति) वह तो स्वभावसिद्ध ही हो गया है। अब केवल उसी विचार में जीवन पर्यन्त अनुरक्त रहना है[1]। बल्कि ग्रन्थ आदि लिखना उनको भार सरूप ही है। परन्तु "परख परखावन जीवन केरा। यह व्यवहार यथार्थ निवेरा॥ पं०" के न्यायानुसार परोपकार[2] के लिये कुछ कष्ट सहकर ग्रन्थ आदि जीवन्मुक्त पुरुष बना देते हैं। यथार्थ मार्ग यदि वे अनुभविक पुरुष नहीं दर्शायेंगे तो अन्य कौन दर्शायेगा?

प्रश्न—जो ग्रन्थ बनाता है, वह उसके प्रकाश और प्रचार-प्रसार की वासना अवश्य रखता होगा। अतः इस न्याय से ग्रन्थ बनाना जीवन्मुक्त पुरुष को बन्धनप्रद हो जायगा?

उत्तर—यद्यपि जो ग्रन्थ बनाता है, वह यह कभी नहीं चाहता कि 'मैं जो ग्रन्थ बनाता हूँ उसका प्रकाश और प्रचार-प्रसार न हो। इसको कोई न पढ़े और न जाने-माने।' ग्रन्थ तो परोपकार दृष्टि से अधिक अन्य के लिये बनाया ही जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष भी जो ग्रन्थ बनाते हैं, उनकी सहज-

---

१—सदा विवेक करो मोरे भाई। जौ लौं देह बिखरि नहीं जाई॥

२—मोहि बोलन की सरधा नाई। तोर प्रेम वश बोलौं भाई॥
कविता होउँ न भाड़ कहाऊँ। बकवादी के निकट न जाऊँ॥
गुरुवाई औ मान बड़ाई। रिद्धि सिद्धि सब जात नशाई॥
इनमें सकल जगत अरुझाना। काल कला को मरम न जाना॥
मोते इन सबते नहिं काजा। तुम्हरी भक्ति वश कहौं उपराजा॥
(निर्णयसार)

भाव से यही दृष्टि रहती है कि इस ग्रन्थ से जगत् के अधिक-से-अधिक मनुष्यों का सुधार हो। परन्तु अपने स्थिति कार्य को त्याग कर और विकल होकर उसके प्रकाश एवं प्रचार-प्रसार के लिये कोई ऐसी वासना क्रिया जीवन्मुक्त पुरुष द्वारा नहीं होती, जो बन्धनप्रद हो। कौड़ी के लोभ से भूमण्डल का राज्य-सुख बुद्धिमान् नहीं त्यागते। इसी प्रकार मोक्ष का अक्षय राज्य-सुख तुच्छ मान-बड़ाई के बदले जीवन्मुक्त पुरुष नहीं त्यागते।

सारांश—जीवन्मुक्त पुरुष द्वारा ग्रन्थ बन सकते हैं अतः बने हैं और बनते हैं तथा बनेंगे। उनके प्रचार-प्रसार की सहजिक भावना मान-बड़ाई और आसक्ति के त्याग पूर्वक होने से जीवन्मुक्त को कोई बन्धन नहीं है। जीवन्मुक्त पुरुष द्वारा ऐसे कोई कार्य नहीं होते, जिससे उन्हें पश्चाताप और चिन्ता हो। शरीर से लेकर समग्र पिण्ड-ब्रह्माण्ड उनके लिये तृण के समान तुच्छ, त्याज्य और चिन्ता न करनेयोग्य है।

प्रश्न—ग्रन्थ लिख कर और मुख से प्रवचन करके जो अन्य लोगों को सत्योपदेश करते रहते हैं, वे अधिकांश वैसा चल नहीं पाते। केवल दूसरे के लिये ही उपदेश की झड़ी लगाते हैं। फिर उनके उपदेश कैसे माने जा सकते हैं?

उत्तर—उनके सत्योपदेश मानने में आप को कौन-सी आपत्ति है? कथन अनुसार वह स्वयं नहीं चलता, तो उसमें उसी की हानि है। परन्तु जन-समाज को सद्-शिक्षा देकर

वह अन्य के प्रति तो उपकार ही कर रहा है। जब किसी की हँसी में कही हुई बात से भी सज्जन शिक्षा ले लेते हैं और भित्त पर लिखी शिक्षा से भी अपना हित कर लेते हैं। तब उपदेशक के हितकारी उपदेश क्यों नहीं मानने चाहिये? अपने सुधार-कल्याण में यह बड़ी भारी बाधा है कि हम प्राप्त-उपदेश और साधन से अपना हित नहीं करते और दूसरों के दोषों को देखते रहते हैं। हाँ! हमें अपना कथन-आचरण समान बनाना चाहिये और अन्य के सत्योपदेश तथा सदाचरण को लेना चाहिये। अन्य के दोषों से हमें क्या आवश्यकता है?

प्रश्न—जीवन्मुक्त पुरुष के कथन और धारणा समान होते हैं या नहीं?

उत्तर—साधारण व्यक्ति जितना उपदेश करता है, उतना नहीं धारण कर पाता—यह मानना ठीक है। परन्तु पूर्ण विवेकी जीवन्मुक्त पुरुष की जितनी धारणा होती है। वह ज्यों-की-त्यों कथन में पूरी-पूरी नहीं आ सकती। क्योंकि जब मन की भावना ज्यों-की-त्यों वाणी द्वारा नहीं प्रकट की जा सकती। तब स्वरूपस्थिति दशा का मुख से पूर्ण वर्णन कैसे हो सकता है? विचार करिये! मन में किसी को डाटने-फटकारने की जितनी भावना उठती है, वह प्राणी सम्मुख मिलने पर मनोभावना का कई भाग में से कुछ ही मुख से फटकार निकलता है। प्रेमी से जितनी बात करने की भावना मन में उठती है, उसके मिलने पर उतनी बात उससे नहीं कर मिलती।

इस प्रकार जब मन की भावना का मुख से पूर्ण वर्णन नहीं होता। तब स्वरूपस्थिति का पूर्ण अनुभव जीवन्मुक्त पुरुष मुख और लेखनी द्वारा ज्यों-के-त्यों सब कैसे वर्णन कर सकते हैं। अतः जीवन्मुक्त पुरुष जितना कथन करते हैं, उससे कहीं कई गुणा अधिक उनकी हार्दिक स्थिति की धारणा होती है।

प्रश्न——क्या जीवन्मुक्त पुरुष भी कभी अपनी स्थिति से गिर सकते हैं ?

उत्तर——न्याययुक्त बात तो यही है कि जिन-जिन साधनों से जीवन्मुक्ति-स्थिति की धारणा दृढ़ है। उन-उन साधनों के त्याग देने से जीवन्मुक्त पुरुष भी अपनी स्थिति से गिर सकते हैं। क्योंकि शरीर रहे तक भुलावन प्रारब्ध[1] का सम्बन्ध है। परन्तु वास्तविक बात तो यह है कि जीवन्मुक्त पुरुष अपनी स्थिति-रक्षक साधनों को कदापि छोड़ ही नहीं सकते। क्योंकि उनमें इतनी निश्चयता, धीरता, वीरता तथा वैराग्य-बोध की प्रबल शक्ति आ जाती है कि विश्व की समस्त माया मिलकर भी उनको किञ्चिन्मात्र भी नहीं लुभा सकती। रोग-व्याधि, अपमान-निन्दा, अनादर, दुःख तथा प्रतिकूलता मिलने पर या इस साढ़े तीन हाथ की मल-मूत्र पूर्ण काया के नाश होने की दशा आने पर कौन कहे यदि उन्हें विश्व का महाप्रलय आने की दशा आ जाय, तो

१ 'सोरठा—जब तक है यह देह, प्रारब्ध भुलावन पूर्व की।
तब लग शत्रु सनेह, विनय करो यहि स्वाथ हित ॥ भव०

भी जीवन्मुक्त पुरुष अपनी स्थिति से नहीं डिग सकते। उनमें इतनी सावधानता और जाग्रत दृष्टि आ जाती है कि उनके हृदय में कभी बन्धन ठहर ही नहीं सकते। अतः जीवन्मुक्त पुरुष अपनी स्थिति से कभी भी नहीं गिर सकते हैं।

प्रश्न--जीवन्मुक्त पुरुष को यह कैसे जाना जाय कि ये जीवन्मुक्त हैं?

उत्तर--जीवन्मुक्त पुरुष की वास्तविक धारणा को तो कोई जीवन्मुक्त पुरुष ही यथार्थ रूप से जान सकते हैं। क्योंकि स्थिति सम्बन्धी दोनों का अनुभव समान है। परन्तु जिसके अन्तःकरण में श्रद्धा और विवेक है, वह भी गुण-लक्षण द्वारा जीवन्मुक्त पुरुष को जान सकता है कि ये जीवन्मुक्त हैं। परन्तु जिसके मन में शुद्ध श्रद्धा और विवेक नहीं है और मन में केवल कुतर्क-ही-कुतर्क भरे हैं। वह कदापि नहीं जान सकता।

प्रश्न—क्या जीवन्मुक्त पुरुष अपने को यह बतला सकते हैं कि मैं जीवन्मुक्त हूँ?

उत्तर—जीवन्मुक्त पुरुष को अन्य से अपने को जीवन्मुक्त बतलाने की कोई आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। क्योंकि जिसके श्रद्धा-विवेक है, वह तो उन्हें जानता ही है कि ये जीवन्मुक्त हैं और जो श्रद्धा-विवेक से हीन केवल तर्कवादी है, उससे बतलाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इसके अतिरिक्त जन-समाज। में अपने को जीवन्मुक्त उद्घोषित

करके जीवन्मुक्त को तो मोक्ष प्राप्त करना नहीं है। वे हरक्षण मुक्त ही हैं। उन्हें यह सारा जीवन एक क्षण का-सा प्रतीत होता है। उन्हें समस्त दृश्यों का सम्बन्ध ही नहीं-सा प्रतीत होता है। वे मान-बड़ाई और कल्पित सुखों को चाहते ही नहीं। बल्कि मान-बड़ाई और कल्पित सुखों को वे सरूप से भी मिथ्या ही समझते हैं। उनके लिये सारा दृश्य निरर्थक या नहीं-सा है। अतः वे अपने को जीवन्मुक्त बतलावें—इसकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। हाँ! उनका संग, उनकी वाणी, उनके गुण-लक्षण, उनकी मनोदशा की मुखाकृत, उनके आचरण-व्यवहार, भाषण और संसर्ग भावुक-प्रेमियों को बतलाते हैं कि ये जीवन्मुक्त हैं। जिसके आँख हो वह देख ले, जिसके बुद्धि हो वह समझ ले। विना आँख वाला क्या देखेगा। श्रद्धा हीन, निर्बुद्धि, अविवेकी एवं कुतर्क शील व्यक्ति क्या समझेगा जीवन्मुक्त पुरुष के जीवन्मुक्ति को!

प्रश्न—जो बाल्य अवस्था से ब्रह्मचारी है, उसकी श्रेष्ठता है और जो कुछ काल विषय भोग का सम्बन्ध करके पीछे से ज्ञान होने पर भोगों को त्याग कर ब्रह्मचर्य ग्रहण किया है, उसकी लघुता है। एवं बाल ब्रह्मचारी ही इस जीवन में पुरुषार्थ करके मुक्त हो सकता है और जो कुछ सांसारिक जीवन ग्रहण कर पीछे से त्यागी-ब्रह्मचारी हुआ है। वह इस जन्म में सम्भवतः मुक्त नहीं होगा—ऐसी शंका का क्या समाधान है?

उत्तर—बाल ब्रह्मचारी की और जिसने कुछ काल भूल

दशा में विषय भोगों का सम्बन्ध करके पीछे से ज्ञान होने पर ब्रह्मचर्य ग्रहण किया, उसकी, इन दोनों में अपेक्षा कृत न किसी की लघुता है और न किसी की श्रेष्ठता ही है। अनादि-काल से सब जीव विषयी हैं। अतः जिस समय से जिसको दृढ़तापूर्वक त्याग और ब्रह्मचर्य ग्रहण हो गया है। उसी दिन से वह निर्विषयी और बन्धन-मुक्त हो जाता है। चाहे बाल ब्रह्मचारी हो और चाहे अधेड़ ब्रह्मचारी हो। जिसके त्याग-वृत्ति की निर्बलता है। दृढ़ त्याग नहीं है, वही लघु है और बन्धन-युक्त है और जिसका दोष-दृष्टि पूर्वक विवेक सहित दृढ़ भोगों का त्याग होकर अखण्ड ब्रह्मचर्य ग्रहण है, वही श्रेष्ठ है और बन्धन-मुक्त है। चाहे वह बाल ब्रह्मचारी हो और चाहे अधेड़ ब्रह्मचारी हो।

प्रश्न—विदेह मुक्त जीव कहाँ पर रहता है ?

उत्तर—विदेह मुक्त जीव अपने आप असंग निराधार स्वरूप मात्र रहता है। उसके रहने का अन्य स्थान नहीं है। क्योंकि कारण-कार्य और आधार-आधेय सम्बन्ध जीव में नहीं है। जैसे पृथ्वी कारण है और घड़ा कार्य है। अतएव घड़ा आधेय है और पृथ्वी उसका आधार है। अर्थात् पृथ्वी रूपी कारण का घड़ा कार्य होने से पृथ्वी रूपी आधार पर ही घड़ा रूपी आधेय स्थिर रह सकता है। इस प्रकार जीव किसी अन्य कारण का कार्य नहीं है। इसलिये वह न आधेय है न अन्य आधार की उसे आवश्यकता है। अज्ञान दशा में ही अपने की

भूल से जड़-वासनाओं में मिलकर जड़-वासना और जड़-शरीर का आधार पकड़ता है। जड़-वासना और जड़-शरीर से मुक्त हो जाने पर शेष निराधार स्वतः स्थित रह जाता है। चेतन जीव में स्वाभाविक जड़-सम्बन्ध नहीं है, किन्तु केवल भूल-भ्रम वश सूर्य पर बादल आवरण न्याय है। अतः ज्ञान-वैराग्य द्वारा भूल-भ्रम के नाश हो जाने पर जीव अपने आप शुद्ध निर्विकार ही रह जाता है। यदि मुक्त जीव के निवास का अन्य स्थान या लोक माने, तो उचित नहीं। क्योंकि लोक या स्थान परिवर्तनशील होते हैं। फिर परिवर्तनशील स्थान के परिवर्तन होने से जीव कहाँ रहेगा ? यदि मुक्त जीव को किसी अन्य लोक या स्थान का संयोग होना माना जायगा, तो ठीक नहीं। क्योंकि संयोगशील पदार्थों का वियोग अवश्य होता है। अतएव फिर मुक्ति स्वतन्त्र नहीं रह जायगी और पूर्ण स्वतन्त्रता ही मुक्ति का स्वरूप है। अतएव विदेह मुक्त-चेतन जीव स्थूल-सूक्ष्म सर्व जड़-तत्त्वों और जड़-भासों से रहित होकर जानने-जनाने से परे सदैव के लिये असंग, अक्रिय, निराधार, शान्त, स्थिर स्वरूप ही पूर्ण अचल रह जायगा। उसे कभी भी कहीं आना-जाना नहीं है।

पहले यह विचारना चाहिये कि मुक्ति को 'मुक्ति' कहते हैं, 'संयोग' नहीं कहते। यदि मुक्त जीव किसी का आधार लेकर रहेगा, ऐसा माने, तो फिर मुक्ति कहना व्यर्थ हो गया। तब तो संयोग कहना चाहिये। परन्तु वास्तव में सब संयोगों

का अभाव हो जाना ही मुक्ति है। फिर जो जीव मुक्त हो जाता है, वह किस पर रहता है, यह कहना व्यर्थ है। वह तो सबके संयोग से रहित निराधार, असंग अपने आप रहता है।

प्रश्न—जीवन्मुक्त पुरुष का शरीर छूटते समय जीव शरीर से बाहर निकलता है कि शरीर ही में रहजाता है ?

उत्तर—मुक्त जीव न बाहर निकलता है और न शरीर ही में रह जाता है। बाहर इसलिये नहीं निकलता कि मुक्त पुरुष का जब शरीर छूटने लगता है, तब जब हाथ-पैर-आँख इत्यादि की नाड़ियाँ आकर्षित होकर हृदय में आती हैं और हृदय की प्रारब्धि ग्रन्थि खुलती है, तो बोध-वैराग्य द्वारा प्रथम ही जड़-वासना नाश होने से प्रारब्धि ग्रन्थि के साथ-साथ ही अनादिकाल से रहा हुआ सूक्ष्म शरीर भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जब प्रारब्धिग्रन्थि खुलते ही सूक्ष्म शरीर नष्ट हो गया, तब निष्क्रिय शुद्ध जीव किसके आधार से गमन करके शरीर के बाहर निकलेगा ? यदि ऐसा माने कि शरीर छूटते समय सूक्ष्म शरीर सहित जीव स्थूल शरीर से बाहर निकल जाता है और बाहर निकल जाने के पश्चात् सूक्ष्म शरीर नष्ट होता है। तो यह युक्त नहीं, क्योंकि स्थूल शरीर में से सुरक्षित होकर जब सूक्ष्म शरीर बाहर निकल जायगा, तब बाहर उसके नाश होने का कोई हेतु ही नहीं होगा। अतएव जीवन्मुक्त जीव के स्थूल शरीर के साथ-साथ अर्थात् प्रारब्धिग्रन्थि नष्ट होने के साथ-साथ ही सूक्ष्म शरीर का भी

नाश होकर जीव अचल हो जाता है। इसलिये मुक्त जीव शरीर छूटने के काल में शरीर से बाहर नहीं निकलता। और शरीर में इसलिये नहीं रहता कि सूक्ष्म-शरीर के नष्ट हो जाने पर जीव का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रहजाता। चाहे शरीर वहीं पड़ा रहकर सड़जाय, चाहे वहाँ से कोई उसे उठा ले जाय, चाहे जो कुछ हो। दृश्य पदार्थों से सर्वथा असंग, निराधार किसी के स्पर्श संयोग से सर्वथा रहित शुद्ध विदेह जीव अचल रह जाता है।

गाड़ी के पहिये वत् पश्चिम से पूर्व की ओर पृथ्वी के घूमने की क्रिया के मत से एक घण्टा में पृथ्वी (६०) साठ हजार मील चलती है। इस मत के अनुसार पृथ्वी पर पड़ा हुआ मृतक शरीर एक मिनट में मुक्त जीव से हजारों मील दूर चला जाता है और जीव में पृथ्वी आदि किसी तत्त्व का संयोग तथा क्रिया न होनेसे जीव अचल ही रह जाता है, इस दृष्टि से भी मुक्त जीव मृतक शरीर में नहीं रहता। मुख्य बात तो यह है कि सूक्ष्म शरीर रहित विदेह मुक्त जीव सबसे सर्वथा असंग एवं निराधार रहता है। अतएव शरीर छूटते समय मुक्त जीव न शरीर के बाहर निकलता है और न शरीर के भीतर रहता है। वह अपने आप रहता है।

प्रश्न–साधु-भेषधारी, गृहस्थ, स्त्री, पुरुष, नपुंसक—कल्याण साधन करने पर भी—इनमें क्या साधु-भेषधारी ही मुक्त हो सकता है कि अन्य लोग भी ?

उत्तर—जब से ज्ञान हुआ तब से जिसने अष्ट मैथुनों को सर्वथा त्याग कर तन, मन, वचन से शुद्ध अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया है, जो सब प्राणी-पदार्थों की ममता को सर्वथा त्याग दिया है, जो किसी प्राणी से राग और द्वेष नहीं करता। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, मद तृष्णा, आशा आदि पर जिसने पूर्ण विजय पायी है। जो मन-इन्द्रियों को पूर्ण संयम में रखकर सदाचार से चलता है और जीवन-निर्वाह उदासीनता पूर्वक मध्यवर्तीय लेता है। देह से भिन्न अपने चेतन पारख स्वरूप का अंश-अंशी व्याप्य-व्यापक रहित जिसे यथार्थ बोध हो गया है। जो पारखी साधु-गुरु की विनम्र भाव से सेवा भक्ति करता है। बोध-वैराग्य के पुरुषार्थ से जिसे वैराग्यवान् साधु-गुरु की संगत अत्यन्त प्रिय है। जिसे सर्व कर्म-बीजों का इसी जन्म में दग्ध होना निश्चय हो गया है। वैराग्यवान् पारखी साधु-गुरुद्वारा या स्वयं अनुभव से मोक्ष का रहस्य और विदेह मुक्ति की स्थिति का पूर्ण ज्ञान जिसे हो गया है। संसार के सब प्राणी, पदार्थ और परिस्थि-तियों से जिसके हृदय में पूर्ण वैराग्य हो गया है। जो देहा-भिमान को तृणवत् त्याग कर स्वरूप चिन्तन में विशेष रत रहता है। जिसे मोक्ष होना अपना मुख्य प्रयोजन निश्चय हो गया है। जिसे अपने मोक्ष में तनिक भी सन्देह नहीं है। अर्थात् सब आसक्ति से रहित होकर सावधानता पूर्वक स्वरूप भाव में दृढ़ होकर जो यह निःसन्देह हृदय से जानता है कि

में मुक्त हूँ—वह चाहे साधु-भेषधारी हो, चाहे गृहस्थ-भेषधारी हो, चाहे स्त्री हो या पुरुष, अथवा चाहे नपुंसक हो—उसके मोक्ष में तनिक भी सन्देह नहीं है।

साधु-आश्रम में कल्याण करने की समय और सुविधा अधिक रहती है और गृहस्थ तथा स्त्री आदि को साधन-सुविधा की कमी रहती है। इसलिये गृहस्थ या स्त्री आदि को साधन करने में कठिनता है, परन्तु असम्भव नहीं है। किन्तु ऐसा होते हुए भी गृहस्थ या स्त्री आदि को कल्याण साधन को कठिन न मानना चाहिये। क्योंकि कठिन मानने से उसमें प्रवृत्ति ही न होगी और मोक्ष की सच्ची चाह उत्पन्न हो जाने पर कल्याण-साधन किसी के लिये भी कठिन नहीं है।

यदि कोई समय, शक्ति एवं विवेक का दुरुपयोग करे तथा प्रमाद करे, तो उसका किसी दशा में भी कल्याण नहीं हो सकता। जैसे कोई साधु का भेष धर लेते हैं। उन्हें साधन करने का अधिक-से-अधिक समय है। परन्तु वे दिन-के-दिन खाने-सोने, बकवाद करने, परनिन्दा करने, परदोष देखने, वैराग्यवान् सन्तों में दोषारोपण करने, सेवा-मान, स्वाद तथा पैसा के फेर में ही दिन-रात पड़े रहने में आनन्द मानते हैं। बोध, भक्ति, वैराग्य तथा अपने कल्याण की ओर महीनों में भी भाव पूर्वक दृष्टि नहीं डालते, तो उन्हें कैसे मोक्ष प्राप्त होगा ? परन्तु जो गृहस्थी ही में रहकर वैराग्यवान् साधु-गुरु

की प्रेम पूर्वक सेवा भक्ति करता, पूर्ण ब्रह्मचारी रहता, जगत् से उपराम होकर और अपने दोषों को शोध कर कल्याण का बारम्बार विरही होता। वह प्रत्यक्ष ही अपना कल्याण-साधन कर रहा है।

इसपर यदि कोई भाई तर्क करते हैं कि जब गृहस्थी ही में मोक्ष-साधन बन जाता है, तब साधु होने की क्या आवश्यकता ? तो यह तर्क उचित नहीं है। क्योंकि यह तो पहले ही बतलाया गया है कि साधु-आश्रम में साधन करने का समय और सुविधा अधिक हैं। इसके साथ-साथ समझना चाहिये कि गृहस्थी में खटपट झंझट अधिक है, जिन कुटुम्बियों के साथ अज्ञान दशा में रहा गया है, उन्हीं के साथ पुनः रहने से प्रायः शीघ्र चित्त शुद्ध नहीं होता। साधु-भेष धारण करने से एक नया संस्कार या जन्म हो जाता है। इससे अपनी मानन्दी पलटने में सुविधा रहती है। वैराग्यवान् साधु-आश्रमी ही अपना कल्याण-साधन करते हुए और विचरण करते हुए अपने उपदेशों द्वारा जनता का कल्याण कर सकते हैं। गृहस्थी में रहते हुए लोगों का भी तो उन्हीं द्वारा कल्याण होना निश्चित हैं। अतएव योग्य पुरुषों को साधु-आश्रम ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है।

ऊपर जो यह बताया गया है कि गृहस्थी में खटपट झंझट अधिक हैं और कुटुम्बियों में रहने से प्रायः शीघ्र चित्त शुद्ध नहीं होता। ऐसा समझ कर कोई गृहस्थ या स्त्री आदि

को कल्याण-साधन से शिथिल न होना चाहिये। क्योंकि समय-साधन का दुरुपयोग करने वाले साधु-भेषधारी भी बहुत बन्धन बना लेते हैं और राग-द्वेष में भरा हुआ उनका चित्त शुद्ध नहीं होता। परन्तु जो गृहस्थी में ही रहता हुआ बहुत व्यवहार त्याग कर केवल जीवन-निर्वाह मात्र के व्यवहार कर-कराकर अधिक निवृत्ति मार्ग पुष्ट करता है, ब्रह्मचर्य, भोगों से उपरामता, साधु-सेवा-प्रेम, अपनी निरख-परख और अन्य सब साधनों में रत रहता है, वह प्रत्यक्ष ही निवृत्त और चित्त शुद्ध वाला है। "साधुभेष धारण करने से एक नया संस्कार या जन्म हो जाता है तथा मानन्दी पलटने में सुविधा रहती है"—ऐसा जो ऊपर कहा गया है, सो यह समझ कर कोई ब्रह्मचारी, गृहस्थ, स्त्री आदि को यह नहीं समझ लेना चाहिये कि "बिना साधु-भेष धारण किये कोई मानन्दी पलट ही नहीं सकता।" बहुत साधु-भेष धारियों को देखा जाता है। वे साधन में कोई उन्नतिशील नहीं रहते और कितने ही गृहस्थ, स्त्री ब्रह्मचारियों को देखा जाता है, वे बहुत कुछ साधन में आगे बढ़ जाते हैं। अतएव कल्याण का होना मुख्य पुरुषार्थ पर ही निर्भर है, कोई भेष विशेष से नहीं। हाँ! कल्याण-साधन सम्पन्न साधु-भेष की श्रेष्ठता अवश्य है। अब कोई इस शिक्षा का दुरुपयोग करे अर्थात् गृहस्थ, स्त्री, ब्रह्मचारी सोचे कि बिना साधु-भेष धारण किये ही और गृहस्थी ही में रहकर हम कल्याण रूप हैं, फिर किसी साधु-गुरु की सेवा क्यों करें,

क्यों किसी से नम्रता लें ? तो वास्तव में ऐसा सोचने वाला महा अज्ञानी अधःपतनशील है। वैराग्यवान् साधु-गुरु की सेवा-भक्ति किये बिना साधु-भेषधारी साधक का ही कल्याण नहीं हो सकता। फिर गृहस्थ, स्त्री आदि का कैसे हो जायगा ? अतएव वैराग्यवान् साधु-गुरु की सेवा-भक्ति करते हुए, समय-समय से वैराग्यवान् साधन-प्रवीण सन्तों से अपने कल्याण-साधन सम्बन्धी सम्मति लेते हुए, अधिक प्रवृत्ति की झंझट त्याग कर आवश्यकीय व्यवहार रखकर पूर्ण ब्रह्मचर्य पूर्वक कल्याण-साधन में जो तत्पर रहता है, उसी का कल्याण होता है। जिन-जिन रहस्यों के धारण से कल्याण होता है, उत्तर देते हुए आरम्भ ही में ऊपर उसका वर्णन किया गया है, उसपर दृष्टि डालने से सब शंकावों का समाधान हो जायगा।

सारलक्ष्यांश—ऊपर वर्णित सदाचरण-सद्ज्ञान तथा पूर्ण ब्रह्मचर्यादि पूर्वक वैराग्यवान् पारखी साधु-गुरु की विनम्र भाव से सेवा-भक्ति करते हुए साधु-भेषधारी, गृहस्थ-भेषधारी, स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक—सब को उत्साह पूर्वक कल्याण-साधन में डटे रहना चाहिये। क्योंकि मनुष्य मात्र का कल्याण हो सकता है और ये सब मनुष्य ही हैं। यह भली भाँति समझ लेना चाहिये कि साधु, गृहस्थ, स्त्री आदि कोई भी हो, स्वरूपज्ञान, सदाचरण और पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन बिना किसी का कल्याण न होगा।

प्रश्न—कितने प्रकार के मोक्ष के साधक होते हैं और सबका इसी जन्म में कल्याण होता है कि नहीं ?

उत्तर—उत्तम, मध्यम और कनिष्ट—तीन प्रकार के साधक होते हैं। उत्तम वह है, जो पूर्व जन्मों का शुद्ध संस्कारी है और आज के तीव्र साधन द्वारा जगत् से पूर्ण वैराग्य करके सबके बन्धनों से मुक्त हो गया है। इस शरीर को वह साँप की केचुलि वत् अपने से पृथक् समझ कर देहाध्यास से रहित सर्वदा स्वरूप चिन्तन में ही दृढ स्थित रहता है। सुख-भोग के लिये जिसे कोई कामना-वासना और संसार-प्रियता नहीं रह गयी है। इस संसार-शरीर का सम्बन्ध जो यम-सदन रूप, विपत्तिजनक समझ कर हृदय से इसको विचार पूर्वक त्याग दिया है। स्वरूपस्थिति को पूर्ण प्राप्त कर जो सब कर्तव्य एवं प्राप्तव्य से उदासीन हो गया है। जो उसके द्वारा धर्म-प्रचार एवं सत्योपदेश आदि होते हैं, उसमें उसकी कोई कामना, मान, बड़ाई अहंता-ममता नहीं है, केवल दुखित जीवों के उद्धार के लिये ही उसके द्वारा धर्म-प्रचार एवं सत्योपदेश की चेष्टा होती है। क्योंकि ऐसे पुरुष द्वारा ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जिससे उन्हें हानि-लाभ का अनुभव करना पड़े। एक तो वे अधिक प्रवृत्ति में फँसते ही नहीं। दूसरे धर्म-प्रचार एवं सत्योपदेश रूप कार्य वे जो करते हैं, उसको भी (यद्यपि उसमें अन्य जीवों का बड़ा हित है परन्तु) अपने लिये स्वप्नवत् असार एवं खेलमात्र ही समझते हैं।

अतः उसके हानि-लाभ में वे कुछ भी हर्ष-शोक के विकार को नहीं प्राप्त होते। वे सर्वदा हर्ष-शोक रहित निराधार अपने पारख स्वरूप के भाव में स्थित रहते हैं। ऐसे पुरुष धर्म-प्रचार आदि के उतने ही कार्य में अपना हाथ बटाते हैं कि जितना अपनी स्थिति दशा को पूर्ण सम्हालते हुए कर सकें। अपनी स्थिति को छोड़कर वे कुछ भी नहीं करते। यद्यपि धर्म-प्रचार सत्योपदेश देने आदि का कार्य-भार वे न लें, तो उनको अच्छा ही रहे। परन्तु अपने कल्याण के साथ अन्य दुखित जीवों का भी कल्याण होता रहे—ऐसा भाव रखकर वे धर्म-प्रचार आदि का उचित कार्य निष्काम भाव से किया करते हैं। सब प्रपंच प्रवृत्ति एवं मान बड़ाई तथा सुख-कामना का त्याग होने से वे पुरुष महान् त्यागी एवं निष्कामी हैं। और उनके द्वारा क्रियात्मक एवं वचनात्मक उपदेश जनता को मिलने से वे पुरुष महान् कर्तव्य परायण एवं कर्मयोगी भी हैं। उन पुरुष के लेख एवं भाषण से जनता का परम् कल्याण तो होता ही है, परन्तु उनका मौन रहना भी कम शिक्षा नहीं देता। ऐसे साधक उत्तम कोटि के हैं, ये सदैव मुक्त रूप ही हैं।

दूसरे कोटि के वे साधक हैं, जो पूर्व जन्मों के कोई अधिक शुभ संस्कारी तो नहीं हैं। अथवा मठ-मन्दिरों में रहकर धर्म के व्यवहारिक कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं। परन्तु वैराग्यवान् पारखी साधु-गुरु का सत्संग करके मोक्ष स्वरूप को भलीभाँति समझ गये हैं और पुरुषार्थ साधन द्वारा ब्रह्म-

चर्य का दृढ़ पालन करते हैं, जगत् के प्रति वैराग्य भावना है। उन मठ-मन्दिरों एवं अधिक व्यवहारों को बन्धन रूप समझ कर उसके ऐश्वर्य में अहंता-ममता नहीं है। अपने लिये उसको विपत्ति जनक ही समझते हैं। जितनी भी वे प्रवृत्ति लेते हैं, वह वैराग्यवान् साधु-गुरु की सेवा के लिये या जीवों के उद्धार के लिये। कुछ अपने मान-बड़ाई या अच्छे-अच्छे खाने-पहनने एवं भोग-विलास के लिये नहीं। अहंता-ममता रहित स्वयं निरस-रूखे-फीके रहते हैं। फिर धीरे-धीरे अधिक प्रवृत्ति का भार त्यागकर निवृत्तिमार्ग को पुष्ट करते हुए मोक्ष की विरह-भावना पूर्वक साधन में रत रहते हैं। और व्यवहार को झूठा स्वप्नवत् समझ कर उसके हर्ष-शोक से पार रहकर स्वरूपस्थिति का अभ्यास करते हैं। भीतर से सब कामना त्याग कर अपने मोक्ष के विषय में पक्का निश्चय हो गया है। तो उनका भी मोक्ष हो जायगा।

तीसरे कोटि के वे साधक हैं, जिनको बोध तो ठीक-ठीक हो गया है, परन्तु बोध अनुसार यथार्थ साधन में प्रवृत्त नहीं हैं। अतः उन्हें अन्य नर-शरीर का आश्रय लेना पड़ेगा। परन्तु आगे जन्मों में उनके संस्कार-पुरुषार्थाधीन कभी कल्याण हो जायगा। अतएव मोक्ष-साधन में सब को तत्पर रहना चाहिये।

सारांश—मोक्ष के लिये सब को साहस धारण कर साधन-पुरुषार्थ करना चाहिये।

प्रश्न—जीवन्मुक्त पुरुषों के शरीर छूटते समय कैसी परिस्थित, अवस्था एवं योग्यता होनी चाहिये ?

उत्तर—यों तो वैराग्यवान् जीवन्मुक्त सन्त सदैव प्रायः एकान्त-निर्विक्षेप एवं सन्त-समाज में ही रहा करते हैं। अतः शरीर छूटते समय भी वैसी योग्यता हो—यह स्वाभाविक-सी बात है। परन्तु फिर भी कोई भी परिस्थित, अवस्था, योग्यता एवं दशा का पहले से पता नहीं रहता है और ये अपने अधीन हैं भी नहीं, प्रारब्धाधीन हैं तथा शरीर तो अचानक ही छूटता है। वास्तविक बात यह है कि वैराग्यवान् जीवन्मुक्त पुरुष इस मल-पिण्ड काया को विचार पूर्वक प्रथम ही से त्यागे रहते हैं। इसके अन्त होने के समय के लिये उन्हें किसी परिस्थित, अवस्था, दशा एवं योग्यता की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

अतएव जीवन्मुक्त पुरुषों का शरीर चाहे ठीक अवस्था में छूटे। चाहे सन्निपात में छूटे। चाहे शान्त पूर्वक शरीर छूट जाय। चाहे प्रारब्धिक कष्ट से विकल होने के कारण छटपटाते हुए शरीर छूटे। चाहे जाग्रत-अवस्था में छूटे, चाहे स्वप्न-अवस्था में छूटे और चाहे सुषुप्ति-अवस्था में शरीर छूटे। चाहे एकान्त वन-प्रान्त में शरीर छूटे। चाहे ग्राम, बाजार या शहर के भीड़भाड़ में शरीर छूटे। चाहे रेलयात्रा के धक्के में शरीर छूटे। चाहे वायुयान आरूढ़ आकाश-यात्रा में शरीर छूटे। चाहे यों ही शरीर छूटे। चाहे सर्प-बिच्छू, सिंह आदि

के द्वारा काट, छेद एवं चबाकर शरीर छूटे। चाहे किसी दुष्ट या राजा द्वारा अस्त्र-शस्त्र से काट-छेद कर शरीर छूटे। चाहे किसी सज्जन द्वारा फूल चढ़ा कर आदर-सम्मान द्वारा शरीर छूटे। चाहे दुष्टों द्वारा पत्थर, डंडा मार कर या आग में जला कर, जल में डुबाकर तथा फाँसी पर चढ़ाकर शरीर छूटे। चाहे सन्त-समाज में शरीर छूटे। चाहे घूर पर या और ही अशुद्ध स्थान पर शरीर छूटे। तात्पर्य यह कि जीवन्मुक्त पुरुषों का चाहे जिस विधि से जहाँ कहीं शरीर छूटे, उनके मोक्ष में कहीं-कभी किञ्चिन्मात्र भी हानि नहीं हो सकती—यह दृढ़ता पूर्वक समझ लेना चाहिये। अतएव शरीर छूटने काल के या आगे-पीछे के सब सन्देहों को दमन करके केवल वर्तमान में सचौटी पूर्वक अपने कल्याण-साधन में वीरता-धीरता एवं दृढ़ता के साथ लगे रहना चाहिये। तीन तापों में से किसी ताप में शरीर छूटता है और तीनों ताप प्रारब्ध-भोग हैं। जिसमें अपनी कोई स्ववशता नहीं है। मनुष्य के यथार्थ उद्देश्य (मोक्ष) की पूर्ति का साधन विवश नहीं है। वह अपने कल्याण-साधन में सर्वथा स्वतन्त्र है।

जब साधक को स्वरूपज्ञान और मोक्ष की सच्ची समझ प्राप्त हो जाय। तब उसे चाहिये कि शीघ्र ही सब के ओर से अभाव करके केवल अपने कल्याण-साधन में डट जाय। क्योंकि व्यवहार की आशा कभी भी पूरी नहीं होगी और अचानक मृत्यु आजायगी। बोध-विचार रहते हुए भी सूक्ष्म

रूप से हृदय में यह अज्ञान रहता है कि अभी तो मुझे अधिक दिन जीना है। आगे कल्याण-साधन स्वरूपस्थिति आदि कर लेंगे ? परन्तु यह बड़ा भारी प्रमाद है। जब जान गये कि संसार-शरीर असार है और अपना ज्ञान स्वरूप ही पूर्णकाम, नित्य सन्तुष्ट एवं मोक्ष रूप है। फिर ऐसे अमृत पद को त्याग कर जो संसार के पदार्थों में भटकता रहता है, वह महा अभागा, अल्पज्ञ और नादान नहीं तो क्या है ? अतएव साधक को चाहिये कि सबकी प्रियता त्यागकर और पूर्ण वैराग्यवान् बनकर कल्याण-साधन में दृढ़ता पूर्वक डट जाय। मोक्ष-कार्य सरल है, हम कर सकते हैं और अभी प्राप्त कर सकते हैं। प्राप्त भी नहीं करना है, विजाति वासना को हटाया कि मैं शेष शुद्ध चैतन्य मुक्त रूप रह गया। क्योंकि अपने स्वरूप से देश-काल की दूरी नहीं है।

१६—यथार्थ सद्गुरु का लक्षण।

कुसँग कुमार्ग से जीव बचावैं।
युक्ति भेद दै शरण लगावैं ॥ २७ ॥

बुरे संग और बुरे पथ से जीवों को (वे सद्गुरुदेव) बचाते हैं। उपाय और मर्म बतला कर शरण में लगा लेते हैं ॥ २७॥

प्रश्न—कुसंग-कुमार्ग किसे कहते हैं और उनसे जीवों को बचाना क्या है ?

उत्तर— चोर-बदमाशों का संग, व्यभिचारियों का संग,

मद्य-मांस गाँजा-भाँग बीड़ी-सिगरेट चरस-तमाकू आदि दुर्व्यसन धारण करने वालों का संग, अधिक खर्चीलों, नाच-सिनेमा के प्रेमियों, फैसनासक्तों, कुचेष्टाप्रिय लोगों का संग, माता-पिता और गुरुजनों से विरोध रखने वालों, कर्तव्य-हीन आलसियों का संग, जड़ से भिन्न अविनाशी चैतन्य, अज्ञान कर्म वश पुनर्जन्म, वासना त्याग से मोक्ष, धर्म-परमार्थ, सन्त-गुरु की भक्ति-सत्संग आदि न मानने वाले नास्तिक जड़वादी तथा दुराचारियों का संग, विद्या-धन, पद-यौवन आदि के मदी प्रमादियों का संग। अत्यन्त विषयासक्त पामरों का संग, त्यागी पुरुषों के लिये स्त्री मात्र का संग, मुक्ति इच्छुक निर्विषयी स्त्रियों के लिये पुरुषों का संग, गृहस्थ पुरुषों के लिये परायी स्त्रियों का संग, गृहस्थ स्त्रियों के लिये पराये पुरुषों का संग—ये सब कुसंग हैं। बल्कि जिन-जिन प्राणी-पदार्थ, देश-समाज, स्थान-भूमिका के सम्बन्ध से अपने मन में काम, क्रोध, लोभ तथा भय आदि विकारों की उत्पत्ति हो और भक्ति-धर्म, बोध वैराग्यादि परमार्थ में शिथिलता उत्पन्न हो—वे सब कुसंग हैं।

चोरी करना, घूसखोरी ठगाई धूर्ताई करना, किसी प्राणी का वध करना, किसी को जाल में फाँस देना, व्यभिचार करना, झूठ बोलना, झूठी साक्षी देना, चुगुली करना, परनिन्दा करना, दुर्व्यसन धारण करना, माता-पिता की सेवा न करना और गुरुजनों से विरुद्ध चलना, पराये का अहित करना,

जबर्दस्ती करना, मांस मद्यादि भक्षण करना, लोक निन्दित कर्मों को करना, बिना हेतु सब से झगड़ा करते रहना, जीवों को सताते रहना—यह सब कुमार्ग अर्थात् कुकर्म हैं। उपर्युक्त कुसंग-कुमार्ग (कुकर्मों) से सद् शिक्षा देकर जीवों को सर्वथा छुड़ा लेना ही उनसे बचाना है।

प्रश्न—युक्ति भेद देकर शरण में लगाना क्या है ?

उत्तर—युक्ति कहते हैं उपाय को और भेद कहते हैं मर्म या वास्तविकता को। दुर्व्यसन-दुराचरण तथा संसारासक्ति से छुड़ा कर कल्याण-पथ में लगाने के लिये जो यह शिक्षा देना है कि—कुसंग त्याग करना चाहिये, नित्य सत्संग करना चाहिये, सद्ग्रन्थ पढ़ना चाहिये, विना परीक्षा किये मन का कहा नहीं करना चाहिये, अपने दोषों को देख कर अपना सुधार करना चाहिये इत्यादि—यही जिज्ञासु को युक्ति अर्थात् उपाय बतलाना है। और दुर्व्यसन धारण से अपने तन, मन, धन तथा धर्म का नाश होता है, दुराचरण से लोक-परलोक दोनों बिगड़ते हैं। संसार का प्रेम स्वार्थ मय है, कोई किसी का नहीं है। विषयासक्ति में अविद्या तृष्णा की वृद्धि, क्षणभंगुरता, अतृप्ति, शोक-मोह, परवशता, जन्म-मरण आदि (इतने-इतने) दोष हैं। परमार्थ-पथ निर्विघ्न, निर्दोष, सदैव सुखमय है और यही मानव-जन्म का लाभ है, इत्यादि बातों की जिज्ञासुवों को जो शिक्षा देना है। अर्थात् जगत् जाल में जीव की हानि और परमार्थ में

लाभ का मर्म बतलाना ही भेद देना है। इस प्रकार युक्ति और भेद देकर दुर्व्यसन-दुराचरण से छुड़ा कर सत्संग-भक्ति में तथा संसारासक्ति से छुड़ा कर परमार्थ में भलीभाँति जिज्ञासु को लगाना ही युक्ति-भेद देकर शरण में लगाना है । इस प्रकार कुसंग-कुमार्ग से बचाकर और युक्ति-भेद देकर जीवों को अपनी शरण में सद्गुरुदेव लगा लेते हैं।

यह सब लच्छण जेहि में नाहीं।
गुरु पद योग न जानिय ताहीं ॥२८॥

पूर्वोक्त सब सद्लक्षण जिन गुरुओं में न हों, उनको गुरु-मर्यादा के योग्य नहीं जानना चाहिये ॥ २८ ॥

प्रश्न—इस चौपाई का स्पष्ट भाव दर्शाइये ?

उत्तर—चौपाई २२ से २७ तक में जो सच्चे सद्गुरु के वर्णन किये हुए शुभ लक्षण हैं, सो यह सब सद्गुण लक्षण जिन (बने) गुरु में न घटित हों उनको गुरु-मर्यादा के योग्य नहीं समझना चाहिये। नकली गुरु के लक्षण ये हैं—झाड़ फूँक करके कल्पित भूत-प्रेतादि उतारने वाले, यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र तथा दुवा-तबीजादि करने वाले, दुवा-भभूत देने वाले, गाँजा-भाँग-तमाकू आदि दुर्व्यसन धारण करने वाले, शुद्ध आचरण स्वच्छता से न रहने वाले, ज्ञान-वैराग्य न होते हुए केवल ज्ञान-वैराग्यादि तथा सिद्धि एवं भेष आदि का दम्भ दिखाकर शिष्यों से धन-पैसा ठगने वाले, लोभी, क्रोधी, विषयी, नाना अनु-

मान-कल्पना इत्यादि में जो भ्रमित है। यथार्थ स्वरूपज्ञान से रहित पूर्वोक्त २२ से २७ चौपाई में वर्णित सद्गुणों से जो हीन है, वह सच्चा सद्गुरु नहीं है। बल्कि जीवों को अधिक अज्ञान में फँसाकर भ्रमाने वाला है।

तातें परखि परखि तेहि त्यागो।
दुख भञ्जन साहेब पद लागो ॥२९॥

इसलिये यथार्थ गुरु-लक्षण से हीन खानी वाणी तथा दुराचरणों से ग्रसित बने गुरुवों को परख-परख करके त्याग दो। और सम्पूर्ण सङ्कटों को मिटाने वाले सच्चे गुरु स्वामी के चरणों में लगो ॥ २९ ॥

प्रश्न—ऊपर का भाव कृपया स्पष्ट समझाइए ?

उत्तर—यदि आप को सच्चे सद्गुरु मिल गये हैं और उनसे यदि यथार्थ बोध आप को हो गया है, तो आप को श्रद्धा प्रेम पूर्वक तन, मन, धन से गुरु-सेवी होकर अपना कल्याण करना चाहिये। परन्तु यदि आप को बने गुरु ही मिले हैं, सच्चे सद्गुरु नहीं मिले हैं। तो आप उनके आज्ञा में न रह कर अवश्य सच्चे सद्गुरु की खोज कीजिये। कोई प्यासा मनुष्य किसी कूयें के पास जाता है, यदि वहाँ का जल गन्दा रहता है, तो दूसरे कूयें की खोज करता है। इस प्रकार जब तक शुद्ध जल वाला कूवाँ नहीं मिलता, तब तक बुद्धिमान् मनुष्य अन्य कूयें की खोज करता रहता है। जब शुद्ध कूवाँ

का जल पाता है, तब पीकर तृप्त होता है। इस प्रकार जब तक सच्चे सद्गुरु न मिल जायँ, तब तक उनकी खोज करते रहना चाहिये। दत्तात्रेय जी ने चौबीस गुरु करके यह प्रमाणित कर दिया कि जब तक बोधवान् सद्गुरु द्वारा बोध न मिले, तब तक सद्गुरु की खोज करे।

प्रथम गुरु माता-पिता माने जाते हैं। दूसरे गुरु दूध पिलाने वाली दाई मानी जाती है। तीसरे गुरु नामकरण करने वाला माना जाता है। चौथे गुरु विद्या पढ़ाने वाला माना जाता है। पाँचवें गुरु द्विजातियों में यज्ञोपवीत में गायत्री का उपदेशक आचार्य माना जाता है। छठवें गुरु राम नाम या शिव आदि का मन्त्र सुनाने वाला जगत् में माना जाता है और सातवाँ गुरु ब्रह्मबोधक को लोग मानते हैं। इस प्रकार जगत् में एक-एक विषय के एक-एक गुरु होते हैं। परन्तु इनसे पृथक् सच्चे पारखी सद्गुरु की खोज करके मनुष्य को सद्बोध प्राप्त करना चाहिये।

मनुष्य के स्वभाव में जो किञ्चित् त्रुटि रह सकती है, ऐसे किञ्चित् स्वभाव महापुरुषों में देख कर न तो उसकी टीका-टिप्पणी (नुक्ताचीनी) करनी चाहिये और न तो उसका अनुकरण ही करना चाहिये। परन्तु यदि जिन्हें गुरु माना गया है वे विषयासक्त, भ्रमिक एवं ठग कुछ दिन में जानने में आवें, तो उनका त्याग करने में किञ्चित् भी सन्देह-भय नहीं करना चाहिये। ऐसे गुरु के त्याग देने में पाप नहीं है

बल्कि पुण्य है। भ्रमिक-विषयासक्त का त्याग ही कर देना पुण्य है, न त्यागना पाप है।

कुचालों का अनुकरण (नकल) न करते हुए कुचाली माता-पिता की सेवा रक्षा की जा सकती है। परन्तु कुचाली गुरु को तो दूर ही से त्याग करना परम् कर्तव्य है। कहा है—

साखी—गुरू किया है देह का, सद्गुरु चीन्हा नाहिं।
भवसागर के बीच में, फिर फिर गोता खाहिं ॥१॥
जा गुरु ते भ्रम ना मिटै, भ्रान्ति न जिव का जाय।
सो गुरु झूठा जानिये, त्यागत देर न लाय ॥२॥
झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजै बार।
द्वार न पावे शब्द का, भटकै बारम्बार ॥३॥
साँचे गुरु के पक्ष में, मन को दे ठहराय।
चंचल से निश्चल भया, नहिं आवे नहिं जाय ॥४॥
(साखी-संग्रह)

कोई तो गुरु खोजते हैं जो ब्राह्मणादिक जाति का हो। कोई खोजते हैं जो सुन्दर समवस्यक (समान अवस्था वाला) हो, उसे गुरु बनावें। कोई ऐसे गुरु को खोजते हैं, जो पुत्र धन देवे। कोई ऐसे गुरु को खोजते हैं, जो भूत-प्रेत झाड़े या दवा-दर्पण करता हो। कोई ऐसे गुरु को खोजते हैं, जो गाँजा-भाँग पीता हो, जिससे गुरुद्वारा जाने पर या गुरु के आगमन पर गाँजा-भाँग पीने को मिले, कोई ऐसे गुरु खोजते हैं जो मुकदमेबाज और लट्ठबाज हो जो समय पर काम

आवे, कोई ऐसे गुरु करते हैं जिन गुरू के वंश अपने कुल में गुरु होते आये हैं, उन्हीं कुल-गुरु को। चाहे वे अबोधी, विषया-सक्त और महा अल्पज्ञ हों। अतएव इन भ्रमों को त्याग कर सद्‌लक्षण युक्त सद्‌गुरु की खोज करनी चाहिये।

प्रश्न—सच्चा सद्‌गुरु कौन है ?

उत्तर—चौपाई २२ से २७ तक सच्चे सद्‌गुरु का लक्षण वर्णन किया गया है। उसे पुनः भली भाँति मनन करके जान लीजिये।

दया क्षमा सद्‌गुण के धामा।
बसे तहाँ नाशै सब कामा॥ ३०॥

दया-क्षमादि सम्पूर्ण सद्‌गुणों के मन्दिर सच्चे पारखी सद्‌गुरु का स्वरूपज्ञान जिस जिज्ञासु के अन्तःकरण में बस जाता है, उसकी जगत् सम्बन्धी सब इच्छायें समाप्त हो जाती हैं॥ ३०॥

प्रश्न—इस चौपाई का स्पष्ट भाव दर्शाइए ?

उत्तर—मनुष्य, पशु, पक्षी और कीड़े आदि चार खानि-यों के देहधारी प्राणियों की भरसक किसी प्रकार हिंसा न करके बल्कि उनका हित चाहना—दया है। अपने ऊपर अपराध करने वालों से किसी प्रकार बदला न लेकर यथासम्भव एवं यथाशक्ति अपने मन, वच, कर्म से उस अपराधी का भला ही चाहना— क्षमा है। इस दया-क्षमा और अन्य भी सत्य,

धैर्य, विचार, विवेक, वैराग्यादि समस्त सद्गुणों से वे सच्चे सद्गुरु युक्त होते हैं। उन सद्गुरु का उपदेश किया हुआ सद्गुण सम्पन्न स्वरूपज्ञान जिस जिज्ञासु के अन्तःकरण में निवास करता है, उस जिज्ञासु के अन्तःकरण की सांसारिक मनःकल्पित भोग सम्बन्धी समस्त कामनायें नाश हो जाती हैं। वह परम् सन्तोष को प्राप्त हो जाता है।

अभय स्वरूप जीव अविनाशी।
ताहि जानि स्थिति अभिलाषी ॥ ३१ ॥

अपना चैतन्य स्वरूप जीव निर्भय और अविनाशी है। जिसे जान करके वह जिज्ञासु अन्तिम स्वरूप स्थिति (मोक्ष) का इच्छुक हो जाता है ॥ ३१ ॥

प्रश्न—अपना स्वरूप निर्भय और अविनाशी कैसे है ?

उत्तर—कुटुम्ब के वियोग का भय, मान-मर्यादा की हानि का भय, कल्पित भूत-प्रेत का भय, चोर-डाकू का भय, हिंसक जन्तु का भय, रोगादि लगने का भय तथा मृत्यु इत्यादि के जितने भय हैं, सब शरीर-सम्बन्धी और अज्ञान से हैं। अपने निश्चित शुद्ध चैतन्य पारख स्वरूप में ये सब कोई भय नहीं हैं। क्योंकि उसमें न तन है न मन है न कोई चिन्तन ही है। इस चैतन्य जीव की कभी उत्पत्ति नहीं हुई है, इसलिये इसका कभी नाश भी नहीं हो सकता। यह अनादि वस्तु है और आगे अनन्तकाल तक (सदैव) रहेगा। इसलिये अपना चैतन्य स्वरूप जीव निर्भय और अविनाशी है।

प्रश्न—तिसको जानकर स्थिति का अभिलाषी होना क्या है?

उत्तर—सच्चे सद्गुरु के उपदेश द्वारा जब जिज्ञासु यह जान जाता है कि अपना स्वरूप निर्भय, निष्काम और अविनाशी है। ये बाह्य व्यवहार प्रपंच देह ही से सम्बन्धित हैं और देह भी नाशवान् जड़ वस्तु हम से भिन्न ही है। अतः इन बाह्य वस्तुवों के वियोग-हानि में न तो मुझे भय ही करना चाहिये और न तो इसमें मेरे परमार्थ स्वरूप की हानि ही है। काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय आदि समस्त विकारों का सम्बन्ध मन से होता है। फिर मन से पृथक् होकर सावधानता पूर्वक मन की समस्त क्रियावों को देखते रहने से देहोपाधिक दुःखमय समस्त विकारों का शमन होता रहेगा, इत्यादि बातें समझ कर स्वरूप लक्ष्य पूर्वक मन प्रवाह से पृथक् रहने की धारणा रूपी "स्वरूपस्थिति" का ही जिज्ञासु इच्छुक हो जाता है। यही स्वरूप को जानकर स्थिति का अभिलाषी होना है।

गुरू की कृपा छुटै तब माया।
सफल जनम होवे गुरु दाया॥ ३२ ॥

सद्गुरु की दया से तब माया छूट जाती है, और मोक्षप्रद मनुष्य जन्म भी गुरु-कृपा से सफल होता है॥ ३२ ॥

प्रश्न—गुरु की कृपा से माया का छूटना क्या है?

उत्तर—चौपाई ३१ का भाव लेकर यहाँ कहा जाता है कि जब जिज्ञासु स्थिति का ही अभिलाषी हो जाता है तब शरीर और इन्द्रिय भोग तथा संसार का सम्बन्ध जो सुन्दर पवित्र, सुख रूप तथा सत्य समझ कर उसमें मैं मेरापन माना गया था। उसे सद्गुरु-समझ द्वारा असुन्दर, अपवित्र दुःख रूप एवं असत्य-विजाति अपने से सर्वथा भिन्न जान कर विवेक-वैराग्यादि सद् साधनों से जिज्ञासु उस विपरीत समझ (अज्ञान-अविद्या) को मिटा देता है। अपवित्र, दुःख-रूपादि शरीर और भोगों में पवित्र सुख रूपादि मानना, रूप विपरीत समझ ही से काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, अहं-कारादि विकार उत्पन्न होते थे। सो विवेक-वैराग्यादि द्वारा विपरीत समझ मिट जाने से विकारों का उठना बन्द हो जाता है। रहा देहोपाधिक मन से यदि कुछ द्वन्द्व सन्मुख हैं, तो वहाँ शेष प्रारब्ध काल में साधक साधन से मन की वृत्तियों को सूक्ष्म बना कर और मन से पृथक् रह कर साव-धानता पूर्वक मन की प्रत्येक क्रियावों को सदैव भिन्न देखने लगता है। इस प्रकार शुभाशुभ सर्व मन प्रवाहों को भिन्न देखते रहने से कामादि सर्व मन-सम्भव विकारों से जीव का सम्बन्ध छूट जाता है। इस प्रकार विपरीत समझ (अज्ञान-अविद्या) तथा तत्सम्भव कामादि मानसिक विकारों का सर्वथा नाश हो जाना ही गुरु-कृपा से माया का छूटना है।

प्रश्न—गुरु-कृपा से जन्म सफल होना क्या है ?

उत्तर—जन्म-मरण के कारण रूप अज्ञान सहित काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, राग, द्वेष, अहंकारादि मानसिक विकारों का सर्वथा नाश होकर स्वरूपस्थिति की दृढ़ प्राप्ति हो जानी ही गुरु की दया से जन्म सफल होना है।

जन्म जन्म के नाशैं रोगा।
जो गुरु शरणे जाय सुयोगा॥ ३३॥

मोक्षदायी श्रेष्ठ मनुष्य-तन रूप उत्तम योग्यता को पाकर यदि सद्गुरु शरण में मनुष्य चला जाय, तो अनेक जन्म (अनादि) की विषयासक्ति रूप व्याधियों का नाश हो जाय॥ ३३॥

प्रश्न—नर-तन प्राप्ति को उत्तम योग्यता बतला कर जन्म-जन्मान्तर के रोगों के नाश हित गुरु-शरण में जाने का आदेश देने का क्या भाव है?

उत्तर—यहाँ का भाव ऐसा है कि नर-जन्म से चूका हुआ प्राणी जब इस तन को त्याग कर अन्य तीन खानियों में जाता है, तब पता नहीं पशु-पक्षी तथा कृमि-कीटादि के कितने देहों को कितनी बार धर-धर कर पुनः इस नर-जन्म में आता है। भाव—बड़े सौभाग्य से यह उत्तम मोक्षदायी नर-जन्म पुनः कभी मिलता है। इस नर-तन में सद्गुरु से सद्बोध प्राप्त कर सत्संग-सद्ग्रन्थ और सत्यसाधनों के पुरुषार्थ द्वारा प्राणी कल्याण रूप हो सकता है। इसलिये ऐसे उत्तम योग्यता में जो असावधान न होकर सच्चे सद्गुरु की शरण

में चले जाते हैं, उनके जन्म-जन्मातर (अनादि) के लगे हुए विषय-वासना तथा अज्ञान रूपी रोग सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। फिर तो जो अनादि काल से सर्व दुःखों से रहित होने की इच्छा थी, वह पूर्ण हो जाती है। जीव दुःख-द्वन्द्वों से छूट कर मुक्त हो जाता है।

गुरु बिन सुख स्वप्नेहु जग नाहीं।
भरमि भरमि दुख अमित सहाहीं ॥ ३४ ॥

सच्चे सद्गुरु की शरण और ज्ञान बिना इस संसार में मनुष्य को स्वप्न में भी स्थिर और निर्भय सुख नहीं है। बल्कि गुरु बिना भटक-भटक करके अपार कष्टों को सहना पड़ता है ॥ ३४ ॥

प्रश्न—गुरु बिना इस संसार में मनुष्य को स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता और भटक-भटक कर अनेक कष्टों को सहता है—इस कथन का क्या भाव है ?

उत्तर—जिस विषय भोग-क्रिया के अनुभव को मनुष्य सत्य सुख मानता है; वह एक विचार से भय पूर्ण अल्प सुख है और पूर्ण विवेक से वह माना हुआ सुख ही स्पष्ट विकट दुःख है। भोग-क्रिया के अनुभव काल में भी उसकी अवधि शीघ्र समाप्त होने का भय लगा रहता है। भोग और इन्द्रिय क्षणभंगुर तथा अपूर्ण होने से थोड़े ही काल विषय भोगे जा सकते हैं। इसलिये यह सुख भयमिश्रित और अल्प है। भोग

बड़े परिश्रम से, बड़ी विवशता लेने पर थोड़े-से प्राप्त होते हैं। मन में वासना उठती है—"सब से विलक्षण अत्यन्त श्रेष्ठ रूप-सौंदर्य तथा लावण्य-माधुर्य मय अनेक बालायें, मन्दिर, सेज, वाहन, द्रव्य, आज्ञाकारी सेवक, शासन एवं समस्त बल, बुद्धि तथा विद्या मुझे प्राप्त हों। मेरा शरीर भी सबसे विलक्षण, सर्वोत्तम रूप-सौंदर्य, लावण्य-माधुर्य मय, अत्यन्त बलवान्, वीर्यवान् हो। इन्द्रियाँ अघिस, अकट और अशिथिल हों—निरन्तर भोगों को भोगा करूँ, परन्तु शरीर-इन्द्रियों में शिथिलता और निर्बलता किञ्चित् भी न आये। मेरे शरीर में क्षय, वृद्धि, रोग तथा मरणादि न आये। इसी शरीर से अविनाशी होकर समस्त ऐश्वर्य भोगों को यथा संकल्प निरन्तर भोगा करूँ।" परन्तु यह कब होने वाला है? अविद्या वश भटकते हुए मनुष्य के चित्त में जो एक क्षण में वासना उत्पन्न हो जाती है, उसकी पूर्ति करोड़ों जन्मों में होनी असम्भव है। मन के अनुकूल न होना यह महान दुःख है, भोगासक्ति से तृष्णा-चिन्ता क्षय-रोग-व्याधि घेर लेते हैं। सांसारिक्ता के सारे बन्धन ग्रस लेते हैं और बारम्बार जन्म-मरण तथा देहोपाधिक समस्त द्वन्द्वों का सदैव सिकार होना पड़ता है। इसलिये पूर्ण विवेक से यह माना हुआ विषय-भोग-सुख ही स्पष्ट विकट दुःख रूप है। जब तक सच्चे सद्गुरु नहीं मिलते और उनसे यथार्थ ज्ञान नहीं मिलता तब तक इन दुःख पूर्ण माने हुए सुख भोगों की वास्तविकता जानने में नहीं आती है।

इसके वास्तविक ज्ञान बिना त्याग भी कैसे हो ? दुःख पूर्ण भोगों में फँसकर मनुष्य जीवन भर तथा सदा-सर्वदा भटकता हुआ अथाह कष्टों को सहता है और स्थिर, निर्भय सुख उसे कभी भी नहीं मिलता।

प्रश्न—स्थिर और निर्भय सुख क्या है ?

उत्तर—जो इन्द्रियभोग से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, जो बाह्य सांसारिक पदार्थों की आवश्यकता से सर्वथा रहित है, जहाँ मानसिक विकारों का सर्वथा शमन है, जहाँ विषयासक्ति, कामना और तृष्णा का अत्यन्त नाश है; जहाँ केवल स्वतः चैतन्य स्वरूप में ही पूर्ण सन्तोष की प्राप्ति है। वही स्थिर और निर्भय सुख है। बाह्य व्यक्ति, वस्तु, परिस्थित, दशा एवं पद पर स्थिर तथा निर्भय सुख निर्भर नहीं है।

सब दुख से जो छूटन चाहे।
तो गुरु शरण में प्रीति निबाहे ॥३५॥

सम्पूर्ण कष्टों से यदि सर्वथा मुक्त होने की इच्छा हो, तो विवेकी सद्गुरु की शरण (अधीनता) में जीवन पर्यन्त निरन्तर प्रीति पालन करे ॥ ३५ ॥

प्रश्न—सब दुःख क्या है ?

उत्तर—गर्भ का वास दुःख है, जन्म का लेना दुःख है, शिशु अवस्था दुःखमय है, अबोध चञ्चलता युक्त बाल्यपन दुःखमय है; विषयान्धता, उद्विग्नतापूर्ण कौमार तथा यौवन

अवस्था दुःख पूर्ण है, चिन्तादि का केन्द्र अधेड़ अवस्था दुःख-मय है; निर्बलता और रोग-शोक से ग्रसित वृद्ध अवस्था दुःख रूप है; मृत्यु होना दुःख रूप है; आवागमन दुःख है; प्रिय वियोग, शोक-चिन्ता, रोग-व्याधि होना दुःख है, दरिद्रता एवं धनान्धता दुःख है; विषयासक्ति, अज्ञान, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, लज्जा, घृणा तथा अहंकारादि सर्व मनोविकार दुःखमय हैं; वासना-चिन्ता और जन्मादि के हेतु रूप होने से समस्त ऐश्वर्य-भोग दुःख पूर्ण हैं; सारांश—प्रतीत होता हुआ अज्ञान रचित यह सारा-का-सारा जीवन तथा चिन्तन होते हुए बाह्य क्रिया, भाव, पदार्थ सब दुःखपूर्ण हैं।

उपर्युक्त सम्पूर्ण दुःखों से सर्वथा छूट कर सर्वदा के लिये यदि मनुष्य अविनाशी शान्ति चाहे, तो विवेक-वैराग्यादि सद्‌गुण सम्पन्न सच्चे सद्‌गुरु की शरण में जीवन पर्यन्त प्रेम निबाहे।

प्रश्न—सद्‌गुरु शरण क्या है ?

उत्तर—विवेक-वैराग्यादि सर्व सद्‌गुण सम्पन्न जिन सद्‌गुरु तथा श्रेष्ठ सन्त के द्वारा अपने को बोध-विचार प्राप्त हुआ उनकी आज्ञानुसार वाम-वञ्चकादि कुसंगतों से सर्वथा रहित रह कर, उन्हीं के सत्संग में सदैव निवास करके सद्ग्रन्थ-अध्ययन, एकान्त-सेवन विवेकादि साधनों में रत रहना। शक्ति भर उन सद्‌गुरु तथा सन्तों के लियें भोजन-भण्डार सेवा-टहल इत्यादि करना और उन्हीं के आज्ञानुसार रहन-सहन

संयोग वियोग रूप अपना सारा व्यवहार भी रखना। उनके विवेकवती मनसा के विरुद्ध कुछ भी न करके सदैव उनका आज्ञाकारी बने रहना ही सद्गुरु शरण है। इसके अतिरिक्त—

योग्यतानुसार—विवेकवान् सद्गुरु-सन्तों का समय-समय से सत्संग-समागम करते हुए कहीं भी सज्जन-भक्तों में विचरते हुए या कहीं ठहर कर सम्मुख मिले हुए योग्य अधिकारी जिज्ञासुवों को उचित, निर्दोष, अनुद्वेग तथा समता पूर्वक सद्शिक्षा देते हुए निराश्र प्रारब्ध वर्तमान रखकर यथा प्राप्त निर्वाहिक वस्तुवों में अधिक का त्याग करते हुए नैराश्यता युक्त शुद्धता पूर्वक बर्तना। बाम-वंचकादि कुसंगों से रहित सद्ग्रन्थअध्ययन, एकान्तवास, वाक्यसंयम, मनोद्रष्टा, अपने गुण-दोषों की परीक्षा, बोध-वैराग्यादि सद्साधन करते हुए स्थिति-रत रहना। यह भी सद्गुरु शरण है। तात्पर्य यह कि चाहे सद् गुरु के साथ या सन्त-समाज में रहे, चाहे योग्यतानुसार अकेले एवं एक-दो सन्त-सज्जन के साथ पृथक विचरन्त रहे, गुरु-न्यायानुसार विवेक पूर्वक आचरण रखना ही--सद् गुरुशरण है।

प्रश्न—सद् गुरुशरण में प्रेम निबाहना क्या है?

उत्तर—साधन-समझ की कमी वश अधिक विषयासक्ति की भावना उठने से, जन-समाज के राग-द्वेष रूप द्वन्द्वों से, सम्बन्ध दोष में कुछ खटपट हो जाने से, सम्बन्ध में स्वभाव न मिलने से, रोग-व्याधि में ग्रसित होने से, अपमान-निन्दा-

अनादर की प्राप्ति से, साधन में पूर्ण उन्नति शीघ्र न मिलने से तथा मानसिक विकारों के उठने से जो एक कायरता पूर्ण मन में विकार उत्पन्न होता है कि मैं अब परमार्थ-पथ को पूर्ण नहीं निभा पाऊँगा। इस कायरता को साहस और वीरता पूर्वक सर्वथा त्यागते हुए ऊपर जो दो विधि सद्गुरु शरण बतलाये गये हैं, उनके समस्त आचरणों को आदर प्रीति और उत्साह पूर्वक निरन्तर पालन करते रहना ही सद्गुरु शरण में प्रेम निबाहना है।

प्रश्न—गृहस्थ-भक्तों के लिये सद्गुरु शरण क्या है ?

उत्तर—चोरी, हिंसा, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबर्दस्ती, मांस-मद्यादि अभक्ष्य-सेवन, अनुमान-कल्पना, तथा पर पीड़न आदि समस्त पाप कर्मों को त्याग कर विवेकशील सच्चे सद्गुरु से शिक्षा-उपदेश तथा कण्ठी आदि शुद्ध भेष धारण करना। तन, मन वचन से निरहंकारी होकर द्रव्य, अन्न, जल, वस्त्र शरीर आदि से यथाशक्ति एवं यथायोग्य सद्-गुरु-सन्तों की सेवा करना। स्तुति करना, सद् ग्रन्थ पढ़ना, शरीर, वस्त्र, घर, पात्रादि जल-मिट्टी से खूब स्वच्छ रखना। जल छान कर पीना, जीवहिंसा भरसक बचाना। माता-पिता, बड़े-बूढ़ों की सेवा करना। सब से समता पूर्वक रहना आदि सद्गुरु-सन्तों के उपदेशानुसार तथा गृह-धर्म अनुसार चलकर स्व-रूप-ज्ञान पूर्वक परमार्थ कमाना ही गृहस्थ भक्तों के लिये सद्-गुरु-शरण है।

प्रश्न—सद्गुरु-शरण में गृहस्थों को प्रेम निबाहना क्या है ?

उत्तर—सद्गुरु-शरण भक्ति धारण करने के पश्चात् कुटुम्ब का वियोग, धन की हानि, रोग-व्याधि हो जाने से, कुटुम्बियों के भय से, किसी कुसंगी के द्वारा भक्ति में हानि दिखलाने से, किसी कुटुम्बी या ग्रामवासी के त्यागी हो जाने से, अधिक व्यवहार की प्रवृत्ति से तथा किसी को परमार्थ-भक्ति से गिरते देखकर जो मनुष्य सत्संग-भक्ति से अपनी हानि समझ कर भक्ति और सद्गुरु-शरण छोड़ने लगता है। सो वहाँ संयोग-वियोग सुख-दुःखों को अपने पूर्व नर-जन्मों के कर्म-फल समझ कर तथा कुसंग-सुसंग और समझ-संस्कार वश किसी को गिरते-उठते समझकर धर्म-भक्ति के लिये किसी की घुड़की-धमकी से न डर कर, किसी के बहकावे में न आकर, भक्ति-धर्म को लोक परलोक में सब प्रकार लाभकारी ही मान कर और सर्व विघ्नों को तृण वत् हटा कर ऊपर वर्णन किये हुए सद्गुरु-शरण-भक्ति के आचरणों में सदैव लगे रहना ही सद्गुरु-शरण में गृहस्थों को प्रेम निबाहना है।

प्रश्न—गुरु अपना आचरण कैसे रखते हैं ?

उत्तर—जो लोग समाज के गुरु हैं और मर्यादा को प्राप्त हैं, वे अपने आचरण को प्रयत्न और चिन्ता पूर्वक अधिक गम्भीर रखते हैं। कारण कि-(१) अपना आचरण गम्भीर श्रेष्ठ बनाने से मुख्य अपना कल्याण तो होता ही है। (२)

साथ-साथ जनता का उसमें बड़ा उपकार है क्योंकि समाज में जो व्यवस्थापक, गुरु या आचार्य होते हैं, समाज के बनने-बिगड़ने का उन्हीं के ऊपर उत्तरदायित्व होता है। (३) अगुवा जैसे चलता है, समाज पर वही प्रभाव पड़ता है। (४) अगुवा अस्तव्यस्त होने से समाज श्रद्धा हीन होकर अव्यवस्थित हो जाता है। (५) अगुवा आदर्श रूप होने से समाज का समुचित सुधार होता है। अतएव अगुवा (गुरु-आचार्य-समाज व्यवस्थापक) पूर्ण सदाचरण सम्पन्न होते हैं। उन सदाचरणों में कुछ निम्न लिखित हैं।

(१) प्रत्येक व्यवहारों और वार्तालापों में वे यह ध्यान रखते हैं कि जान बूझकर असत्य भाषण न होने पावे। (२) बातें कह कर अन्याय पूर्वक बदली न जायँ। (३) किसी के ज्ञान-विचार मान-बड़ाई एवं पुजापा-कीर्ति को देख-सुन कर किञ्चिन्मात्र ईर्ष्या-जलन वे नहीं करते। (४) समाज-सेवा के लिये समुचित उदारता रखते--लोभ का बिल्कुल त्याग करते हैं। (५) अच्छे-अच्छे भोजन वस्त्र तथा वस्तुओं की कामना बिल्कुल त्याग देते, समाज को मिले या न मिले, परन्तु हमें अच्छे-अच्छे भोजन वस्त्र एवं वस्तुयें मिलनी चाहिये--ऐसी भावना वे बिल्कुल त्याग कर अपना उदासीन व्यवहार रखते हैं। सारांश—सुखाध्यास और विलासिता की वस्तुवों का वे त्याग करते हैं। (६) अखण्ड ब्रह्मचारी और वैराग्यवान् होते हैं। (७) ज्ञान, बुद्धि, मान, बड़ाई तथा

पद और अगुवापन आदि का किञ्चिन्मात्र भी अभिमान नहीं रखते। (८) अपने को समाज का मालिक न मानकर समाज का सेवक मानते हैं। (९) योग्य मर्यादा पालन करने में आलस्य नहीं करते। (क्योंकि बड़े लोगों के मर्यादा पालन का समाज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। यदि बड़े लोग मर्यादा न पालन करें, तो छोटे तो और निडर हो जायँ) (१०) वे सहन-शील और क्षमालु अधिक होते हैं। समुद्र के समान ही वे गम्भीर होते हैं। परन्तु इसके साथ-साथ-(११) ऐसा नहीं होने पाता कि समाज में अन्याय-पाप होते देख कर उधर ध्यान ही न देवें। बल्कि अन्याय पर उचित न्याय या सुधार और कुसंग का बिल्कुल कटिबद्धता से त्याग करते हैं। (१२) शिष्यों की संख्या बढ़ाने की कामना का बिल्कुल त्याग रखते हैं। जिस शिष्य में शिष्यत्व आ जावे, उसी को साधु भेष देने का कभी (देर में) विचार करते हैं। (१३) शीघ्रता-चञ्चलता का त्याग करते हैं। (१४) समाज के किसी व्यक्ति विशेष को वे कोई कार्य करने-कराने के लिये सौंपते हैं, उस कार्य में, यदि किसी प्रकार हानि हो जाय तो वे कभी उसे कोसते नहीं (बोली-ताना नहीं मारते) कि 'तूने काम खराब कर दिया' काम बनने-बिगड़ने वाला ही है। वे समझते हैं कि क्या हमसे कोई काम नहीं बिगड़ता ? (१५) 'गल्ती अपने से हो' परन्तु उस गल्ती का दोष दूसरे पर मढ़ कर स्वयं निर्दोष बनना—इसका वे सर्वथा त्याग रखते हैं। (१६) नैरा-

श्य, निष्काम, व्यवहार प्रपंच से उदासीनता, धन-संग्रह का त्याग, राग द्वेष-ममता और परायों के दोष-दर्शन का त्याग- इन सद्गुणों से वे युक्त होते हैं। (१७) नर-तन का फल और वैराग्य लेने का फल केवल कल्याण प्राप्त करना है। मान-बड़ाई, जगत् प्रपंच की प्रवृत्ति उसका फल नहीं है। इसके अतिरिक्त हम बहुतों को कल्याण की शिक्षा देते हैं। अतः प्रथम शीघ्र-से-शीघ्र मुझे कल्याण स्वरूप में प्रतिष्ठित होने की महान् आवश्यकता है, इन बातों का निरन्तर गम्भीरता पूर्वक विचार कर वे कर्तव्य-निष्ठ रहते हैं। (१८) केवल कुछ ही सदाचरण और मान-बड़ाई की प्राप्ति में हमें भूल नहीं जाना चाहिये। हमारा ध्येय तो जीवन्मुक्ति-प्राप्ति है। उसकी प्राप्ति बिना हम बिल्कुल हल्के हैं। ऐसा विचार कर चारों ओर से अभाव करके निष्काम-निष्प्रपंचादि रहस्यों को वे पुष्ट कर और जीवन्मुक्त होकर विचरते हैं (१९) निष्क्रिय-निश्चिन्त जीवन्मुक्त स्थिति में विघ्न उपस्थित करने वाले वस्तु-प्राणी, आचरण-स्वभाव आदि कोई कुछ भी हो, उसका निर्दयता पूर्वक तृण वत् तत्क्षण त्याग करते हैं। क्योंकि कल्याणार्थी के लिये स्वरूप स्थिति के अतिरिक्त कुछ भी अत्याग नहीं है। अर्थात् जीव-न्मुक्त के लिये संसार-शरीरादि सारा दृश्य तुच्छ और त्याज्य है। 'अञ्जन कहा आँख जेहि फूटे, बहुतक कहौं कहाँ लों।' जिस घट में पूर्ण गुरुपद धारण है, वहाँ के सब आचरण विल-क्षण कल्याणप्रद एवं स्व-पर हितकारक होते हैं।

१७–गुरु महिमा के दृष्टान्त प्रमाण

सब इतिहास प्रमाण अनेका।
गुरु बिन रहित होय नहीं शोका ॥ ३६ ॥

सब धार्मिक इतिहास कह रहे हैं, अनेक प्रमाण सद्ग्रन्थों में भरे पड़े हैं कि सद्गुरु की शरण, भक्ति एवं ज्ञान बिना मनुष्य दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

प्रश्न—इसके विषय में कुछ इतिहास प्रमाण का वर्णन कीजिये ?

उत्तर—इतिहास विश्राम सागर से—एक ग्राम में एक पंडित जी स्त्री सहित रहते थे, स्त्री का नाम सुन्दरी था और पण्डित जी का नाम कृष्णदत्त था। दोनों बड़े सन्त-सेवी और दानी थे, परन्तु गुरु-भक्त अभी नहीं हुए थे। एक बार नारद जी आये, उस समय पण्डित जी घर पर नहीं थे। सुन्दरी ने नारद जी का प्रेम पूर्वक चरण धोकर चरणोदक लिया तथा आसन दिया और स्वच्छ स्वादिष्ट भोजन बना कर खिलाया और बड़ा आदर सत्कार किया। जब भोजन करके नारद जी आसन पर जा बैठे, तब सुन्दरी की उपासना प्रेम और सेवा देख कर उसकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—धन्य हैं तुम्हारे सद्गुरु ! जिन्होंने तुम्हें इस प्रकार सन्तों की सेवा करने को शिक्षा दिया है। सुन्दरी ने कहा—हे सन्त भगवन् ! अभी हमारे कोई सद्गुरु नहीं हैं, अभी हम दोनों प्राणी गुरु-भक्त नहीं हुए हैं। इतना वचन सुनते ही नारद

जी बहुत दुखी हुए और अलग जाकर सारा किया हुआ भोजन वमन (उल्टी) कर दिये। सुन्दरी ने इसका कारण पूछा। नारद जी ने कहा—तू गुरु-भक्त अभी नहीं हुई है, अतः तुम्हारे साकट के हाथ का बनाया भोजन करना मुझे उचित नहीं था। परन्तु अज्ञात वश मैंने कर लिया था। इसी लिये भोजन को वमन कर दिया। गुरु-भक्ति बिना हानि तथा गुरु-भक्ति से लाभ होना अनेक प्रसंगों से नारद जी ने सुन्दरी को समझाया। नारद जी की बात सुन्दरी के मन में बैठ जाने से वह तुरन्त नारद जी से माला मन्त्र लेकर गुरु-भक्त हो गयी।

नारद जी के चले जाने के पश्चात् पण्डित कृष्णदत्त जी बाहर से आये और सुन्दरी के गले में कण्ठी-माला देख कर कहा कि माला-उतार दो और भक्ति-भाव छोड़ दो, नहीं तो मैं तलवार लेकर तुम्हारे अङ्ग-अङ्ग को काट कर नदी में फेंक दूँगा। सुन्दरी ने दृढ़ता पूर्वक कहा—एक दिन इस नश्वर शरीर का नाश अवश्य होगा। अतः शरीर नाश के भय से मैं भक्ति नहीं छोड़ सकती। यदि मैं कोई बुरा कर्म किये होती तो आप के कहने पर तुरन्त उसे त्याग देती और जो प्रायश्चित्त करने को आप कहते वह मैं सहर्ष करती। परन्तु मैंने जो कुछ किया है आप और मेरे तथा सब के लिये कल्याणकारी ही है। अतः प्राण रहे तक मैं भक्ति नहीं त्याग सकती। आप को जो कुछ करना हो कीजिये। पण्डित कृष्ण

दत्त सोचने लगे कि यदि मैं इसको मार डालता हूँ, तो मुझे हत्या लगेगी और उसके दण्ड में राजा द्वारा मेरी भी हत्या करायी जा सकती है। और यदि घर से इसे निकाल देता हूँ, तो हमारा धर्म जाता है और जगत् में हमारी पतिहास होगी, इत्यादि इस प्रकार के सोच-विचार करते-करते उनके चित्त का पाप कुछ शान्त हुआ और उधर सुन्दरी तो अपने भक्ति में दृढ़-निष्ठा युक्त सलग्न थी ही।

पण्डित जी अभी तक साकट ही थे, अतः सुन्दरी जब भोजन बनाती, तब भोजन बना कर एक थाली में परोस कर चौका में एक ओर पृथक् उन पण्डित जी को दूरसे दे देती। और उनके भोजन कर लेने के पश्चात् उनकी थाली और लोटा माज कर पृथक् ताख में रख देती। जब से सुन्दरी भक्त हो गयी, तब से कृष्ण दत्त की जूठी थाली में कभी नहीं भोजन करती। और जूठी थाली में भोजन करने को कौन कहे अपना भोजन तथा बर्तन तक कृष्ण दत्त को नहीं छुवाती थी[1]। और कृष्ण दत्त का सम्बन्ध स्पर्श सब सुन्दरी ने त्याग दिया। यह सब अपना अपमान समझ कर कृष्ण दत्त ने सुन्दरी से कहा—तू मेरा अपमान क्यों करती है? सुन्दरी

१—स्त्री-पुरुष में यदि कोई माला-मन्त्र लेकर भक्त हो गया हो और कोई न हुआ हो, परन्तु माला-मन्त्र न लेते हुए भी यदि मांस-मद्यादि का त्याग कर वह सदाचारी है, तो उसके हाथ का भोजन करने में स्त्री-पुरुष आदि कुटुम्बी को परस्पर कोई आपत्ति नहीं है।

बोली—आप हमारे पूज्य हैं फिर आप का अपमान मैं क्यों करूँगी ? तात्पर्य यह है कि मैं गुरु-भक्त हो गयी हूँ और आप अभी साकट (अभक्त) ही बने हैं। अतः आप साकट का स्पर्श सम्बन्ध और आप का स्पर्श किया हुआ भोजनादि मैं कैसे ग्रहण कर सकती हूँ ? कृष्णदत्त जी अपना अपमान मान कर बहुत ग्लानि किये और सुन्दरी से कहा कि अब गुरुदेव के आने पर मैं भी गुरु-भक्त हो जाऊँगा।

संयोग वश नारद जी विचरते हुए पुनः एक दिन आ पहुँचे। सुन्दरी ने उनका आदर सत्कार किया। भोजनादि कर लेने के पश्चात् जब आसन पर नारद जी जा विराजे तब सुन्दरी ने पण्डित कृष्णदत्त के विषय में कहा और कृष्णदत्त ने भी जाकर हाथ जोड़ विनम्र शब्दों में कहा--गुरुवर ! कृपया हमें भी आप अपनी शरणों में लगा लीजिये। नारद जी ने कहा—जैसी इच्छा हो ! कृष्णदत्त ने सोचा, जाकर तालाब में स्नान कर आऊँ तब शिक्षा-मन्त्र लूँ। धोती लेकर तालाब की ओर पण्डित जी जा ही रहे थे कि उपरोहित पण्डित जी मिल गये और इनसे पूछे—आप कहाँ जा रहे हैं ? इन्होंने अपना समाचार कह सुनाया। उपरोहित पण्डित ने कहा—अभी दिन ठीक नहीं है। अतः अभी भक्त न होवो। जब कातिक महीना आयेगा, तब पुनीत दिन में भक्त हो जाना। उपरोहित पण्डित के कहने में कृष्णदत्त आ गये और आकर सुन्दरी तथा नारद जी से भक्त होने के विषय में अस्वीकार

कर दिया। नारदजी चले गये। निदान कातिक के प्रथम कुँवार ही महीने में सुन्दरी और कृष्णदत्त—दोनों की मृत्यु हो गयी। भक्ति न धारण करने से पण्डित कृष्णदत्त जी हाथी की देह पाये और भक्ति के प्रताप से सुन्दरी ने एक राजा के यहाँ राज्य-कन्या होकर जन्म लिया। संयोग वश वह हाथी कुछ दिनों में खरीद कर उसी राजा के यहाँ आया। राज-कन्या जब विवाह के योग्य हो गयी, तब उसका स्वयंवर ठाना गया। बड़े-बड़े राज कुँवर राज-कन्या के पाणिग्रहण के लिये आये। यह दृश्य देखकर हाथी को अपने पूर्व-जन्म की बात स्मरण हुई और वह अपनी स्त्री सुन्दरी (राजकन्या) को दूसरे के साथ जाने की सम्भावना देखकर रोने लगा। पूर्व-जन्म की बात राज-कन्या को भी स्मरण हुई और वह जाकर हाथी के कान में कही कि— चौपाई—

तब तो रह्यो कातिक की आशा।
अब काहे न खात्यो ढाँक परासा॥ विश्रा०॥

अर्थात्—तब तो (पूर्व जन्म में) उपरोहित के बहकावे में आकर गुरु-भक्त होने के लिये कातिक महीने की आशा किये थे। नर-जन्म से चूक कर अब हाथी का शरीर धारण करके रोते क्यों हो? अब जो कर्म में है, वही ढाँक-पलास खावो।

शिक्षा—इसलिये मनुष्य को गुरु-भक्त अवश्य होना चाहिये और भक्ति धारण करने में विलम्ब भी नहीं करना चाहिये।

यद्यपि यह दृष्टान्त कल्पित है, क्योंकि पूर्व-जन्म की बात स्मरण होना अशक्य है। परन्तु इसका सारांश तो माननीय ही है; अर्थात् बिना गुरु-भक्ति के जीव का पतन होता है, अतः शीघ्र भक्ति धारण करना चाहिये।

कहावत है—नारद जी जब कि स्वयं गुरुमुख नहीं हुए थे; उस समय भी विष्णु भगवान् के दरबार में समय-समय से जाया करते थे। नारदजी के जाकर द्वार से लौटने के पश्चात् उनके बैठे हुए स्थान को विष्णु जी पुनः साफ मिट्टी से लिपवाते थे। एक बार नारद जी आये और कुछ समय रहकर लौटे; पुनः कमण्डलु के भूल जाने से दरबार में फिर आ गये। तो देखा—जहाँ मैं बैठा था वहाँ लिपवाया जा रहा है। नारदजी विष्णुजी से कारण पूछे। विष्णु जी ने कहा—आप अभी गुरु-भक्त नहीं हुए हैं। अतः आप जहाँ बैठते हैं, वहाँ की पृथ्वी अशुद्ध हो जाती है; इसलिये उसे लिपवाया जाता है। यह सुनकर नारदजी को बड़ा पश्चाताप हुआ और शीघ्र गुरु-भक्त हो गये।

इस प्रकार अनेक इतिहास हैं, सब इतिहास चुनकर लिखे जाँय, तो एक बड़ी पोथी तैयार हो जायगी। अब कुछ प्रमाण दिये जाते हैं—

गोस्वामी श्रीतुलसीदास जी कहते हैं—

"गुरु बिन भवनिधि तरै न कोई, जो विरंचि शंकर सम होई।"

"गुरु बिन होहिं कि ज्ञान, ज्ञान कि होहिं विराग बिन॥"

दोहा—"गुरु करिबो सिद्धान्त यह, होय यथारथ बोध।
अनुचित उचित लखाय उर, तुलसी मिटै विरोध ॥"
॥ तुलसी सतसई ॥

"ब्रह्मा विष्णु महेश से, जो अधिकी होय जाय।
गुरु बिन भव निधि ना तरे, कहत निगम अस गाय ॥"

सद्गुरु श्री कबीर साहेब कहते हैं—

साखी—ताकी पूरी क्यों परे, ज़ाके गुरु न लखाई बाट।
ताके बेड़ा बूड़ि हैं, फिर फिर औघट घाट ॥
गुरु सिकली गर कीजिये, मनहिं मस्कला देय।
शब्द छोलना छोलि के, चित दर्पण करि लेय ॥
॥ बीजक साखी १५२, १६० ॥

सद्गुरु श्री पूरण साहेब कहते हैं—

दोहा—जीवन के दुख मेटिया, परखायो सब जाल।
याते गुरु तव नाम यह, बन्दी छोर दयाल ॥
वारों तन मन धन सबै, पद परखावन हार।
युग अनन्त जो पचि मरै, गुरु बिन नहिं निस्तार ॥
गुरु उपमा क्या दीजिये, पटतर नाहीं कोय।
पलक पलक करौं बन्दगी, क्षिण क्षिण निरखों सोय ॥
साहेब दीन दयाल गुरु, सो पर और न कोय।
शरण आय यम से बचै, आवा गमन न होय ॥

सद्गुरु श्री विशाल साहेब भवयान में कहते हैं—

साखी-गुरु बिन ज्ञान न ऊपजे, नहिं अज्ञान विनाश ।
वन्दौं गुरुवर देव को, जिन ते भ्रम तम नाश ॥
सब जग मन के धार में, बहे जात बेहोश ।
गुरु बिन कबहुँ न पार है, कलह कल्पना जोश ॥
विषय भोग जड़ बुद्धि है, माया मोह अँधेर ।
गुरू ज्ञान परकाश बिनु, कबहुँन होय उजेर ॥
गुरु बिन नहिं स्वारथ में सुखिया ।
लहि परमार्थ न सब दुख छुटिया ॥
गुरु बिन कबहुँ न होवे शान्ती ।
गुरु बिन छूटि सकै नहिं भ्रान्ती ॥

साखी-जो दुख द्वन्द्व विनाश चहै, तो गुरु चरण में लीन ।
गुरु बिन कबहुँन चैन है, हे मन मूढ़ मलीन ॥

संस्कृत में कहा है—

श्लोक—न गुरोर्धिकं तत्त्वं न गुरोर्धिकं तपः ।
गुरोः ज्ञानात्परं नास्ति तस्मै सद्गुरवे नमः ॥ १ ॥
ध्यान मूलं गुरोर्मूर्तिः पूजा मूलं गुरोः पदम् ।
मन्त्र मूलं गुरोर्वाक्यं मोक्ष मूलं गुरोः कृपा ॥ २ ॥
गुरुर्देवो गुरुर्धर्मो गुरोनिष्ठाः परंतपः ।
गुरोः परतरं नास्ति नास्ति तत्त्वंगुरोः परम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार-गुरु महिमा के अनेकों इतिहास प्रमाण हैं ।

१८—साधु गुरु की विशेषता और विनय ।

सर्वोपरि कबीर कृपाला ।
परख बोध दै कीन्ह निहाला ॥ ३७ ॥

दयालु सद्‌गुरु श्रीकबीरसाहेब सर्व श्रेष्ठ पारखज्ञान दे करके कृतार्थ कर दिये ॥ ३७ ॥

प्रश्न—पारख ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर—द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, नास्तिकवाद, जड़वाद तथा साँच-झूठ, जड़-चैतन्यादि की जिससे यथार्थ परीक्षा होती है, उसे कहते हैं—पारखज्ञान । वह चैतन्य जीव ही का स्वाभाविक गुण है । उसी पारख ज्ञान से समस्त मत, वाद, वाणी, भाव, कल्पना, तत्त्व, पदार्थ एवं शरीरादि को पृथक् समझ कर और इन सभी से अपना चैतन्य स्वरूप भिन्न जान कर पारखी सन्त जीवन्मुक्त हो जाते हैं ।

जय जय जय गुरु साधु दयाला ।
नाशक सकल मोह भ्रम जाला ॥ ३८ ॥

हे कृपालु सन्त सद्‌गुरुदेव ! आप की जय हो, जय हो, जय हो ! समस्त आसक्ति और विपरीत समझ रूपी बन्धनों को आप नाश करने वाले हैं ॥ ३८ ॥

याते महिमा प्रकट तिहारी ।
कर्णधार भव सिन्धु के पारी ॥ ३९ ॥

इसीलिये आप की कीर्ति प्रचलित है। आप मल्लाह रूप संसार सागर से पार करने वाले हैं ॥ ३९ ॥

॥ दोहा ॥

विनय करौं दुखशमन हि न, बार बार गुरु तोहिं।
बल बुधि विद्या कछु नहीं, पार करो प्रभु मोहिं ॥४०॥

मानसिक-जन्मादिक-देहोपाधिक समस्त क्लेशों के नाश होने के लिये हे गुरुदेव! बारम्बार आप से निवेदन करता हूँ। शक्ति, समझ और ज्ञान--मेरे में कुछ नहीं है, हे स्वामिन्! संसार-सागर से मुझे पार कीजिये ॥ ४० ॥

प्रश्न—इस दोहा का स्पष्ट भाव क्या है?

उत्तर—इस दुखशमन चालीसा रूप प्रकरण की समाप्ति में पूज्य ग्रन्थकर्ता अपना शिष्यत्व भाव लेकर सद्गुरु से निवेदन करते हैं कि हे सद्गुरुदेव! मैं अनादि अविद्या वश जन्म-मरण रूप देहोपाधिक अत्यन्त कष्टों में पड़ा हूँ। इसलिये दीन-हीन हो आप से मैं पुनः-पुनः प्रार्थना करता हूँ कि यथार्थ बोध, वैराग्य, सद्गुण देकर मेरे को देहोपाधिक दुःखों से बचा लीजिये। क्योंकि जन्म-मरण को प्राप्त होना यह बड़ा ही दुःख मय है। बल अर्थात् वैराग्य की शक्ति; बुद्धि नाम बन्धनों के त्यागने अथवा त्यागे हुए एवं नवीन बन्धनों से सर्वथा-सर्वदा-सर्वत्र बचते रहने की चतुरता-समझ-अनुभव; और विद्या नाम यथार्थ ज्ञान—ये सब मेरे में नहीं हैं। हे नाथ! मेरे

अपराधों को क्षमा करते हुए अपनी शक्ति से मुझे संसार बन्धनों से मुक्त कर दीजिये।

१९—प्रकरण की महिमा।

फल-दोहा।

चालीसा दुख शमन जो, पाठ करै मन लाय।
तेहि कर सकलो आपदा, छण में जाय बिलाय ॥१॥

इस दुखशमन चालीसा का यदि कोई मन लगा करके पाठ करे, तो उसके सम्पूर्ण कष्ट क्षण में नष्ट हो जायँ॥ १ ॥

प्रश्न—इस दुखशमन चालीसा का पाठ मात्र करने से ही क्षण ही में सब दुःख नष्ट हो जायँगे—यह कथन तो उचित नहीं प्रतीत होता। यदि ऐसा होवे तो अन्य सद्ग्रन्थ और साधनादि की आवश्यकता ही नहीं है। मात्र इसी को एक बार पढ़ कर और सब दुःखों का नाश कर मनुष्य मुक्त हो जाय। इसलिये यह दोहा यथार्थ निर्णय युक्त नहीं; बल्कि अतिशयोक्ति युक्त प्रतीत होता है। यदि यथार्थ है, तो समझाइये?

उत्तर—यह दोहा अतिशयोक्ति युक्त नहीं; किन्तु यथार्थ निर्णय युक्त है। क्योंकि इस दुखशमनचालीसा प्रकरण में जो विवेक, वैराग्य, सदाचरण, गुरुरहस्य तथा स्थिति-मुक्ति आदि प्रसंगों का वर्णन है; उसमें अपने इन्द्रिय-मन को सर्वथा जोड़ कर और तद्गत होकर अध्ययन करने से अवश्य ही मनोविकार रूप काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदिक समस्त दुःखों का

तत्क्षण नाश हो जायगा। यदि अध्ययन करते हुए मानसिक दुःख बने हैं, तो समझना चाहिये इन प्रसंगों के अध्ययन में मन पूरा लगा नहीं है। सद्ग्रन्थ अध्ययन में मन पूरा लग जायगा, तो मानसिक सर्व दुःखों का नाश उसी क्षण में हो जायगा। इसमें सन्देह नहीं है। दोहा मे 'पाठ करे मन लाय' अर्थात् मन लगाकर पाठ करने को कहा गया है न कि आधे मन से। इसमें जो 'सकलो आपदा' शब्द का प्रयोग है, यह कामादिक मानसिक विकार रूप सम्पूर्ण कष्ट का ही भाव लेकर है। (प्रारब्धिक रोग रूप आपदा का नहीं) इसमें यह भी शंका करने का स्थान नहीं है कि "इसको एक बार पढ़कर और सम्पूर्ण कष्टों का नाश कर वह मनुष्य मुक्त हो जायगा—यह कैसे?" क्योंकि जब तक मन लगाकर सद्ग्रन्थ पढ़े जायँगे या विवेकादि साधनों द्वारा जब तक वे भाव मन में बने रहेंगे; तभी तक दुःखों का नाश रहेगा। अन्यथा सद्ग्रन्थ-साधनादि में पूरा मन न लगने से या सद्ग्रन्थ अध्ययन-साधनादि न करने से पुनः मानसिक दुःख घेर लेंगे। क्योंकि जब तक देहोपाधि है तब तक साधनादि की निरन्तर आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त—

इसमें यह भी शंका नहीं की जा सकती कि 'इस दोहा में अन्य सद्ग्रन्थ या साधनादि की अनावश्यकता बतलायी गयी है।' बल्कि इस दुखशमनचालीसा प्रकरण का यह दोहा फल रूप होने से दोहे में केवल इसी प्रकरण का नाम लेकर

इसके पाठ-फल की महिमा बतलायी गयी है। इसी प्रकार सब सद्ग्रन्थों की महिमा समझनी चाहिये और सद्साधनों की भी महिमा समझनी चाहिये।

इसलिये यह दोहा अतिशयोक्ति युक्त नहीं बल्कि यथार्थ निर्णीत है।

नित्य नेम यहि भाँति से, अर्थ सहित सत्संग।
धारण करि उर माहिं तेहि, सकल कामना भंग ॥२॥

इस प्रकार नित्य नियम पूर्वक अर्थों का मनन करते हुए इस प्रकरण का पाठ करना चाहिये और जो बात समझ में न आवे उसे सत्संग में समझना चाहिये। पुनः सद्गुण-भावों को हृदय में धारण करना चाहिये। फिर तिनकी समस्त सांसारिक वासनावों का नाश हो जायगा और अपने स्वरूप में जीव स्थित हो जायगा ॥ २ ॥

प्रश्न—समस्त सांसारिक वासनावों का नाश होना क्या है ?

उत्तर—कर्ता-स्वर्ग कल्पनादि, स्त्री, पुत्र, गृह, धन, मान, बड़ाई, पंच विषय भोगों, विजाति वर्ग की इच्छा-तृष्णा-आसक्ति एवं देहाभिमान—इन सबों का चित्त से अभाव (विराग) हो जाना ही समस्त सांसारिक वासनावों का नाश होना है।

प्रश्न—पूर्वोक्त वासनायें जिनकी मिट गयी हैं, वे विवेकी भी शरीर-निर्वाहिक वस्तुवों तथा प्रारब्ध-क्रिया और शिक्षा

देने-लेने एवं सद्साधन आदि की वासना रखते हैं। फिर उनकी समस्त वासनायें कहाँ मिटीं ?

उत्तर--सुखाध्यास-विषयासक्ति त्याग कर नैराश्य लक्ष्य से मुख्य शरीर-निर्वाहिक वस्तुवों की अनइच्छित-इच्छा, सोना-जागना, चलना-फिरना रूप प्रारब्ध-क्रिया की इच्छा, स्व-पर दुःख-निवृत्ति के लक्ष्य से शिक्षा देने-लेने की इच्छा; मोक्षार्थ साधन करने की इच्छा—ये सब सांसारिक वासनायें नहीं हैं। बल्कि सांसारिक वासनावों को नाश करने में हेतु रूप हैं और विवेकी को मोक्षदायी हैं। सद्गुरु श्री विशाल साहेब जी कहते हैं— साखी—

दुख छूटन इच्छा जिसे, छोड़ि इन्द्रियन भोग।
तन निर्वाहिक काज करि, काटि वासना योग॥
सो इच्छा इच्छा नहीं, वह तो इच्छा काट।
वैराग्य भक्ति स्थिति ठहर, छोड़ि जो मन की बाट॥

(मुक्तिद्वार, शान्तिशतक २९-३०)

इसलिये इन सब वासनावों के रहते हुए भी पूर्वोक्त मनःकल्पित स्त्री विषयादिक वासनावों के मिट जाने से विवेकी की समस्त सांसारिक वासनायें मिट गयी हैं—यह मानना सर्वथा उचित है।

प्रश्न—जीव का अपने स्वरूप में स्थित हो जाना क्या है ?

उत्तर—सत्संग-सद्ग्रन्थ-स्वानुभव से प्रथम ही साधक यह ज्ञान प्राप्त कर लिये रहता है कि इस शरीर से लेकर समग्र पिण्ड-ब्रह्माण्ड-पंचविषय जगत् जड़, परिणामी, दुःखमय और अपने चैतन्य पारख स्वरूप से सर्वथा दूर हैं और मेरा चैतन्य स्वरूप स्वभाव से ही अजर, अमर, निश्चल, निर्द्वन्द्व, निःसंग, निश्चिन्त और शान्त है। केवल अनादि अज्ञान से जड़-सम्बन्ध है और तिसके त्याग से जड़ से छुटकारा (मोक्ष) है। ऊपर वर्णन के प्रकार से जब समस्त सांसारिक वासनायें नाश हो जती हैं, तब जगत् के विविध पदार्थों में भटकना चित्त छोड़ देता है। अतः शान्त और बोध युक्त चित्त गुण-लक्षण सहित स्वरूप के चिन्तन ही में सदैव लगा रहता है।

तो यह जो सांसारिक वासना अभाव पूर्वक बोध निश्चय सहित शान्त चित्त से स्वरूप का निरन्तर चिन्तन है—यही जीव का अपने स्वरूप में स्थित होना है। अथवा संसार-शरीर की प्रियता सर्वथा मिटा कर स्वतः चैतन्य पारख स्वरूप में ही निरन्तर दृढ़ प्रियता हो जानी ही—जीव का अपने स्वरूप में स्थित होना है।

२०—उपसंहार।

"सूरत" निज पद प्राप्त जो, सब कारज तेहि पूर।
शेष नहीं कुछ करन को, हाजिर हाल हुजूर ॥३॥

ग्रन्थकर्ता पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय सद्गुरु श्रीरामसूरत-साहेबजी कहते हैं—पूर्वोक्त अपने स्वरूपस्थिति पद को जो

प्राप्त हो गया, उसका सब कर्तव्य पूरा हो गया, स्थिति-कर्तव्य के अतिरिक्त उसे अब कुछ भी करने को बाकी नहीं है, वह अपने आप पारख चैतन्य सरकार वर्तमान में ही स्थिति में विराजमान् है ॥ ३ ॥

प्रश्न---निजपद क्या है और उसके प्राप्त हो जाने पर सब कर्तव्य पूरा हो जाता है, बाकी कुछ करने को नहीं रहता—इस कथन का क्या भाव है ?

उत्तर—जो अपना चैतन्य पारख स्वरूप है, वही निज-पद है। जगत् अध्यास रहित बोध युक्त उस स्वरूप-चिन्तन और स्वरूप-प्रेम की निरन्तर प्राप्ति हो जानी ही—निज पद को प्राप्त होना है इस प्रकार जगत् अध्यास से रहित, स्वरूप-चिन्तन और स्वरूप-प्रियता में लीन, स्वरूपस्थ, निजपद प्राप्त-साधक के संसृति-मूल अविद्यादि सर्व दुःखों का सर्वथा नाश, हो जाता है और अजर, अमर, निश्चिन्त शान्त पारख स्वरूप में सदैव के लिये उसकी दृढ़ स्थिति हो जाती है—यही सब कर्तव्यों का पूरा होना है। फिर उसे किसी कमी की पूर्ति करने के लिये कोई कर्तव्य बाकी नहीं रहता। बल्कि उस स्थिति में कोई कमी अर्थात् निज सन्तुष्टि के लिये अन्य बाह्य प्रयोजन की प्रतीति ही नहीं होती। केवल उसी स्थिति को दृढ़ रखने के लिये सद्साधन और "परख प्रखावन जीवन केरा। यह व्यवहार यथार्थ निवेरा ॥ पं० ॥" के भावानुसार अधि-कारी को सद्शिक्षा प्रदान और प्रारब्ध शरीर रहे तक उदा-

सीनता युक्त सदाचरण पूर्वक शरीर निर्वाह आदि—येही कर्तव्य जीवन पर्यन्त शेष रह जाते हैं । सो ये भी उस स्थिति के रक्षक ही हैं । फिर प्रारब्धान्त में साधन, शिक्षा, निर्वाहादि के कर्म आप ही छूट जाते हैं और स्थूल-सूक्ष्म शरीर से सर्वथा रहित शुद्ध निष्क्रिय सदा के लिये उनकी विदेह मुक्ति स्थिति हो जाती है । वहाँ सर्व दृश्यों का अन्त करके आप ही शेष है।

प्रश्न—हाजिर, हाल और हुजूर—इन तीन पदों का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—हाजिर कहते हैं उपस्थित, मौजूद या विराजमान् को और हाल कहते हैं शीघ्र को; यहाँ हाल का भाव वर्तमान लिया गया है और हुजूर कहते हैं श्रेष्ठ, सरकार तथा स्वामी को । यहाँ का ऐसा भाव है कि हाल नाम वर्तमान ही में हुजूर नाम सर्व श्रेष्ठ अपना चैतन्य पारख स्वरूप सरकार हाजिर नाम स्थिति में विराजमान् है । तात्पर्य यह है कि अनेक मतावलम्बी मृत्यु होने के पश्चात् मोक्ष मानते हैं; परन्तु यहाँ देह रहते हुए चैतन्य सरकार अपना स्वरूप जगत्-अध्यास से रहित मोक्ष स्थिति में वर्तमान ही में विराजमान् माना जाता है । सद्गुरु श्री कबीर साहेब कहते हैं—

जियत न तरेउ मुये का तरिहो । जियतै जो नर तरे ॥बीजक॥

हाजिर, हाल और हुजूर का यही भाव है ।

जय जय गुरु देवा, भव दुख छेवा, चरण शरण में लेवा ॥

हे सद्गुरुदेव ! आप की जय हो, जय हो, आप जन्मादिक क्लेशों को नाश करने वाले हैं। अतः मुझे भी अपने चरणों की अधीनता में ले लीजिये।

❀ शब्द ❀

दुख हर आप सद्गुरुदेव ॥ टेक ॥

सत्य शील विचार दाया, धीर धी धरि धेव।
सुख करन दारिद हरन, संसार कलिमल छेव ॥ १ ॥
अति प्रबुध विद्या विशारद, हरि अविद्या लेव।
जड़ चैतन्य रु बन्ध मुक्ती, सब प्रखावन भेव ॥ २ ॥
वन्दिछोर कृपालु, मङ्गल सूल शूल नशेव।
पशि पद त्रयताप नाशत, नित्य मोक्ष समेव ॥ ३ ॥
जीव को अति हीत, भवनिधि तरण नौका खेव।
नमत पद अभिलाष, तव तजि दूसरा नहिं केव ॥ ४॥

रहनि प्रबोधिनी का प्रथम प्रकरण दुखशमन
चालीसा टीकाव्याख्या सहित समाप्त

❀ प्रकरण-फल छन्द ❀

इह प्रकरण के भाव धरि,
जे अर्थ चित्त विचारि हैं।
ते श्रमिक फन्द निवारि के,
सद्बोध पन्थ सम्हारि हैं॥
त्रय कर्म वो त्रयग्रन्थि,
संसृति चक्र शोक विदारिहैं।
सहजिक भवार्णव पार हो,
कितने जनों को तारि हैं॥ १॥

❀ सोरठा ❀

सद्गुरु शरण महान,
सत्संगत सद्बोध लहि।
दुख छूटन को ध्यान,
पुरुषारथ में रुचि प्रबल॥ १॥
अवश्य मुक्ति पद पाय,
संचितादि को दग्ध करि।
चेतु चेतु मन भाय,
दुर्लभ पद को प्राप्त कर॥ २॥

❀ प्रकरण-महिमा-छन्द ❀

हिंसा विषय अघ नाशिनी,
अति प्रेयसी मन भावनी ।
दुर आचरण तम पुञ्ज को,
आदित्य ज्ञान उगावनी ॥
आखिल्य मानव मात्र हित,
कल्याण-पथ अति पावनी ।
सद्आचरण सन्दोह,
सद्गुणसिन्धु षोड़स लावनी ॥१॥

❀ दोहा ❀

चौ षट् चौदस अष्ट दस,
सब सद्ग्रन्थन सार ।
सदाचरण यह षोड़सी,
निर्मल ज्ञान विचार ॥१॥

❀ सद्गुरवे नमः ❀

❀ रहनि प्रबोधिनी ❀

द्वितीय प्रकरण

सदाचरण षोड़सी

(टीका-व्याख्या सहित)

लावनी—

१—मङ्गलाचरण

श्रीगुरु वन्दौं सन्त पारखी, जाहिं कृपा गुण ज्ञान मिलै।
परम् शान्ति स्थिर पद पावे, जन्म मरण त्रय दुःख टलै॥

सद्गुण शोभा युक्त सद्गुरुदेव तथा पारखीसन्तों की वन्दना करता हूँ, जिनकी दया से सद्गुण और स्वरूपज्ञान की प्राप्ति होती है। और श्रेष्ठ, शान्ति तथा स्थिति पद को पाकर जन्म-मरण एवं त्रिविधि ताप रूप क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है।

प्रश्न—'श्री' तो माया को कहते हैं, फिर यहाँ 'श्री' 'गुरु' पद में क्यों सम्बद्ध है?

उत्तर—श्री माया को तो कहते ही हैं; परन्तु प्रकरण भेद से श्री का अर्थ शोभा भी होता है और यहाँ शोभा सद्गुणों का माना गया है। अर्थात् दया, क्षमा, सत्य, धैर्य, विचार, विवेक, वैराग्य, समतादि सद्गुण रूप शोभा युक्त सद्गुरुदेव हैं और वही रूप सर्व परीक्षक पारखी महात्मा भी हैं। अतएव ये दोनों समान वन्दनीय हैं।

प्रश्न—उन साधु-गुरु द्वारा गुण और ज्ञान का मिलना क्या है और गुण तथा ज्ञान में क्या अन्तर है ?

उत्तर—यहाँ गुण सद्गुणों को कहा गया है, दया, क्षमा सत्य, धैर्य, विचार, विवेक, वैराग्य, गुरु-भक्ति, समता तथा नम्रतादि को ही सद्गुण कहे जाते हैं। ज्ञान यहाँ यथार्थ ज्ञान एवं स्वरूपज्ञान को कहा गया है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु से चार जड़ तत्त्व तथा अगणित अविनाशी चैतन्य जीव, ये दोनों जड़-चेतन स्वरूप से भिन्न-भिन्न अनादि सद्वस्तु हैं। तत्त्वों के गुण-धर्मादि से ब्रह्माण्डिक सृष्टि तथा जड़-चेतन के सम्बन्ध से पिण्डाण्डिक सृष्टि एवं चार खानियों का विस्तार है। वासना वश जड़-चेतन का सम्बन्ध है, मनुष्य शरीर में सद्गुरु-सत्संग एवं सद्बोध द्वारा जड़ वासना त्याग कर जीते जी मानसिक चिन्तावों-कष्टों की निवृत्ति और प्रारब्धान्त में सदा के लिये अचल विदेह-मोक्ष जीव को प्राप्त हो जाता है। फिर कभी भी जीव जन्म-मरण चक्र में नहीं आता, इत्यादि—यही समझ ही संक्षेप में स्वरूपज्ञान पारखज्ञान या

यथार्थज्ञान है। यही पारखी साधु-गुरु की कृपा से प्राप्त होता है।

प्रश्न—परम् शान्ति और स्थिर पद का मिलना क्या है?

उत्तर—परम् कहते हैं सब से श्रेष्ठ को, शान्ति कहते हैं हर्ष-शोक, राग-द्वेष, सुख-दुःखादि की अत्यन्त निवृत्ति निर्द्वन्द्वता को, स्थिर पद कहते हैं स्थायी, अटल, स्वरूप स्थिति को। विवेकी पारखी साधु-गुरु द्वारा यथार्थ स्वरूपज्ञान और अपने साधन-अभ्यास से सद्गुण सदाचरण जब साधक को प्राप्त हो जाते हैं, तब तत्काल ही सर्वश्रेष्ठ निर्द्वन्द्व, अटल स्वरूप स्थिति की प्राप्ति हो जाती है। यही परम्शान्ति और स्थिर पद का मिलना है।

प्रश्न—जन्म-मरण और त्रय दुःखों का टलना क्या है?

उत्तर—मनुष्य, पिण्डज, अण्डज—इन तीन खानियों की माताओं के उदरों में कुछ दिन निवास कर योनि से बाहर प्रकट होना—जन्म है तथा उष्मजी खानि की योग्यतानुसार रस-गन्धादि विषय युक्त तत्त्वों के संयोग से वासना वश जीवों का शरीर धारण करना—जन्म है। चारों खानियों के जिस किसी शरीर के प्रारब्ध भोगों को पूरा भोग कर अन्त में शरीर और जीव का वियोग होना—मरण है। ये जन्म और मरण बड़े दुःख मय हैं। क्योंकि जन्म लेने के प्रथम गर्भ का असह दुःख भोगना पड़ता है, फिर जन्म का दुःख अपरिमित है, जन्म लेने से शिशु तथा बाल्यकालिक विवशता का

दुःख, कौमार एवं यौवन अवस्था की विषयान्धता का दुःख, अधेड़ अवस्था की चिन्ता का दुःख, वृद्ध पन का दुःख, धनान्धता, दरिद्रता, चिन्ता, शोक, वियोग, रोग का दुःख। सब प्राणियों और तत्त्व क्रिया की विवशता का दुःख, पुनः मरण का दुःख—इस प्रकार ये जन्म-मरण बड़े कष्ट रूप हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, चिन्ता, शोक, विकलता—मानसिक दुःख तथा ज्वर, जूड़ी, फोड़ा फुंसी, लकवा, भकंदर, कुष्टादि शारीरिक दुःख—दैहिक ताप है। पाला, पत्थर, पानी, बिजली, भूकम्प आदि जड़तत्त्वों से तथा उसकी क्रिया से निर्वाहिक वस्तु तथा शरीर की हानि या मरण—दैविक ताप है। सर्प, बिच्छू, मच्छड़, चींटी, सिंह, भेड़िया, मनुष्यादि (किसी भी प्राणी) से सताये जाना या मारे जाना—भौतिक ताप है। ये ही त्रय दुःख अर्थात् त्रिविधि ताप के दुःख हैं। उपरोक्त सद्गुरु-सत्संग द्वारा स्वरूपज्ञान-सदाचरण की प्राप्ति पश्चात् सर्वश्रेष्ठ शान्तिमय अचल स्वरूप-स्थिति की पूर्ण प्राप्ति हो जाने पर जन्म-मरण और त्रिविधि ताप रूप इन सारे-के-सारे दुःखों की सर्वदा के लिये सर्वथा निवृत्ति हो जाती है—यही जन्म-मरण और त्रय दुःखों का टलना है।

२—अहिंसा शुद्धाहार।

अहै अहिंसा जन सुख दाई, तन मन वच से सदा बलै।
दुख नहिं देवै किसी जीवको, तब सब पाप विकार जलै॥१॥

किसी को दुःख न देना रूप अहिंसा धर्म प्राणियों को सुख देने वाला है, इसलिये शरीर मन और वचन से शक्ति देकर इस अहिंसा धर्म का पालन करना चाहिये। जब किसी प्राणी को भरसक दुःख नहीं दिया जायगा, तब सब पाप और मन की मलीनतायें जलकर नष्ट हो जायँगी ॥ १ ॥

प्रश्न--अहिंसा किसे कहते हैं ?

उत्तर--मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि-कीटादि को अर्थात् प्राणी मात्र को जान-बूझ कर या शक्ति चले तक अपने तन मन तथा वचन से किसी प्रकार किञ्चित् भी दुःख न देना—अहिंसा है।

प्रश्न--सर्प-बिच्छू-सिंहादि हिंसकी जीवों को तो अवश्य मारना चाहिये, क्योंकि ये काल हैं ?

उत्तर--दूसरे को दुःख देने से या हत्या करने से सर्प-बिच्छू-सिंहादि काल कहे जाते हैं। फिर वही दोष यदि मनुष्य भी धारण कर लिया तो वैसे काल मनुष्य भी हो गया। बल्कि सर्प-सिंहादि से भी मनुष्य बड़ा भारी काल हो गया। क्योंकि सर्प-बिच्छू-सिंहादि पशु, अण्डजादि नीच खानि में हैं; अज्ञान से ग्रसित हैं; लाचार हैं; उनका स्वभाव ही तामस युक्त घनघोर अन्धकार मय है। और मनुष्य सबसे उत्तम दया, क्षमा, शीलादि युक्त दिव्य सात्विक स्वभाव वाला, हर खानियों के प्राणियों से अधिक साधन सम्पन्न सामर्थ्य युक्त है। फिर अपने श्रेष्ठ एवं दिव्य स्वभाव को भूलकर यदि

मनुष्य उन हिंसकी जन्तुओं के तामस युक्त स्वभाव को धारण कर लिया, तो काल से भी महाकाल और नीच से भी महा नीच हुआ। इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि पशु-पक्षी आदि अपने से लाचार जीवों को मारना यदि न्याय समझा जाय, तो जिनके सामने हम लाचार हैं: ऐसे बलवान् मनुष्य यदि हमें मारने को तत्पर हो जायँ, तो किस न्याय से बचा जा सकता है? लाचारों को मारना यदि न्याय समझा जायगा, तो हमारा बलवानों द्वारा मारे जाना न्याय ही होगा। इस-लिये किसी द्वारा किसी का भी जान-बूझकर भरसक मारे जाना हिंसा है—पाप है।

साखी—जीव घात ना कीजिये, बहुरि लेत वे कान।
तीरथ गये न बाँचिहो, जो कोटि हिरा देवदान ।। बीजक
तुलसी या संसार में, बदला कहँ न जाय।
जो सिर काटे आन कै, अपनो होय कटाय ।। गो०

प्रश्न—मांसाहारी कहते हैं—'मछली, मुर्गे, कबूतर, बटेर, बकरे, भेड़ तथा सूअर आदि मनुष्यों के खाने के लिये बने हैं। यदि इनको मार करके न खाया जाय, तो ये किस काम में आयेंगे? अतः ये सब मनुष्य के अन्य व्यवहारिक कामों में अनुपयोगी (बेकार) होने से मार कर खाने ही के योग्य हैं'—इसका क्या उत्तर है?

उत्तर—मांसाहार सिंह-भेड़िया-गीध आदि का है, मनुष्य की प्रकृति मांसाहार से सर्वथा प्रतिकूल है। शुद्ध अन्न, जल,

साग, फल, मूल, दूध, घृत, मेवा, मिष्टान्नादि ही मनुष्य का उत्तम आहार है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष ही रज-वीर्य से निर्मित मांस अशुद्ध एवं घृणित पदार्थ है। मांसाहार पैशाचिक एवं नारकी है। कौन भला विचारवान् मनुष्य निन्द्य हड्डी-मांस रूप नर्क को मुख से चबायेगा ?

"मछली, मुर्गे, बकरे तथा सूअर आदि मनुष्य के कोई काम में नहीं आते; अतः उन्हें मार करके खा लेना चाहिये"—ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है, पागलपन है। सब जीव अपने-अपने कर्म फल भोगों को भोगने के लिये कीट से हस्ती तक अनेक शरीर धारण किये हैं। अतएव किसी का किसी को मारने का अधिकार नहीं है। जो-जो प्राणी मनुष्य के काम में न आवें, उन्हें मारकर खा जाना ही यदि न्याय माना जाय, तो घर के अनुपयोगी (बेकार) बुड्ढे माता-पितादि को भी क्या वे मांसाहारी मार कर खा लेंगे ? और यदि खा लेंगे, तो महान नर-पिशाच समझे जायँगे। जो पशु-पक्षी आदि मनुष्यों के अन्य काम में न आवें, उन्हें मारकर खाना ही यदि न्याय हो; तो जो मनुष्य पशु-पक्षियों के काम में नहीं आते, उस मनुष्य जाति का ही यदि नाश कर दिया जाय, तो उन हिंसावादियों के न्याय से क्या दोष होगा ? यदि अनुपयोगी प्राणियों को मारना न्याय है, तो पशु तुल्य भोगी मनुष्यों की क्या उपयोगिता है ? पेट पालना और शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—इन पंच विषयों को

भोगना तथा इस पेट और भोगों के लिये नाना उद्यम करना—यही पशुओं का धन्धा है और यही परमार्थ-सत्संग-हीन मनुष्यों का धन्धा है। बल्कि असंयमी, विषय लम्पट तथा स्वार्थी मनुष्यों से पशु आदि का जीवन संयमी और परोपकारी भी है। पशु-पक्षी आदि अपने स्वार्थ या भोग के लिये तथा क्रोध वश अपने हाथ-लात-दाँत आदि से एक ही दो प्राणी को मार-काट सकते हैं। परन्तु धर्म-हीन मनुष्य स्वार्थ, भोग और क्रोध वश अनेक पाप कर डालते हैं। बंसी, गाजा, टापा, जाल, लाठी, तलवार, बर्छी, बन्दूक, अणुबम्-एटम्बम आदि से असंख्यों प्राणियों का एक ही बार में संहार कर डालते हैं। फिर यदि धर्म-हीन मनुष्यों को पशुओं से श्रेष्ठ माना जाय, तो केवल नाशकारी भोग और पाप ही में भले श्रेष्ठ माना जा सकता है। न्यायतः तो नहीं। हाँ! यदि पशुओं से मनुष्यों का जीवन श्रेष्ठ है, तो धर्मपरायण परमार्थियों का। जिनका कि मुख्य धर्म ही होता है—"समस्त जीवों के प्रति सम्यक् अहिंसा व्रत पालन करना।" वास्तव में जिन मनुष्यों का जीवन पशु आदि से श्रेष्ठ है, वे परमार्थी जन कीट से हस्ती तक सब प्राणियों को अपने समान जान कर उन पर दया रखते हैं। जान-बूझ कर भरसक किसी की किसी प्रकार हिंसा नहीं करते और जिन मनुष्यों का पशु से भी नीच पाप परायण जीवन है, वे ही पशु आदि को अनुपयोगी बतला कर और उन्हें मारकर अपने पेट में उनका कब्र बनाना चाहते हैं।

अतएव किसी प्राणी की किसी प्रकार जान-बूझ कर भरसक हिंसा नहीं करनी चाहिये।

प्रश्न---कोई जानवर किसी रोग से ग्रसित है या तालाब में जल के संकोच होने से मछलियाँ तड़फ रही हैं। ऐसी अवस्था में उस जानवर या मछलियों को मार डालना, उन्हें दुःखों से मुक्त करना ही है ?

उत्तर---कदापि नहीं ! देहधारियों के प्राण वियोग करा देने से उनका दुःख नहीं छूट सकता। कर्म रहस्य को जानने वाले यह भली भाँति समझते हैं कि जीवों के जो कर्मानुसार दुःख-सुख भोग हैं, उन्हें उनको कहीं भी रहकर कोई भी शरीर धर कर भोगना अवश्य है। जब तक नर-तन में सद्गुरु सत्संग द्वारा ज्ञान उदय नहीं होता, तब तक बिना भोगे कर्मों का अन्त नहीं है। जो जीवों के दुःखद कर्म हैं, इस शरीर में या अन्य शरीर में जीवों को भोगने ही पड़ेंगे। फिर ऐसी अवस्था में उन प्राणियों को मार कर और उनको भी दुःख पहुँचा कर एक नवीन पाप कर्म अपने शिर पर मढ़ लेना रूप भूल का विज्ञापन करना है। कुछ उन दुखित प्राणियों का हित नहीं होता। हाँ ! जल-हीन मछलियों के स्थान में जल भरदे और रोगी पशु की दवा करदे—यह मानव के अधिकार की बात है। इसलिये किसी अवस्था में भी जान-बूझ कर भरसक किसी प्राणी को नहीं मारना चाहिये।

इन पंक्तियों के लेखक ने एक मुसलमान भाई से कहा—

'बड़े शोक की बात है कि आप के मजहब में मांस खाना और वध (कुर्बानी) करना धर्म माना जाता है।' उन्होंने कहा—'हमारे मजहब में कुर्बानी और गोस्तखोरी ये दो बातें बहुत बड़े दोष पूर्ण हैं। परन्तु चिन्ता तो यह है कि हमारे मजहब के कोई फिर्के में ऐसे पीर-पैगम्बर और मौलाना नहीं होते, जो इस घृणित एवं निर्दयपन कार्य को बन्द कराने का प्रयत्न करें। बल्कि बकरीद का दिन जब करीब आता है, तब मौलाना लोग कुर्बानी अवश्य करने का गाँव-गाँव और मोहल्ला-मोहल्ला में उपदेश देते फिरते हैं। शोक ! शोक !! शोक !!!'

"सुना जाता है कि इब्राहीम अलैस्लाम जो जनाब मुहम्मद साहब के पुरुषे थे। परीक्षा लेने के लिये उनको खुदा की ओर से स्वप्न हुआ कि तुम अपने सबसे प्रिय प्राणी की हमारे नाम से कुर्बानी करो। तब इब्राहीम अलैस्लाम ने कई सौ ऊँटों की कुर्बानी की। क्योंकि अरब देश में ऊँट प्यारे (अधिक उपयोगी) जानवर हैं। परन्तु दूसरे रात में पुनः स्वप्न हुआ कि अपने प्यारे प्राणी की कुर्बानी करो। तब दूसरे दिन इब्राहीम अलैस्लाम जब जागे, तो उन्होंने सोचा कि सबसे प्रिय तो पुत्र ही होता है। अतः वे अपने पुत्र इसमाईल को बुलाकर जंगल में गये और इसमाईल से कहे कि मैं तुम्हारा खुदा के नाम से कुर्बानी करूँगा। तब इसमाईल ने कहा कि अच्छा हमारी कुर्बानी करना है, तो चार बातें

करना (१) हमारा हाथ-पैर और सब अंग कस कर बाँध देना, जिससे कि कुर्बानी के समय भयवश मैं भाग न जाऊँ। (२) आप अपने आँख में पट्टी बाँध लेंगे, जिससे कुर्बानी के वक्त आप के दिल में हमारे ऊपर मेहरबानी न आ जाय। (३) छूरेको तेज कर लीजियेगा, जिससे जल्दी हमारा गला कट जाय। (४) कुर्बानी कर देने के पश्चात् हमारा कपड़ा घर पर न ले जाइएगा; नहीं तो उसे देख कर माँ को बहुत दुःख होगा।

इसमाईल के कथनानुसार जब उसका हाथ-पैर बाँध कर तथा इब्राहीम अलैस्लाम ने अपनी आँख में पट्टी बाँध कर और छूरी तेज करके इसमाईल के गले पर चलाया, तो छूरी कुन्द हो गयी और गला नहीं कटा तथा तुरन्त एक दुम्मा भेड़ा वहाँ आकर अपने आप गिर पड़ा और उसका धड़ तथा सर अलग-अलग हो गया। तब से कुर्बानी चली[1]।"

विचार करके देखिये, तो ऊपर की बात कल्पना पूर्ण ठहरती है, स्वप्न तो अपने पूर्व जागृत का भास रहता है। दूसरा कोई स्वप्न क्या दिखायेगा ? और जो खुदा, ईश व देव जीवों की हिंसा करवाना पसन्द करता है, वह तो सर्वथा त्यागने ही योग्य है।

इसमाईल ने पिता अलैस्लाम से जब पट्टी बाँधने आदि चारों बातों को कहा। उस समय का दृश्य कितना भयानक,

---

१--यह उदाहरण मैंने एक मुसलमान भाई से मौखिक सुना था।

दुःखप्रद एवं निर्दयता युक्त है। इब्राहीम अलैस्लाम ने अपने पुत्र की कुर्बानी करना चाहा और छूरा पुत्र के गले पर चलाया। यदि मुसलमान भाई सच्चे इस्लाम के मानने वाले हैं, तो वे भी पुत्र पर छूरी चलावें और पुत्र न मरे और उसके बदले भेड़ा-बकरादि कोई अन्य प्राणी आकर अपने आप मर जाय। सम्भवतः तब ऊपर की कुर्बानी वाली बात मानी जा सके। ठीक विचार दृष्टि से देखिये तो न पुत्र की कुर्बानी करनी चाहिये न पशु-पक्षी आदि किसी प्राणी की। कुर्बानी या वध करना तथा मांस खाना ही मानवता के प्रत्युत दानवता है, इन्सानियत के बदले शैतानियत है।

भाइयों! सद्गुरु श्रीकबीरसाहेब की कड़वी औषधि का सेवन कीजिये तो आपका जीव-वध और मांसाहर रूप रोग अवश्य दूर हो जायगा। आप कहते हैं—

दिन को रहत हैं रोजा, रात हनत हैं गाय।
यही खून वह बन्दगी, क्यों कर खुशी खुदाय॥
तुरुक रोजा निमाज गुजारें, बिसमिलबाँग पुकारें।
इनको बिहिस्त कहाँ से होवे, जब साँझे मुरगी मारें॥
हिन्दु कि दया मेहर तुरुकन की, दोनों घट से त्यागी।
ई हलाल वे झटका मारें, आग दुनों घर लागी॥
कहहिं कबीर वे दोनों भूले, रामहिं किनहु न पाया।
ये खसी वे गाय कटावें, बादहिं जन्म गमाया॥ बीजक॥

मक्के के विरोधियों से घबरा कर अपने साथियों के

सहित जनाब हजरत मुहम्मद साहब मदीने जा रहे थे। उनके कुछ दुश्मन पीछे-पीछे उन्हें मारने के लिये आ रहे थे। साथियों ने कहा—साहब ! पीछे से दुश्मन आ रहे हैं। सड़क में सामने एक पुलिया दिखलाती है, उसमें घुस चलें। मुहम्मद साहब जब पुलिया के पास गये, तो पुलिया के द्वार पर मकड़ी ने अपना जाल तान रखा था। मुहम्मद साहब ने सब से कहा—खबरदार ! उधर जाना ठीक नहीं है। मकड़ी का जाल (घर) टूट जायगा, हिंसा होगी, अजाब (पाप) लगेगा। अतः मुहम्मद साहब दूसरी ओर से पुलिया में प्रवेश किये। दुश्मन लोग जब पुलिया के पास आये, तो एक ने कहा—इस पुलिया को तो देखो। इसमें घुस न गये हों। एक मनुष्य ने जाकर बाहर से देखा तो पुलिया के द्वार पर मकड़ी का जाल तना है। उसने अपने साथियों से कहा—इसमें मुहम्मद न घुसे होंगे। क्योंकि इसमें यदि घुसे होते, तो मकड़ी का जाल टूट गया होता। अतः वे सब (दुश्मन) चले गये। देखिये ! जीव दया करने से मुहम्मद साहब को तुरन्त अच्छा फल मिला। साथियों सहित उनकी जान बच गयी। इसीलिये कहा है—

"दया धरो तब दया तुमहिं पर, निर्दय क्रूर सदै दुख दान।
॥ भवयान ॥"

दर्द दिल के वास्ते पैदा किया इन्सान को।
वर्ना ताअत के लिये कर्रुबयाँ कुछ कम न थे॥ जौक

'दूसरे प्राणी पर दया करने के लिये ही खुदा ने इन्सान को पैदा किया। अन्यथा उसकी इबादत (उपासना) करने के लिये आसमान पर फिरिस्ते कम नहीं थे।'

पंडित को भी सलाम है, और मौलवी को भी।
मजहब न चाहिये मुझे, ईमान चाहिये ॥अकबर॥
मक्के गया मदीने गया, करबला गया।
जैसा गया था वैसाही, चल फिरकर आ गया ॥ मीर ॥
न सुनो गर बुरा कहै कोई। न कहो गर बुरा करे कोई।
रोक लो गर गलत चलै कोई। बख्श दो गर खता करे कोई ॥
(गालिब)

एक जानकार मुसलमान भाई ने कहा—'हमारे किताब में ऐसा कहीं नहीं लिखा है कि 'मांस खाना धर्म है।' लोग स्वाद वश 'मांसखाना धर्म बतलाते हैं।' आश्चर्य तो यह है कि नापाक चीज (घृणित वस्तु) में लोग स्वाद मानते हैं। अतएव प्रिय मुसलमान भाइयों से भी नम्र निवेदन है कि वे कुर्बानी करने तथा मांस खाने पर गम्भीरता पूर्वक विचार करें और इनका सर्वथा त्याग करें।

तालाब में स्नान करने जाइये, खखार कर जल में थूकिये या नाक का मल त्यागिये तथा टट्टी आदि कर दीजिये। इन सबको मछलियाँ दौड़कर निगल जाती हैं। उन्हीं मछलियों को मनुष्य खा जाता है। धिक्कार है मनुष्य तेरे को !

मांस गरिष्ट होता है, रोग युक्त होता है, घृणित होता

है एवं हिंसा युक्त होने से पापमय होता है। फिर भी मनुष्य! तू उसे पसन्द करता है। तू कितना नर-पिशाच हो गया है?

चिकवा (मांस के व्यापारी) लोग रोगी-निरोगी सब बकरों को खरीद कर मारते हैं। कुछ-न-कुछ रोग तो सब प्राणियों में मिलेगा। परन्तु जो बकरे अधिक रोगी होते हैं, कम दाम पर मिलने से चिकवे उसे खरीद लेते हैं और बाजार में मारकर उसे बेचते हैं। उसी रोग युक्त मांस को खाकर मनुष्य अधिक रोग बुला लेता है।

सुना जाता है—दो मुसलमान भाइयों में झगड़ा हुआ, पूरी दुश्मनी हो गयी। एक ने एक के पुत्र को मार डाला। जिसका पुत्र मारा गया, वह बड़ा चालाक स्वभाव का था। उसने सोचा कि दुश्मन से मिलकर बदला लिया जाय। अतः उसने धैर्य धरकर कुछ दिनों में अपने दुश्मन (भाई) से दिखावटी में मित्रता कर लिया। फिर एक दिन अपने यहाँ कुटुम्ब-भोज ठाना और अपने भाई के सारे घर वालों को भोजन करने के लिये निमन्त्रण दिया और एक कुष्ट (कोढ़) रोग से अत्यन्त ग्रसित बकरे को चुपके से ले आया और उसी को मार कर तथा उसके मांस को पका कर भाई के सब घर वालों को खिला दिया, फलतः कुष्ट रोग युक्त मांस खाने वाले भाई के घर भर कुष्ट से ग्रसित हो गये।

चार खानि के किसी भी प्राणी को मारकर, उसके मांस को खाने का अधिकार किसी को भी नहीं है। यदि मनुष्य

मांस खाना चाहे, तो अपने अङ्गों का मांस काट कर खाये।

अपने प्राणों को हम हर क्षण बचाते हैं और दूसरे के प्राणों को हम मारते हैं। अहो! कितनी महान् निर्दयता है हम में ?

लोग मछलियों को लाकर राख में रगड़ते हैं और उनके चोइँटा (सेहरा) को छुड़ाते हैं तथा उन्हें मारते हैं। इसी पाप से मनुष्यों को दूसरे जन्म में चेचक होता है और वे भी राख पर लेटाये जाते हैं और उनके शरीर का भी चोइँटा निकाला जाता है।

मनुष्य जैसे-जैसे दूसरे को पीड़ा देता है, वैसे-वैसे दूसरे जन्म में पीड़ा[1] पाता है। इसमें राई-रत्ती भी कसर नहीं है।

जो अन्य के मांस को खाते हैं, उनके भी मांस अन्य जन्म में दूसरे द्वारा खाये जायँगे। मांस का अर्थ ही होता है—मां=मेरे को; स=वह (खायेगा) अर्थात् 'मेरे को वह खायेगा।

जो लोग पशु-पक्षियों को मारते हैं, उनके विषय में एक वैज्ञानिक ने हाई स्कूल के भूगोल में लिखा है कि 'पशुओं तथा मछलियों को मारते-मारते इन (मनुष्यों) की प्रकृति भी क्रूर हो जाती है।'

१—साखी—"कबीर कमाई आपनी, कभी न निष्फल जाय।
बोवै पेड़ बबूर का, आम कहाँ से खाय॥"

टुण्ड्रा प्रदेशीय मनुष्यों के प्रति आप लिखते हैं कि 'पशुओं तथा मछलियों को मारते-मारते इनकी प्रकृति भी बड़ी कठोर हो जाती है।'

'हमारा भोजन' नामक पुस्तक में लखनऊ के एक वैज्ञानिक ने लिखा है—"मनुष्य का भोजन अनाज, फल तथा मेवा ही होना चाहिये और जहाँ ये चीजें आसानी से मिल जाती हैं, वहाँ मांसाहार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। भोजन की दृष्टि से मांस की किञ्चित् मात्र भी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि उससे अच्छा प्रोटीन मक्खन दूध और मेवों से प्राप्त कर सकते हैं। डाक्टर ग्रेहम का कथन है।-"मुझे यह कहने में तो जरा भी संकोच नहीं है कि अन्न, तरकारियों और दूध को प्रयाप्त परिमाण में ग्रहण करना ही सर्वोत्तम भोजन है।" एक दूसरे डाक्टर डेनमार्क के हेण्डहेड ने, जो भोजन विज्ञान के बहुत बड़े विशेषज्ञ गिने जाते हैं, कहा है—"विज्ञान की इस बात में कोई सचाई नहीं है कि पशुओं के मांस से प्राप्त किया गया प्रोटीन (प्रत्यामिन) अर्थात् जीवनसत्व मनुष्य शरीर के लिये अत्यावश्यक है। अधिक मांस खाने वालों के दाँत नष्ट हो जाते हैं। मांस में तेजाब की अधिकता होती है, जो मानव शरीर के लिये अत्यन्त हानिकारक वस्तु है।"

"लुई कूने ने अपनी पुस्तक "न्यू साइन्स आफहीलिङ्ग" में लिखा है कि—"भोजन अपनी प्रकृति दशा में ही स्वादिष्ट होता है और शीघ्र पचता भी है और उसी से हमें शीघ्र शक्ति

प्राप्त होती है। जो भोजन देखने, सूँघने और चखने में स्वभावतः अच्छा मालूम हो, वह श्रेष्ठ भोजन ग्रहण करने योग्य है। ऐसा भोजन केवल फल, शाक, सब्जियाँ, अन्न, दूध और मेवेही से प्राप्त हो सकता है। इस तरह के भोजन में हर प्रकार के आवश्यक खनिज लवण पाये जाते हैं। यह भोजन मेदे या अँतड़ियों में जल्द सड़ता नहीं और इस प्रकार आँतों में विषैली वस्तुएँ एकत्र नहीं होने पातीं।"

"मांसाहारी भी परोक्ष रूप में अन्न तथा सब्जी खाते हैं। क्योंकि इन्हीं वस्तुओं से जीवन यापन के तत्त्व प्राप्त करके जानवर बढ़ता है। अनाजों या तरकारियों में जो तत्त्व रहते हैं, जानवर उन्हें प्राप्त कर लेता है और मनुष्य उनके परिवर्तित रूप में मांस से प्राप्त करते हैं। क्या ही अच्छा हो कि हम (बिल्कुल मांस न खाकर) उन खाद्यों (साग सब्जियों) को उनके प्राकृतिक रूप में ही खायें।"

इस विषय में विस्तार रूप से वर्णन करते हुए अन्त में आपने कहा है—"ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि हमारे भोजन में फल और शाक-सब्जी की प्रधानता होनी चाहिये। इनके बाद भोजन में दूध, दूध से बनी वस्तुयें और सूखे फलों को प्रमुखता मिलनी चाहिये। अनाज का स्थान तीसरे नम्बर पर आता है।" सब के अन्त में आप ने बड़े-बड़े अक्षरों में लिख कर बतलाया है—"**मेरा यह दृढ़ विचार**

है कि हमारे भोजन में गोश्त का कोई स्थान नहीं होना चाहिये।"

—एक वैज्ञानिक।

एक कालेज में चुने हुए सैकड़ों विद्वान् लड़कों को वहाँ के प्रिंसपल ने मांसाहार विधायक[1] और अविधायक प्रसंगों पर बोलने का विषय दिया। दोनों विषयों पर अपनी-अपनी समझ और रुचि अनुसार छात्रों ने अपना-अपना विचार प्रकट किया। अन्त में प्रिंसपल ने निर्णय करते हुए कहा—'सिंह' भेड़हा, श्वान तथा मञ्जारि या चील्ह-गीध आदि पशु-पक्षियों को छोड़कर मनुष्य के भोजन में मांस का कोई स्थान नहीं होना चाहिये। एक तो मांस प्रत्यक्ष ही घृणित, अशुद्ध पदार्थ है, दूसरे रोग उत्पादक महा विकारी है, तीसरे उसमें जीवों की हिंसा होती है, जो महान पातक है।'

कहा जाता है—बिलायत के एक कालेज में एक वर्ष के लिये १०० लड़कों को मांसाहार करने का और १०० लड़कों को साकाहार (मांसाहार त्याग कर केवल अन्न, दूध तथा मेवादि खाने) का नियम दिया गया। वर्ष पूरा होने पर डाक्टरी करने से मांसाहारी १०० लड़कों में से अधिक लड़के रोगी निकले और साकाहारी लड़के प्रायः सब स्वस्थ (निरोग) पाये गये।

१—मांसाहार सिद्ध करने का भाव विधायक और निषेध करने का भाव अविधायक है।

इन पंक्तियों के लेखक से एक रजिस्ट्रार कानूनगो जी ने कहा—"मैं अपने स्वास्थ्य पर अधिक ध्यान रखता था; परन्तु फिर भी अस्वस्थ (बीमार) ही प्रायः रहा करता था। अधिक कष्ट होने पर एक बार एक बड़े डाक्टर से परीक्षा करवाया। उन डाक्टर ने मेरे शरीर की परीक्षा करके पूछा—आप मांस और मद्य ग्रहण करते हैं? मैंने कहा—जी हाँ! उन्होंने कहा—यदि आप शीघ्र मांसाहार और मद्यपान न त्याग दिये, तो इस वर्ष के भीतर ही आप के शरीर में फालिज (लकवा) मार देगा। फलतः आप अपने स्वास्थ्य से सर्वथा हाथ धो बैठेंगे। मैंने तभी से मांसाहार और मद्यपान सर्वथा त्याग दिया। अब मेरा स्वास्थ्य बिलकुल अच्छा रहता है"—रजिस्ट्रार कानूनगो जी ने कहा।

हर मांसों में स्वाभाविक रोग होता है और पशु-पक्षियों के शारीरिक रोग भी मांसों द्वारा मांसाहारियों के शरीर पर बुरा प्रभाव डालते हैं।

हिन्दू धर्म में ऐसे कई देवी-देव स्थान हैं, जहाँ निर्दयता पूर्वक जीवों के बध होते हैं। इन देव स्थानों का वह भयानक दृश्य देख-सुन कर सज्जन के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। गर्भ से तुरन्त के उत्पन्न हुए सूअर के बच्चे को ले जाकर पत्थर या वृक्ष के जड़ों पर पटक देते हैं और उसके पैर को पकड़ कर देव-स्थान पर मुख से रक्त चुवाते हैं, वहाँ एक तीव्र खड्ग रखा रहता है, बकरों को ले जाकर उस खड्ग से गला पर मार देते हैं

और उसके शिर को ले जाकर देव-स्थान पर चढ़ाते हैं। एक दो दस-पचास की संख्या में नहीं, एक-दो या दस-पाँच दिन नहीं। अनेकों की संख्या में नित्य निरन्तर की यही वहाँ की दशा है। वहाँ नाली में रक्त बहता है, भूले लोग उस रक्त को शिर पर स्पर्श करके अपना उद्धार मानते हैं। बहुत से ब्राह्मण-क्षत्री आदि के घरके लोग अपने लड़कों को लेजाकर वहाँ वही नाली के रक्त में जनेऊ का स्पर्श करके उन्हें पहनाते हैं। मूर्खता अपनी पराकाष्ठा (हद) तक पहुँच गयी है।

ऐसे-ऐसे कई स्थानपर वेश्यायें भी मेले में लाकर रखी जाती हैं। हिंसा और व्यभिचार ये बड़े पाप कर्मों में से मुख्य हैं। वे दोनों कतिपय देवस्थानों के भूषण हो गये हैं। वहाँ की पृथ्वी फट कर तलातल नहीं हो जाती, जहाँ देव-पूजन के रूप में ऐसे घोर पाप हो रहे हैं। और पृथ्वी जड़ क्या फटेगी ? उसे तो कुछ ज्ञान नहीं। वहाँ जाकर या रहकर हिंसा करने-कराने वाले हिन्दू लोग जब अपनी आँख में पट्टी बाँध कर कूयें में कूद रहे हैं, तब क्या कहा जाय ? ऐसे देव-स्थानों को कसाईखाने की संज्ञा दी जाय तो क्या दोष होगा ? वहाँ पुजारी कौन रहते हैं ? पण्डे व ब्राह्मण पण्डित, हा ! शोक ! शोक !! शोक !!!

एक स्थान पर लेखक मांसाहार निषेध के विषय में शिक्षा दे रहा था। इतने में एक पण्डित जी बोल पड़े ब्राह्मण मांस नहीं खाते। और जो ब्राह्मण मांस खाता है, वास्तव में वह

ब्रह्मवीर्य नहीं है। बल्कि वर्णसंकरी एवं शूद्र है। मैंने कहा—भाई। ऐसा कहने में तो मुझे संकोच लगता है। परन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि जो मांसाहारी है, वह ब्राह्मण नहीं माना जा सकता। क्योंकि मांसाहर ब्राह्मणत्व के सर्वथा प्रतिकूल है.।

वास्तव में जो ब्राह्मण नामधारी मांस खाते हैं, वे ब्राह्मण नहीं हैं। किन्तु बेरहमन हैं। बेरहमन का अर्थ ही होता है (बे-रहम-मन।) बे कहते हैं रहित को, रहम कहते हैं दया को और मन कहते हैं अन्तःकरण को। अतएव जिनका अन्तः-करण दया से रहित है। उन्हीं को 'बेरहमन' कहते हैं।

प्रश्न--जीव-हत्या यदि पाप है, तो इससे कोई बच ही नहीं सकता। क्योंकि उठते-बैठते, चलते-फिरते, जीवन-निर्वाहिक धन्धे करते खेती-किसानी आदि में जीव-हत्या होती ही रहती है। कहा भी है--"बिना जीव जीवे नहीं, जीवे जीव अहार।"

उत्तर--जीव-हत्या महा पाप है और इससे मनुष्य सर्वथा बच सकता है। क्योंकि उठते-बैठते, चलते-फिरते एवं जीवन-निर्वाह खेती आदि करते समय जो जीव की हत्या हो जाती है, वह अन्जान या शक्ति के बाहर की बात है। जीव-हत्या करने की इच्छा यदि किञ्चित् नहीं है, बल्कि जीवों पर पूर्ण दया है। परन्तु शक्ति के बाहर के व्यवहारों में जो जीवों की हिंसा हो जाती है, उस हत्या का प्रभाव, मनुष्य के हृदय

पर नहीं पड़ता। क्योंकि मन, वचन, कर्म से वह किसी को दुखाना नहीं चाहता। वह तो केवल अपने जीवन-निर्वाहिक धन्धावों को करता है। पथिक से पूछो कि तुम क्या करते हो? तो वह कहेगा—मार्ग पर जा रहा हूँ। एक हल चलाने वाले से पूछो, तुम क्या कर रहे हो? वह कहेगा—मैं खेत जोत रहा हूँ। वे दोनों यह नहीं कहेंगे कि हम चींटी या जीव-जन्तु को मार रहे हैं। परन्तु एक मछली मारने वाले या बकरी मारने वाले कसाई से पूछो कि तुम क्या कर रहे हो? वे स्पष्ट कहेंगे कि हम मछली या बकरी मार रहें हैं। अतएव पथिक का पन्थ तय करना उद्देश्य है। किसान का खेत जोतना उद्देश्य है एवं व्यवहारिक कार्य करने वाले का व्यवहार-कार्य पूर्ण करना ही उद्देश्य है। उनका उद्देश्य जीव-हत्या नहीं है। परन्तु एक मछुवा, वधिक, कसाई एवं मांसाहारी का उद्देश्य केवल जीव-वध करना है।

यदि कोई कहे कि "अन्जान में या शक्ति के बाहर जब जीवों की हिंसा हो ही जाती है, तब हमें जान बूझ कर एवं शक्ति चले तक भी नहीं बचाना चाहिये।" तो यह महा अन्याय है। यह तो ऐसे है कि जैसे कोई कहे कि "कूयें के जल में मेढक-मछली मल-मूत्र कर देते हैं, उस जल को पीना ही पड़ता है और मल-मूत्र पर बैठी मक्खी भोजन पर भी बैठ जाती हैं। अतः भोजन में मल-मूत्र का स्पर्श हो जाता है। इस प्रकार जब हम मल-मूत्र के छूत से नहीं बच सकते, तो मल-

मूत्र को खुले रूप से आहार में लेना चाहिये।" तो यह कहना और मानना महा अनर्थ है। कोई कहे कि मार्ग चलते समय में कहीं-न-कहीं काँटे पैर में चुभ ही जाते हैं या ठोकर-पत्थर लग ही जाते हैं। अतएव काँटे-ठोकर से जब पथिक का सर्वथा बचाव नहीं है। तब जान-बूझकर भी काँटे पैर में क्यों न चुभाये जायँ तथा पत्थर से हाथ-पैर क्यों न तोड़ लिया जाय?" तो यह कहना कितना पागल पन है। एक मार्ग देखकर विचार पूर्वक चलना तथा एक आँख में पट्टी बाँधकर कूआँ-खाईं में कूदकर चलना—दोनों बराबर कैसे हो सकते हैं?

'बिना जीव जीवै नहीं, जीवै जीव अहार' यह प्रमाण तो श्री कबीर साहेब के पद को तोड़कर हिंसकों ने मन-गढ़न्त कल्पना किया है। बीजक में यह पूरी साखी इस प्रकार है—

साखी—जीव बिना जिव बाँचे नहीं, जीव को जीव अधार।
जीव दया करि पालिये, पंडित करो विचार॥

(बीजक साखी-१८२)

प्रश्न—प्राणी की रक्षा से प्राणी के नाश करने में अधिक लाभ है, प्रभु यीशु ने यह भेद स्पष्ट रीति से पहचान लिया है। और इसलिये उसने अपना प्राण मृत्यु लों दे दिया है, ताकि सारे संसार में नवीन आत्मिक जीवन उत्पन्न हों। मृत्यु के द्वारा जीवन उत्पन्न होता है—इसका क्या उत्तर है?

उत्तर—किसी प्राणी का शक्ति चले तक वध करना महा पाप है। जो जीव शरीर त्याग देंगे, वे दूसरे शरीर को तो

धारण ही करेंगे—यह तो ठीक ही है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि सब प्राणियों को मार-मार कर उन्हें नवीन शरीर प्राप्ति के लिये सहायता दिया जाय। इससे तो जीवों के दुःखों की केवल वृद्धि होगी और क्या होगा ? यीशु ने अपने प्राण को यों ही नहीं दिया था। बल्कि यीशु अपने को ईश्वर का पुत्र बतलाते थे। इसलिये विरोधियों ने उन्हें मार डाला। और यदि यीशु ने नवीन-जीवन उत्पन्न के लिये ही अपना प्राण दिया था, तो ऐसा मानने वाले लोग अपना प्राण क्यों नहीं देते ? मूक-लाचार पशु-पक्षियों को क्यों मारते हैं ?

"मनुष्य के अतिरिक्त पशु आदि प्राणियों को ईश्वर ने मनुष्य के मारने-खाने के लिये बनाया है।" इत्यादि-इत्यादि कल्पित बातें बनाकर जीभ के स्वार्थी लोग कहते रहते हैं। किसी कल्पित ईश्वर आदि के आधार में अपनी स्वाद-वासना की पूर्ति करना और जीव-हत्या करना महापाप है। अतएव जान-बूझकर तथा भरसक जीवों की हिंसा बचाने से मनुष्य पाप से सर्वथा बच जाता है।

साखी—बकरी पाती खात हैं, ताकर खींचत खाल।
जो नर बकरी खात हैं, ताकर कौन हवाल॥
तामस बेधे बाभना, माँस मछरिया खाय।
पाँव लगे सुख मानई, राम कहें जरि जाय॥
अंकुर भखै सो मानवा, माँस भखै सो श्वान।

जीव वधे सो काल है, सदा नरक परवान् ॥
मांस मछरिया खात हैं, सुरा पान से हेत ।
ते नर नरके जात हैं, याते मानव चेत ॥

मनुस्मृति में लिखा है—(१) जीव वध की आज्ञा देने वाला, (२) वध करने वाला, (३) मांस बेचने वाला, (४) मांस खरीदने वाला, (५) मांस को काटने, बनाने तथा धोने वाला, (६) रसोई में पकाने वाला, (७) मांस परोसने वाला, (८) मांस खाने वाला—ये आठ हिंसा के पाप को भोगेंगे ।

अतएव चाहे शास्त्र विधि से हो, चाहे लोक विधि से हो या चाहे किसी भी प्रकार जान-बूझ कर भरसक हिंसा करना और मांस खाना महान पातक है । जिस शास्त्र, यज्ञ और धर्म में हिंसा-मांसाहार माननीय हों, वह शास्त्र अशास्त्र, है, वह यज्ञ अयज्ञ है और वह धर्म अधर्म है । अतः हिंसा-मांसाहार से सज्जन दूर रहें । ऐसा नम्र निवेदन है ।

प्रश्न—मांसाहारी कहते हैं, गाय-भैंस आदि का दूध खाना भी मांसाहार है । क्योंकि वह रक्त-मांस का ही रूपान्तर है । जो गाय-भैंस अधिक रक्त-मांस से सम्पन्न हृष्ट-पुष्ट होती हैं, वे अधिक दूध देती हैं । अतः दूधाहारी भी मांसाहारी ही माने जायँगे ?

उत्तर—दूध खाना मांसाहार नहीं है । दूध रक्त-मांस से नहीं बनता । यदि दूध को रक्त-मांस का ही रूपान्तर माना जाय,

तो भी दूध को मांस नहीं माना जा सकता । क्योंकि रूपान्तर हो जाने पर प्रायः कारण का दोष कार्य में नहीं रहता । जैसे अन्न, फल, मूल, साग आदि मल-मूत्र और खाद युक्त खेतों में होते हैं । परन्तु मल-मूत्र और खाद के कुछ भी विकार अन्न, फल, मूल, साग आदि में नहीं आते । शहरों के निकट खेतों में मल-मूत्र अधिक-से-अधिक विखेर कर उसी पर साग-फल इत्यादि बोते हैं । परन्तु साग-फल आदि में मल-मूत्रों का कोई दोष नहीं रहता । अब इस पर कोई कहे कि जो अन्न-फल साग-मूलादि खाता है, वह मल-मूत्र खाता है, तो कहने वाला पागल ही माना जायगा । ऐसा कहने वाले से यदि कोई कहे कि जब अन्न-साग फल-मूलादि और मल-मूत्र दोनों बराबर हैं, तब तुम अन्न-सागादि छोड़कर केवल मल-मूत्र ही खाया करो, तो क्या वह स्वीकार करेगा ? और यदि ऐसा दुरुपयोग करेगा, तो उसे लोग अच्छा मानेंगे ? कदापि नहीं । अतएव दूध कभी भी मांस नहीं मान जा सकता है ।

मुख्य बात तो यह है कि दूध रक्त-मांस का रूपान्तर है ही नहीं । यदि रक्त-मांस से दूध बनता होवे, तो हर गाय, भैंस, बैल, भैंसा के शरीर में रक्त-मांस है, फिर सब के शरीरों में दूध क्यों नहीं उत्पन्न होता है ? दूसरी बात यह है कि दूध बच्चों का कर्म होता है, इसलिये बच्चा पैदा होने पर मादा के दूध उत्पन्न होता है । जो घास-चारा आदि खाद्य पदार्थ गाय-भैंस आदि खाती हैं, उसी का रूपान्तर दूध होता है ।

जिसके विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि खरी, नमक, अन्न, कपास का बिनौला, पीपल का पत्ता, महुआ इत्यादि अधिक दूध उत्पादक खाद्य पदार्थ यदि सायंकाल को गाय-भैंस को खिला दिया जाय, तो प्रातः काल ही वह अधिक दूध देगी। अब विचारना यह है कि खाद्य पदार्थ से रक्त-मांस और रक्त-मांस से यदि दूध बनता, तो सायंकाल के खिलाये हुए खाद्य पदार्थों का परिणाम-अधिक दूध प्रातःकाल ही न मिलता, क्योंकि खाद्य पदार्थों से रक्त-मांस बनने में इससे अधिक विलम्ब लगता है। इसलिये दूध रक्त-मांस का रूपान्तर नहीं, किन्तु खाद्य पदार्थों का ही रूपान्तर है।

प्रश्न—फिर श्रीकबीरसाहेब ने बीजक में इसके विपरीत क्यों कहा है ?

उत्तर—वहाँ पाखण्ड खण्डन के ध्येय से वैसा कहे हैं। दूध का निषेध उन्होंने नहीं किया है।

प्रश्न--दूध दुहने से गाय-भैंस आदि मादा को कष्ट होता है, क्योंकि उसके अधिक खाद्य-अंशों का रक्त न बन कर दूध बन जाता है, अतः वे निर्बल रहती हैं। दूसरी बात—जब दूध बच्चों का कर्म है, तब उस दूध को दुह कर मनुष्यों को लेना यह भी पाप है। क्योंकि दूसरे का कर्म-फल लेना पाप ही है। इन दो कारणों से गाय-भैंस इत्यादि से दूध लेना और खाना हिंसा ही मानी जायगी ?

उत्तर--न्याय पूर्वक गाय भैंस से दूध लेना और खाना

हिंसा नहीं है। गाय-भैंस आदि के अधिक खाद्य-अंशों का रक्त न बन कर जो दूध बनता है, वह बियायी (जनी) गाय-भैंस आदि का स्वाभाविक ही है, उसको कोई रोक नहीं सकता। यह भी बात नहीं है कि सब खाद्य-अंशों का दूध ही बन जाता है। कुछ अंश का दूध बनता है और कुछ का रक्त बनता है। दूध देने वाली सब गाय-भैंस निर्बल ही रहती हों, यह भी बात नहीं है। दूध न देने वाली भी निर्बल रहती हैं और दूध देने वाली भी मोटी ताजी रहती हैं। गाय-भैंस का दूध दुहने से उनको कष्ट नहीं होता। बल्कि यदि दूध न दुहा जाय, तभी उसे कष्ट होगा और स्थनसे सर्वथा दूध न निकलने से बल्कि दूध रुक कर मादा के शरीर में रोग उत्पन्न कर देगा। अतः गाय-भैंसादि को पेट भर खिला-पिला-कर और उचित सेवाकरके उनका दूध दुहना उन्हें कष्ट देना नहीं है। दूसरी बात-दूध बच्चों का कर्म-फल है, यह तो बिल्कुल सत्य है, परन्तु गाय-भैंसादि की रक्षा तथा सेवा-सुश्रूषा करने वाले मनुष्य का भी तो कर्म-फल उसी में सम्मिलित है। इसलिये जो गाय-भैंस का दूध मनुष्य लेता है, वह अपने पुरुषार्थ का ही फल लेता है। हाँ! इसमें यह तो अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि गाय-भैंस आदि जिस मादा से दूध लिया जाय, उनके बछड़ों को पेट भर दूध पी लेने देवे, फिर उससे जो बाकी बचे, उसी को मनुष्य दुह कर लेवे। और जब बछड़ा कुछ बड़ा हो जाय, अर्थात् अन्न-चारा खाने लगे। तब

यदि अधिक दूध लेने की इच्छा हो, तो बछड़े का पेट कुछ दूध से कुछ अन्न-चारा आदि से भर कर तब मादा का दूध लिया जाय। सारांश यह कि बछड़े को तनिक भी कष्ट न देते हुए, उसका पूरा पेट भरकर बाकी दूध लिया जाय। और जो बछड़े का पेट काट कर—उसे भूखा रखकर अधिक दूध के लोभ से दूध लेगा, वह अवश्य हिंसकी माना जायगा।

अतएव गाय-भैंसादि मादा का पूरा पेट भर कर उसकी उचित सुरक्षा करके और बछड़े का पूरा पेट भर कर गाय-भैंस आदि से दूध लेना कोई हिंसा नहीं है। बल्कि सर्वथा न्याय युक्त है।

प्रश्न—अन्न, दूध, महुआ तथा गुण आदि उत्तम वस्तुओं का रूपान्तर होने से शराब उत्तम पेय क्यों नहीं है ?

उत्तर—महान नशाकारी मनुष्य को पशु और पिशाच बना देने वाला शराब उत्तम पेय कदापि नहीं हो सकता। उत्तम पदार्थों का रूपान्तर उत्तम ही नहीं हुआ करता। जैसे साग-पूड़ी, दाल-भात तथा हलुवा-पेड़ा इत्यादि उत्तम पदार्थों को खा लेने पर उसका रूपान्तर मल-मूत्र हो जाता है। यह कोई नियम नहीं है कि उत्तम पदार्थों का उत्तम ही रूपान्तर होता है। कहीं उत्तम पदार्थों—कारणों का उत्तम ही रूपान्तर होता है। कहीं उत्तम कारणों का मध्यम और मध्यम कारणों का उत्तम रूपान्तर-कार्य हो जाता है। कहीं मध्यम कारणों का मध्यम ही रूपान्तर होता है। उत्तम कारण

हो और उसका उत्तम रूपान्तर हो, यह तो ठीक ही है। कहीं-कहीं कारण और उसका रूपान्तर कार्य-पदार्थ दोनों की उत्तमता देखी जाती है। और अधिकांश रूप में कारण का गुण-दोष न विचार कर केवल रूपान्तरित कार्य-पदार्थ जो सामने है। उसी की शुद्धि देखनी पड़ती है, न तो कारण की उत्तमता देख कर उसके हर रूपान्तरित कार्य-पदार्थों का ग्रहण ही किया जा सकता है। और न तो कारण की मध्यमता देखकर उसके हर रूपान्तरित कार्य-पदार्थों को त्यागा ही जा सकता है। यदि वर्तमान में मादकता रहित शुद्ध पवित्र एवं सात्विक परीक्षा में ठहरे, तो उस पदार्थ को ग्रहण करना न्याय से उचित प्रतीत होता है। और जो हिंसा, मांस तथा नशा युक्त है, वह पदार्थ कभी भी ग्रहण करने योग्य नहीं है।

प्रश्न—अण्डा-मांस में विटामिन (जीवनसत्व) अधिक रहता है। अतः उसे स्वास्थ्य के लक्ष्य से खाना चाहिये ?

उत्तर—इस बात का खण्डन युक्ति-प्रमाण से प्रथम ही हो गया है। मांस रोग मय है, उससे अच्छा जीवनसत्व साग-फल तथा दूध-अन्न में है। मांस-अण्डा खाने वाले बहुत से निर्बल-रोगी देखे जाते हैं और साकाहारी बहुत से शक्तिशाली एवं स्वस्थ देखे जाते हैं। अतः मांसाहार सब भाँति से निषेध करने योग्य है।

प्रश्न—शरीर के अस्वस्थ हो जाने पर डाक्टर-वैद्य यदि यह बतलावें कि शराब, मांश, मछली तथा अण्डा खावो, तो

रोग अच्छा हो जायगा। तो भयंकर रोग से छूटने के लिये अपने जीवन-रक्षा निमित्त यदि शराब मांस, मछली तथा अण्डा खा लेवे, तो क्या दोष है ?

उत्तर—महान दोष है। भला, सर्व रोगों का घर जो मांस है, उसके खाने से रोग अच्छा क्या होगा ? रह गया, उसके खाने से यदि कुछ दिन के लिये रोग अच्छा ही हो जाय, तो यह बात नहीं है कि फिर जीवन भर रोग नहीं आयेगा या मरण नहीं होगा। पूर्व जन्म कृत पाप-कर्मों का भोग सब को भोगना पड़ेगा। चाहे कितना भी मांस शराब अण्डा इत्यादि खाये, परन्तु एक दिन मरना अवश्य पड़ेगा। क्या मांसाहारी जीवन भर स्वस्थ ही रहते हैं ? क्या उनकी काया अविनाशी हो जाती है ? शरीर को भी त्याग कर धर्म की रक्षा करनी चाहिये। धर्म-रक्षा और धर्म-पालन के लिये शरीर है, शरीर के लिये धर्म नहीं है।

प्रश्न—पृथ्वी के उत्तरीय भाग में अर्थात् उत्तरीय ध्रुव क्षेत्र में टुण्ड्रा नामक प्रदेश पड़ते हैं। सुना जाता है, वहाँ छः महीने का दिन और छः महीने की रात होती है, वहाँ ठण्ढक अधिक होती है, नौ महीने केवल बर्फ-ही-बर्फ से वहाँ की पृथ्वी अधिकांश ढकी हुई रहती है। अतः वहाँ अन्न तथा फल-मूलादि बिल्कुल नहीं होते। वहाँ उन बर्फों में बड़ी-बड़ी मछलियाँ होती हैं। उन्हीं मछलियों को मार कर वहाँ के

लोग खाते हैं। मछली-मांस के अतिरिक्त उन लोगों के जीवन-निर्वाह का कोई अन्य आधार नहीं है। अतः वहाँ के लोग हिंसा-मांसाहार से कैसे बच सकते हैं?

उत्तर—आप प्रश्नकर्ता तो सब प्रकार सुविधा जनक, पवित्र, धार्मिक भारत-भूमि के निवासी हैं। यहाँ तो अन्न, जल, फल, मूल, दूध, घृत, मेवा तथा मिष्टान्नादि पर्याप्त (अधिक) मात्रा में प्राप्त हैं। फिर आप और हम सब को हिंसा-मांसाहार का सर्वथा त्याग करना चाहिये। यद्यपि यह धर्मोपदेश संसार के अखिल मानव समाजके लिये है। तथापि देश, परिस्थिति और वातावरण की कठिनाइयों से घिरे (बँधे) हुए देशों के लिये यहाँसे कोई विधान नहीं बनाया जा सकता। हाँ! पवित्र भूमि हम भारत वासियों के लिये सब प्रकार की सुविधा है, परमार्थ का ज्ञान है। अतः हमें निरामिष-साकाहारी और पूर्ण अहिंसकी होना चाहिये। टुण्ड्रा आदि जिस देश में विवश होकर मांस खाना पड़े, समझना चाहिये कि उस देश के मनुष्य पूर्व जन्म के बड़े पापी थे जो ऐसे नारकी देश में जन्म लिये। वहाँ के रहन-सहन ही सब घृणित हैं। वहाँ जल का अभाव होने से सुना जाता है टुण्ड्रा के लोगों को जीवन भर स्नान करने का अवसर नहीं प्राप्त होता। वहाँ लोग चमड़ा पहनते हैं। वहाँ बच्चा पैदा होने पर मातायें बच्चों के अंगों को अपनी जिह्वा से चाट-चाट कर साफ करती हैं। तो क्या यहाँ की मातायें भी ऐसे करने लग जायँ? या यहाँ

के लोग भी जीवन भर स्नान न करें ? या अन्न, फल, मूलादि न खायँ ? या कपड़ा त्याग कर चमड़ा पहनें ? फिर वहाँ के अन्य रहन-सहन, आचरण-आहार की समता न लेकर केवल हिंसा-मांसाहार ही का अंग लेना कहाँ तक उचित है ? अर्थात् सर्वथा अनुचित है। अतएव वहाँ (टुण्ड्रा) की परिस्थिति को वहाँ ही रहने देना चाहिये और यहाँ सब प्रकार सुविधा जनक पवित्र भारत-भूमि में रहकर पूर्ण अहिंसकी और शुद्ध साकाहारी होना चाहिये।

अवसर आ जाय तो प्राण त्याग देना चाहिये, परन्तु मद्य-मांस का आहार और हिंसा नहीं करने चाहिये। क्योंकि धर्म के अविचल बने रहने में शरीर की सफलता है, धर्म चले जाने पर जड़ शरीर रह कर क्या करेगा ? और फिर भी शरीर तो एक दिन नष्ट होगा ही।

प्रश्न—हिंसा-मांसाहार से कोई बच ही नहीं सकता है, क्योंकि वनस्पति वृक्ष आदि काटना हिंसा तथा अन्न, फल, साग, मूलादि खाना मांसाहार सिद्ध हो जायगा, क्योंकि वृक्ष-वनस्पतियों में जीवों का निवास है।

उत्तर—अन्न-फल-मूलादि जहाँतक अंकुरज वृक्ष वनस्पतियाँ हैं, ये निर्जीव पदार्थ हैं। इन सबों में चेतन जीव नहीं होते। चेतन जीव उन्हीं देहों में समझना चाहिये, जहाँ अन्तर-बाह्य ज्ञान हो, इच्छा युक्त क्रिया हो, हानि लाभ समझ कर त्याग-ग्रहण एवं चलना-फिरना हो, अनुकूल-प्रतिकूल परि-

स्थिति में सुख-दुःख मानना हो, कर्म-इन्द्रियाँ हों, ज्ञान इन्द्रियाँ हों, मन-वासना हों, जागृत-स्वप्न-सुषुप्ति, ये तीन अवस्थायें हों, भोजन, छाजन, मैथुन, भय, निद्रा और मोह ये छः पशुकर्म हों, निर्वाह के लिये क्रिया हो और अनुकूल-प्रतिकूल में राग-द्वेष हो। परन्तु उपरोक्त बातें मनुष्य; पशु, अण्डज एवं उष्मज, इन चार खानि के देहोंमें ही बर्तते हैं। वृक्ष-वनस्पति आदि अंकुरज पदार्थों में नहीं।

वृक्ष-वनस्पति अंकुरज में आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा, मुख, गुदा, हाथ, पैर आदि कोई भी इन्द्रिय न होने से, वे बाह्य-ज्ञान और क्रिया नहीं कर सकते, बाह्य ज्ञान-क्रिया नहीं होने से कोई वासना-संस्कार वृक्षों में नहीं टिकते, इसलिये वृक्षों में अन्तर ज्ञान या मन की सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार इन्द्रिय-मन रहित वृक्षों में जीवों का निवास मानना केवल भ्रम है। इन्द्रिय-मन से रहित होने के कारण ही अंकुरज में जागृत-स्वप्नादि तीनों अवस्थायें नहीं सिद्ध होती हैं।

वृक्षों में मुख कहाँ मानेंगे ? यदि जड़ में मानिये, तो जब कलम बाँधकर तथा काटकर पृथक् डगाली लगा दी जाती है। तब वहीं से वृक्षों का पोषण होता रहता है। यदि जड़ ही को मुख माना जाय, तो जड़ से कलम बँधी डगाली तो पृथक् हो गयी, फिर मुख पृथक् हो जाने से वह कलम बँधी डगाली किस मुख से खाद्य खाती है ? इसलिये उसमें मुख आदि नहीं हैं। वृक्ष जड़ से और ऊपर डगाली-पत्ते आदि

से तत्त्वों के परमाणु आकर्षण करते रहते हैं। उनके मुख्य को मुख नहीं होता।

मनुष्य, पशु आदि किसी देहधारी के अंग को काट डालिये, तो वे पृथक्-पृथक् सब कटे हुए अंग जीवित-सुरक्षित नहीं रह सकते और वे अंग बढ़कर न पूरे आकार-प्रकार युक्त ही हो सकते हैं। परन्तु वृक्षों से तो डालियों को काट-काट कर कितने ही स्थलोंपर पृथ्वी में रोप कर सुरक्षित वृक्षाकार किये जा सकते हैं। यदि वृक्षों में जीव हैं, तो एक वृक्ष में रहा हुआ एक जीव किन-किन डालियों में चला गया?

वृक्षों में भय आदि के कोई लक्षण नहीं दिखते। यदि वृक्ष पृथ्वी में गड़े होने से भाग नहीं सकते, तो किसी के काटने पर कम-से-कम थर्राना या शरीर हिलाना चाहिये। परन्तु उसमें जीव न होने से ये सब कोई क्रिया नहीं होती।

कंकड़-पत्थर के बढ़ने वत् बीजी असर से और तत्त्वों में स्नेह, रसायन आदि शक्ति से वृक्ष-वनस्पति भी बढ़ते रहते हैं। वायु-प्रकाशादि युक्त अधिक जलतत्त्व से वृक्ष हरे-भरे रहते हैं। इसलिये अन्न, फल, मूल आदि जहाँ तक अंकुरज वृक्ष-वनस्पति आदि हैं उनमें चेतन जीव नहीं होते। अतएव अंकुरज-पदार्थों का काटना न तो हिंसा है और न उनको खाना मांसाहार है। केवल इतना ध्यान रखना चाहिये कि अंकुरज होते हुए भी मादक न हो और शुद्ध अमनिया करके और धो-पोछ कर खाया जाय।

प्रश्न—बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों ने और आज-कल के विज्ञानी जगदीश चन्द्रबसु ने वृक्षों में जीव माना है, फिर कैसे न माना जाय ?

उत्तर—निर्णय में बड़े-छोटे का प्रश्न नहीं है। आज के विज्ञानी हों या पूर्व के कोई हों। वृक्षों में जीवों की मान्यता चाहे जिसकी हो, कपोल कल्पित है। सो ऊपर संक्षिप्त निर्णय से समझना चाहिये[१]।

प्रश्न—अहिंसाव्रत पालन करने के विषय में और भी समझाने की कृपा कीजिये ?

उत्तर—ऊपर जो समझाया गया है, उस पर ध्यान देना चाहिये और आगे भी सुनिये—सर्प, बिच्छू, जूँ, चीलर, खटमल (ढेकना) तथा चींटी आदि को भी जान-बूझकर भरसक नहीं मारना चाहिये। सर्प-बिच्छू को लोग काल समझ कर मार देते हैं; यह बड़ी भूल है। जो दूसरे को मारे वही काल है। फिर सर्प-बिच्छू को मारने वाले क्या काल नहीं हुए ? बल्कि सर्प-बिच्छू के काटे-छेदे हुए मनुष्य बहुत से बच जाते हैं—नहीं मरते। परन्तु मनुष्य के मारे हुए सर्प-बिच्छू

---

१ टि०—इसका विस्तार समझने के लिये सटीक दुखशमन चालीसा की १८ वीं चौपाई की व्याख्या देखनी चाहिये तथा अधिक विस्तार देखना हो तो भवयानसटीक का सातवाँ प्रकरण "जड़-चेतन निर्णय" देखना चाहिये।

तो बेचारे तुरन्त ही मर जाते हैं। फिर हिंसकी मनुष्य तो कालों से महाकाल हो गया। अतएव मनुष्य को काल नहीं बनना चाहिये। यह भी नहीं सोचना चाहिये कि 'सर्प-बिच्छू को यदि देखकर भी नहीं मार देंगे, तो समय से हमें या हमारे कुटुम्बियों को काट खायेंगे।' घर, ग्राम तथा पृथ्वी पर बहुत सर्प-बिच्छू छिपे रूप से रहते हैं। फिर वे सबको क्यों नहीं काट खाते ? जब तक जिनके बुरे प्रारब्ध (कर्म) के भोग नहीं उदय होते हैं, तब तक कोई भी सर्प-बिच्छू नहीं काट-छेद सकते। कितनी बार कई मनुष्यों के ऊपर से होकर, पाँव के नीचे दबकर सर्प-बिच्छू चले जाते हैं, परन्तु नहीं काटते-छेदते। कितना भी खोज-खोज कर सर्प-बिच्छू को मार डालो; परन्तु अपने बुरे कर्मों के भोग जब उदय होंगे, तब कहीं से आकर सर्प-बिच्छू काट खायेंगे। मान लीजिये सर्प-बिच्छू न काटें-छेदें; परन्तु जब बुरे कर्म का भोग उदय होगा— क्षण ही में लकवा (फालिज) मार देगा, जीवन मिट्टी हो जायगा। कुष्ट रोग पकड़ लेगा या और भी भयंकर व्याधियाँ एकाएक अचानक आ जायँगी जिससे मनुष्य तुरन्त बिल्कुल विवश हो जायगा। अधिक प्रारब्ध प्रकोप होने से दवाई-पानी एक भी न लगेगा। और असह वेदना सहकर प्राण त्यागना होगा। जो कर्म भोग है, भोगना अवश्य पड़ेगा। फिर इस न्याय से हिंसादि कर्मों से पाप की गठरी बाँध कर आज और आगे जन्मों में दुःखों का पात्र जीव बन जाता है।

जो पहले जन्म में अच्छा-बुरा किया गया, वह आज भोगा जाता है और जो इस जन्म में अच्छा-बुरा किया जायगा, उसे कुछ अब और अधिक आगे जन्मों में भोगना पड़ेगा। कर्मों का रहस्य अत्यन्त गूढ़ है। इसे निर्विषयी, सूक्ष्मदर्शी विवेकी ही भलीभाँति समझते हैं। जब तक नर-जन्म में ज्ञान उदय नहीं होता, तब तक कर्म राशि का अन्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त—

खटमल, जूँ चीलर तथा चींटी आदि को भी शक्ति चले तक हिंसा से बचाना चाहिये। पहले तो खूब सफाई रखनी चाहिये, जिससे खटमल-जूँ आदिक न परें। और यदि हो जावें, तो युक्ति पूर्वक उन्हें निकाल कर अलग करे। खटमल पड़ने पर चारपाई (खटिया) को ग्राम के बाहर थोड़ा धूप दिखला कर पेड़ के नीचे छाया में ले जाकर उसको ढीला करके या अधिक होने पर मचवा-सिरई उखाड़ कर झाड़ देना चाहिये। खटिया पर गर्म जल डालना या धूप में उसे पटक कर खटमल मारना तथा गड्ढे में चारपाई डालना—त्याग देना चाहिये। इसमें हिंसा होती है। यह बचाया जा सकता है, शक्ति के बाहर नहीं है।

कपड़ा स्वच्छ रखना चाहिये, जिससे कपड़े में गन्दगी न हो, चीलर न पड़ें। यदि कदाचित् चीलर पड़ जायँ, तो उन्हें

निकाल कर जीते जी अलग फेंक देवे[१]। स्त्रियों के शिर में बड़े-बड़े बाल होते हैं, स्वच्छता न रखने से जूवें पड़ जाते हैं। उन्हें चाहिये प्रथम जल-मिट्टी एवं साबुन से धोकर स्वच्छ रखें। पुनः कदाचित् जूवें पड़ जाने पर उन्हें हाथ से निकाल कर जीते जी कहीं रख देवें। स्त्रियों का धर्म है बायें हाथ से झाड़ू लेकर छोटी-छोटी चींटी या जीव जन्तुओं को धीरे-धीरे हटाते हुए चौका लीपें। चूल्हा झाड़ कर अग्नि जलावें। लक्कड़ी कण्डा (छेना) झाड़ कर जलाने के काम में लेवें। चावल दाल विचार कर जल छानकर भोजन बनावें। कोई काम के लिये जल गर्म करना हो तो छान लें। हर मनुष्य का कर्तव्य है मार्ग देखकर चले, यथाशक्ति बचाकर कोई काम करे। जिससे जान-बूझकर भरसक हिंसा न होने पावे। आजकल लोग भाँति-भाँति की विषैली दवाइयों को छिड़क कर निरपराध मच्छड़ मक्खियाँ चूहा और छिपकली आदि को मारते हैं। परन्तु न तो मच्छड़ और मक्खी आदि की संख्या कम होती है और न तो रोगी ही कम होते हैं, मक्खीमारों का सारा

१—यहाँ लोग प्रश्न करते हैं कि यदि जूवाँ खटमल आदि को निकाल कर अलग कर दिया गया, तो भी तो हिंसा हुई ? इसका उत्तर यह है कि मार डालने की अपेक्षा जीते जी अलग कर देना तो अच्छा ही है। फिर भी उनका आहार मैला-कचड़ा है, वे कहीं भी प्रारब्धानुसार खाते-जीते रहेंगे। शक्ति चले तक हिंसा बचाना चाहिये। शक्ति के बाहर क्या किया जायगा ?

प्रयत्न केवल पाप की गठरी बाँधने के लिये ही होता है। जो लोग हिंसा करने का कानून बनाते हैं, वे पाप के भागी होते हैं।

रोग दो प्रकार के होते हैं—एक पूर्व जन्मों के पापों से दूसरा अब के असंयम से। इन दोनों का प्रायः पहले स्पष्ट निर्णय नहीं किया जा सकता कि कौन रोग पूर्व का पापकृत है और कौन रोग आज के असंयम से है। उचित औषध-संयम से जो रोग नाश हो जाय, उसे आज के असंयम से जानना चाहिये। और जो रोग औषध-संयम से थोड़ा ही शान्त होते दीखे या बल्कि औषध-संयम करते हुए रोग बढ़ता ही दीखे, तो उसको पूर्व के पाप कृत समझना चाहिये। इसलिये जो रोग असंयम से हो गया होगा; वह सात्विकी अहिंसकी औषध और संयम से निवृत्त हो जायगा। और जो रोग पूर्व जन्मों का पाप कृत होगा, वह बिना भोगे मिट नहीं सकता। फिर ऐसी अवस्था में रोग निवृत्ति के लिये हिंसा-मांसाहार करना बिल्कुल भूल है। बल्कि पाप की गठरी बाँध कर आगे जन्मों में अधिक रोगी-दोषी एवं दुखी होने का बीज बोना है। विचारवान् अहिंसकी मनुष्यों को तो इतना दृढ़ निश्चय रहता है कि असह दुःख भले भोगना पड़े, प्राण भले चले जायँ। परन्तु किसी भी हेतु से जान-बूझकर भरसक किन्हीं छोटे-बड़े देहधारी जीवों की हिंसा नहीं करूँगा और मांस नहीं खाऊँगा।

प्रश्न— गृहस्थाश्रम में अहिंसा-व्रत का पालन कैसे करे ?

उत्तर—गृहस्थ लोग गृहस्थी करना छोड़ देवें, तो बन नहीं सकता। जो जिनका उचित कर्तव्य है, उसको उन्हें करना ही चाहिये। अब रहा उनके लिये बचाव का मार्ग यह है कि अहिंसाव्रत पालन करने का मन में पूर्ण निश्चय रखें। दया भाव पूरा हृदय में बनाये रखें। जान-बूझकर जहाँ तक शक्ति चले, तहाँ तक कोई भी काम करते समय जीवों की हिंसा बचावें। जो अन्जान में या शक्ति न चलने पर हिंसा हो जाती है, उसके लिये कुछ नहीं कहा जा सकता। वास्तव में अपने मन में हिंसा की भावना न होने से उसका पाप भी नहीं लगेगा। परन्तु जो जान-बूझकर शक्ति चले तक हिंसा नहीं बचायेगा या आलस्य-प्रमाद-असावधानी से हिंसा की परवाह नहीं करेगा तथा जीवों की हिंसा होते देखकर अनुमोदन (प्रसन्नता प्रकट) करेगा; उसको हिंसा का पाप अवश्य लगेगा। अतएव मन में पूर्ण दया धारण कर शक्ति चले तक जीव-हिंसा बचानी चाहिये। यों तो गृहस्थाश्रम एक खटपट और कालिमा का घर है। अतः गृहस्थों के लिये इसीलिये महापुरुषों ने विधान बनाया है कि वे (गृहस्थ) लोग खेती-नौकरी-व्यापार द्वारा कमाये हुए धन का दसवाँ भाग धर्म में लगावें। वर्तमान समय में ऐसे लोग बहुत ही कम होंगे कि अपनी कमाई का दसवाँ भाग धर्म में खर्च करते हों। धर्म-हीन होने से ही आज-कल मनुष्य अधिक दुखी हैं। यद्यपि वर्तमान में भी कुछ लोग ऐसे हैं कि अपने और आश्रयी

जनों के मुख्य निर्वाह के लिये रख कर बाकी सब-के-सब कमाई का फल धर्म में लगा देते हैं। परन्तु ऐसे बहुत कम हैं। अतः दया पूर्वक शक्ति भर छोटे-बड़े सभी जीवों के प्रति अहिंसा व्रत पालन करना चाहिये और अन्तःकरण की शुद्धि के लिये धर्म परोपकार करना चाहिये।

बैल, गाय, भैंस तथा अन्य जानवरों को उतना ही रखना चाहिये, जिनकी भलीभाँति सेवा कर लेवे। यदि बहुत से गाय, भैंस, बैल, घोड़ा आदि रखकर उनकी उचित सेवा-रक्षा नहीं कर पाते, तो पाप पड़ता है। भक्त-सज्जनों को भेड़-बकरियाँ नहीं रखना चाहिये, क्योंकि उन्हें पालकर अन्त में चिकवा (वधिक) के हाथ में लोग बेंचते हैं। या जो पाले तो किसी के हाथ बेंचे नहीं। भेड़-बकरियाँ बुढ़ा कर अपने मृत्यु से जब तक न मर जायँ, तब तक उनकी पूर्ण सेवा करे। ऐसे गाय, बैल, भैंस आदि की भी उनकी मृत्यु तक भलीभाँति सेवा करनी चाहिये। बुड्ढे होने पर न निरादर करना चाहिये और कसाई के हाथ में सज्जन बेचेंगे ही कैसे ? इसलिये उसके विषय में समाधान करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। गर्मी में ताप से, वर्षात में पानी और मच्छड़ से तथा शीतकाल में ठण्ढक से अपने पशुवों की भलीभाँति रक्षा करनी चाहिये और पेट भर चारा खिलाना चाहिये। गाड़ी, हल तथा कोल्हू आदि में जोखड़ कर इतना अधिक बोझा नहीं लादना चाहिये या इतना अधिक काम नहीं लेना चाहिये जिससे पशुओं को

अधिक कष्ट हो। उचित मात्रा में पशुओं से काम लेना चाहिये। पैना (छड़ी) में लोह की अरई (काँटी) लगवा कर हल (नागर) जोतते या गाड़ी हाँकते समय बैल-भैंसा आदि के अंगों में नहीं धँसाना चाहिये और न डण्डे से ही अधिक मारना चाहिये। जो खेत जोतते समय या गाड़ी, कोल्हू आदि हाँकते समय बैल-भैंसों को अधिक मारते या कोंचते हैं, वे पाप के भागी होंगे। अतः इसारे से बैलों को हाँकना चाहिये।

तित्तिर नहीं जिलाना चाहिये, क्योंकि यह महान हिंसकी होता है। तोता-मैना भी नहीं जिलाना चाहिये, क्योंकि पिजड़े रूप कारावास में अनावश्यक निरपराध प्राणी को बन्द करने से मनुष्य पाप का भागी होता है। चींटा, दीमक आदि के घर में निकलने से उनके ऊपर गर्म राख नहीं छोड़ना चाहिये। यह महान पातक है।

खेत कमाने, घर बनाने, बाग लगाने, भोजन बनाने चौका या झाड़ू लगाने तथा मार्ग चलने आदि निर्वाहिक या पारमार्थिक कार्यों के स्थानों पर यथाशक्ति जीवहिंसा बचा कर कार्य करना चाहिये और मनःकल्पित कार्यों में जैसे तित्तिर जिलाना, तोता-मैना जिलाना, बुलबुल पकड़ना आदि सर्वथा त्याग देना चाहिये। फसल काटने या फल तोड़ने के समय कुछ अन्न-फल आदि छोटे-छोटे जीव-जन्तुवों के खाने के लिये छोड़ देना चाहिये। अपनी कमाई से दीन-दुखियों की

सहायता-रक्षा करते रहना चाहिये। और दया-धर्म धारण करके सदैव परोपकार और सन्त-सेवादि करते रहना चाहिये। इस प्रकार सज्जन अहिंसा व्रत पालन कर अपना सुधार कर सकते हैं।

दोहा—हिंसा चोरी मुखबिरी, झूठ बिरानी नारि।
जो चाहे कल्यान को, इतनी बात निकारि॥

हिंसा–मांसाहार–निषेध–कहरा

त्यागो हिंसा मांस भाई दुख दायी करनी॥ टेक॥
हस्ती से कीड़े तक जितने जीव जन्तु दिखलाई।
शक्ति चले तक तिन्हें बचावो देव न दुःख कदाई॥
तबहीं तुमहूँ सुख पाई॥ दुख दाई०॥ १॥
रज बीरज से मांस बना है मल मूत्रहिं लपटाई।
अति दुर्गन्ध अपावन देखो दूर से रहा बसाई॥
भलो मानुप कैसे खाई॥ दुख दाई०॥ २॥
सिंह स्यार भेड़हा बिलार बकुला कूकर जो भाई।
मांस अहार इन पशु पक्षी का तामस क्रूर कसाई॥
चील्हौ गीधौ कै खवाई॥ दुख दाई०॥ ३॥
जीव बधन जो आज्ञा देवे दूजे बधै जो लाई।
तीजे जो खरीद घर लावे चौथे बेचै भाई॥
पँचयें काटि बनावे धोवे छठये जौन पकाई।
सतयें मांस जो पारुष करई अठये जौन चबाई॥

हिंसा का फल इन आठों को लागै पाप अघाई ।
धर्म शास्त्र में ऋषि मुनि आदिक ऐसो कहा बुझाई ॥
तातै आठों ये कसाई ॥ दुख दाई० ॥ ४ ॥

जीव बधै औ मांस भखै जो तामस पन बढ़ि जाई ।
दया विचार शील सत श्रद्धा मानुष गुण नशिजाई ॥
मानव दानव ह्वै दिखाई ॥ दुख दाई० ॥ ५ ॥

मांस अहार में रोग अधिक है वैद्य डाक्टर गाई ।
जाहि पशू कै मांस खाय ता पशु कै रोग उगाई ॥
लोको परलोको नशाई ॥ दुख दाई० ॥ ६ ॥

अन्न दूध फल साग मूल मानुष का भोजन गाई ।
तजो मांस अण्डा मछली हिंसा पिशाच पन भाई ॥
सुन्दर तन धर नाहिं लजाई ॥ दुख दाई० ॥ ७ ॥

घर में मुर्दा मरै जो कोई ता दिन अन्न न खाई ।
बाहर से यक मुरदा लावैं ताको खायँ पकाई ॥
देखो दुनिया कै बौराई ॥ दुख दाई० ॥ ८ ॥

जीव कै बदला जीव चढ़ावैं अपने लरिकन ताईं ।
यही पाप से अन्य जन्म में लरिके जिये न भाई ॥
झूठे माने देवी दाई ॥ दुख दाई० ॥ ९ ॥

जीव वधे का बदला तुमका देवैक परी अघाई ।
बकरा मुरगा का तन पइहौ काटै तुम्हें कसाई ॥
यामें जानों झूठ न राई ॥ दुख दाई० ॥ १० ॥

अपनी जान समान सभी को जानो प्यारे भाई ।
दया मेहर अभिलाष धरो दिल याही मानवताई ॥
नहिं तो नर-पिशाच हौ भाई ॥ दुखदाई० ॥ ११ ॥

एक मनोवैज्ञानिक ने लिखा है कि छोटा मस्तिष्क जो बड़े मस्तिष्क के नीचे अर्थात् शिर के पीछे भाग में रहता है। शराब पीने या नशा के सेवन से वह छोटा मस्तिष्क ठीक रीति से कार्य नहीं कर पाता है। यही कारण है कि नशे में मनुष्य ठीक बोल तथा चल नहीं पाता।

स्नायु-मंडल पर शराब का प्रभाव ।

शराब और अन्य मादक-द्रव्यों का स्नायु-मंडल पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के नशैले पदार्थ थोड़ी देर के लिये कोषों को बढ़ाकर इनमें चेतना उत्पन्न कर देते हैं, परन्तु अन्त में वे सजीव कोषों को मार डालते हैं। मादक-द्रव्यों के उपयोग से स्नायुओं के कार्य में वाधा होती है।

(शरीर-विज्ञान)

तम्बाकू के दुष्परिणाम ।

प्रत्येक प्रकार की तम्बाकू में निकोटिन नामक एक उत्तेजक जहरीला पदार्थ रहता है। इसके उपयोग से भी स्नायु शिथिल हो जाते हैं। और इससे क्षय रोग, केन्सर आदि बीमारियाँ हो जाती हैं। इसीलिये बीड़ी सिगरेट या अन्य किसी रूप में तम्बाकू पीना हानि कारक होता है।

(शरीर–विज्ञान)

अतः शराब, गाँजा, भाँग, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेटादि व्यसनों का त्याग करना परम् आवश्यक है।

मांसाहार के समान ही मदिरा पीना महान पाप जनक और बुद्धि नाशक है। अतः निम्न भजन को मनन कर मदिरा त्यागना चाहिये।

मद्यपान-निषेध—कहरा

त्यागो मदिरा कै पियाई मानो भाई बतिया ॥ टेक ॥
मदिरा पिये बुद्धि सब नाशै धन कै होय सफाई।
आदत पड़ै चैन नहिं आवै चिन्ता रही जलाई ॥
चोरी कइकै मदिरा लाई ॥ मानो भाई० ॥ १ ॥
पहिला प्याला के पीते ही तोता अस तुतराई।
दुसरे प्याला के पीते खन घोड़ा अस हिंहियाई ॥
झूमैं हाथी सो सुँसुवाई ॥ मानो भाई० ॥ २ ॥
चौथे प्याला के पीते ही गदहा अस होइ जाई।
जहाँ तहाँ नाली कचड़ा में लौटे लाज बिहाई ॥
कूदै एक-एक पर धाई ॥ मानो भाई० ॥ ३ ॥
निशिदिन करै कुसंग को सेवन सब दुर्गुण उपजाई।
चोरी जारी करै लबरई ताड़ी पीट हहाई ॥
तन कै लाज शर्म बिसराई ॥ मानो भाई ॥ ४ ॥
मदिरा पीना महा पाप है वेद सन्त कहैं भाई।
याते मदिरा पीना त्यागो कह अभिलाष बुझाई ॥
यहि में तुम्हरो है भलाई ॥ मानो भाई० ॥ ५ ॥

गाँजा, भाँग, बीड़ी, सिगरेट, चर्स, चण्डू, तमाकू, दोहरा तथा सुर्ती आदि नशीली वस्तु सब प्रकार हानिकर जानकर और नीचे का भजन मनन करके त्याग देना चाहिये ।

अमल-निषेध-कहरा

दीजै अमल हटाई मेरे भाई अमली ॥ टेक ॥

गाँजा चरस बड़ा दुख दाई खाँसी दमा बुलाई ।
तन का रक्त भस्म कै डारै खर्चा बढ़ै सवाई ॥
नशवा बुद्धी को नशाई ॥ मेरे भाई० ॥ १ ॥

बीड़ी औ सिगरेट इसी गाँजा का लहुरा भाई ।
विद्या बुद्धि धर्म धन बल से होवे हाथ सफाई ॥
तेहि पर बाबू को सुहाई ॥ मेरे भाई० ॥ २ ॥

कोई कच्ची सुर्ती खावै भोरे भीख मँगाई ।
बीच सभामें करै थुकाई मुहवो लगै बसाई ॥
सूर्ती झूठो देय बोलाई ॥ मेरे भाई० ॥ ३ ॥

देखी देखा घर कुटुम्ब के सब अमली होइ जाई ।
सद्गुण घटै दोष तन बाढ़ै चोरिउ रारि कराई ॥
त्यागो त्यागो दुख दाई ॥ मेरे भाई० ॥ ४ ॥

भाँग पिये से बुद्धि भ्रष्ट ह्वै ज्ञान ध्यान नशि जाई ।
दोहरा पान अमल सब दुखदा चिन्ता खर्च बढ़ाई ॥
आदत बारम्बार सताई ॥ मेरे भाई० ॥ ५ ॥

याते सर्व अमल को त्यागो तन मन शुचि होइ जाई ।
व्यर्थ हर्ज खर्चा से छूटै चित परसन्न रहाई ॥
सुख मय जीवन अपन बिताई ॥ मेरे भाई० ॥ ६ ॥
जो धन होय धर्म में खर्चो पर उपकार कमाई ।
भक्ति धरम करि सुयश कमावो यह अभिलाष हिताई ॥
याते अमल बिहाई ॥ मेरे भाई अमली ॥ ७ ॥

३—जीव वाद या चेतन बाद का महत्व ।

सत्य वही जो जीव जमा है, पारख दृष्टि बताय रहे ।
धारण वैसे करै निरन्तर, औरो कोहि गहाय रहे ॥

सत्य वही है, जो अविनाशी जीव है, पारख ज्ञान के लक्ष्य से पारखी सन्त यही बात बतला रहे हैं और जैसे जीव का स्वरूप और उसकी स्थिति है, वैसे वे पारखी सन्त सदैव धारण करते हैं तथा अन्य अधिकारी मनुष्य को भी वही स्थिति ग्रहण कराते हैं ।

प्रश्न—इस पद में केवल जीव ही को सत्य माना गया है, तो क्या जीव से भिन्न पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु—ये चार तत्त्व असत्य हैं ?

उत्तर—संसारमें एक जड़ दूसरा चैतन्य जीव, ये दो ही पदार्थ अनादि सत्य हैं । चैतन्य जीव अगणित, अविनाशी, स्वतः भिन्न-भिन्न हैं और जड़ वर्ग में चार तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, तेज और वायु । ये भी अपने अपने स्वरूप से अनादि,

सत्य, स्वतः भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु धर्म, गुण, क्रिया तथा मेलादि षट् भेदों से चारों का परस्पर मिश्रितपन लगा रहता है। अतः अगणित जीव और चार जड़-तत्त्व अपने-अपने स्थान पर दोनों सत्य हैं। जड़-तत्त्वों के निर्णय का प्रसंग यहाँ न होने से जड़-तत्त्व सत्य हैं या क्या हैं ? इसके विषय में मूल पद में ग्रन्थकर्ता कुछ नहीं कहे हैं। यहाँ चेतन के निर्णय का प्रसंग होने से मात्र जीव का नाम लेकर उसे सत्य बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि चेतन को लोग कई प्रकार से मानते हैं। कोई कहता है—(१) चेतन के ऊपर मालिक है और चेतन उसी के वश है। (२) कोई कहता है—ये अगणित चेतन कोई विशिष्ट चेतन के अंश हैं। (३) कोई कहता है—चेतन व्यापक ठोसमठोस सर्वत्र भरा है तथा (४) कोई कहता है—चेतन अद्वैत जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण है। इस प्रकार चेतन के विषय में नाना द्वन्द्व हैं, यहाँ इन सबों का संक्षिप्त निराकरण किया जाता है।

(१) चेतन स्वतः अनादि अविनाशी होने से, उसके उपर कोई मालिक सिद्ध नहीं होता। प्रत्यक्ष में जीव स्वतन्त्र है, मनुष्य शरीर में जैसा समझ-संग वश पाप-पुण्य कर्म करता है, तैसा बीज-वासना वश सुख-दुःख स्वयं भोगता है। सर्व समर्थ एवं सर्वान्तर्यामी मालिक को लोग थापते हैं। परन्तु हिंसा, चोरी, व्यभिचारादि घोर पाप कर्म होते हुए भी वह किञ्चित् भी नहीं रोक पाता है। मालिक के विषय में नाना

मत की नाना कल्पित परस्पर विरोधी कल्पनायें हैं। एक राज्य में नाना परस्पर विरोधी कानून नहीं चलते। फिर एक मालिक के राज्य में नाना विरोधी मत क्यों हैं? अतः कल्पना के अतिरिक्त मालिक की कोई स्थिति नहीं है।

(२) ये अगणित चेतन जीव कोई विशिष्ट चेतन के अंश भी नहीं हैं। जैसे अंश रूप घर घड़ा आदि अनन्तों कार्य-पदार्थों का अंशी (राशि) रूप पृथ्वी आदि चार-तत्त्व प्रत्यक्ष हैं। इसी प्रकार अगणित चेतन जीवों का अंशी रूप विशिष्ट चेतन-राशि निर्णय, अनुभव, युक्ति एवं प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। अंशी-कारण रूप पृथ्वी आदि तत्त्वों से अनन्त घर-घड़ादि अंश-कार्य पदार्थ बन कर पुनः लय रूप नाश होकर अपने कारण में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार चेतन जीव किसी से बन कर नाश नहीं होते। अतएव अगणित घटधारी जीव किसी के अंश-अंशी कारण-कार्य नहीं हैं। ये स्वतः उत्पत्ति-नाश रहित अविनाशी अनादि सद्वस्तु हैं।

(३) चेतन सर्वत्र व्यापक ठोसमठोस भरा भी नहीं है, यदि सर्वत्र चेतन ही ठोसमठोस भरा है, तो पृथ्वी आदि चार जड़-तत्त्व और उनके अनन्त कार्य-पदार्थ कहाँ पर हैं? प्रत्यक्ष ही चारों ओर पोल है। उसी पोल में चार तत्त्व, उनके अनन्त कार्य तथा अगणित घटधारी जीव गमनागमन कर रहे हैं। अतएव चेतन सर्वत्र ठोसमठोस नहीं भरा है। बल्कि भिन्न-भिन्न अपने-अपनेस्वरूप से ठोसवान् अगणित अनन्त हैं।

(४) चेतन अद्वितीय (मात्र एक) भी नहीं है , बल्कि प्रत्यक्ष ही जितने घट हैं, उतने भिन्न-भिन्न चेतन जीव दर्शित हैं। बिना विकार, स्फूर्ति तथा संचालन के सृष्टि उत्पन्न होनी असम्भव है। और शुद्ध अद्वैत में विकार-स्फूर्ति-संचालन मानना सर्वथा विषम है। अद्वैतवाद के न्याय से जड़-चेतन, बन्ध-मोक्ष, शंका समाधान, गुरु-शिष्य मानना विषम है। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि अद्वैतवादी भी इन सब बातों को मानते हैं। यदि अद्वैत ही है, फिर नाना मत-विरोध क्यों खड़े हैं ? द्वैतवाद एवं अवैदिक सिद्धान्तवाद को अद्वैतवादी नास्तिक या भेदवादी क्यों कहते हैं ? नास्तिक-आस्तिक भेद-अभेद कहना बिना द्वैत भास के कैसे हो सकता है ? ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादन कारण कहते हैं, फिर जगत् से ब्रह्म क्या भिन्न ठहरा ? पुनः जगत्-ब्रह्म जब एक है, तो जगत् को दुःख रूप बतला कर मुक्त होने का उपदेश किसके प्रति देते हैं ? यदि जगत् ब्रह्म में मरु भूमि में जलभास न्याय तथा रज्जु (रस्सी) में सर्पभास न्याय है। तो जल कहीं प्रत्यक्ष देख कर पश्चात् मरुभूमि (रेतीली भूमि) में जल का भास होता है और प्रथम सर्प देख कर रज्जु में सर्प का भ्रम होता है। प्रथम बिना प्रत्यक्ष जल-सर्प देखे नहीं । फिर क्या कभी जीव प्रत्यक्ष कहीं सत्य जगत् को देखा था कि पश्चात् जगताकार ब्रह्म को भी देख करके उसमें जगत्भास खड़ा हुआ ? सीपी-चाँदी, रज्जू-सर्प तथा मृग-जल वत् आदि

जितने प्रमाण लेकर जगत् का सरूपतः मिथ्यात्व और अद्वैत चेतन की सत्यता प्रतिपादन करते हैं, वे सर्व प्रमाण इसी जगत् के ही हैं। बिना जगत् के अस्तित्त्व रहे प्रमाण किसका और कैसे देंगे? पंच ज्ञान इन्द्रिय रूप बाह्यकरण एवं चतुष्टय रूप अन्तःकरण से सदैव दृश्यमान् कारण रूप से नित्य और कार्य रूप से प्रवाह मय अनित्य, अनादि से अनन्त काल तक (सदैव) रहने वाले जगत् को भला! कौन-सा बुद्धिमान अनुभवी मनुष्य मूलतः मिथ्या कह सकता है? हाँ! यह कहना उचित है कि चेतन के निश्चित स्वरूप में त्रयकाल जगत् नहीं है और जगत् के निश्चित स्वरूप में त्रयकाल चेतन नहीं है। फिर इस न्याय से जड़-चेतन दो पदार्थ अनादि सिद्ध हो गये, तो अद्वैतवाद कहाँ रहा? वेद एवं श्रुति के अतिरिक्त अद्वैतवाद के पुष्टि अर्थ अन्य क्या प्रमाण है? यदि वेद को स्वयं प्रमाण रूप मानिये, तो वेद के प्रामाणिकता का भी अन्य क्या प्रमाण है? जब कि द्वैत-त्रैत और भेदवाद प्रतिपादक अनेक विरोधी प्रकरणों के कथन वेद में मिलते हैं। यों तो अपने-अपने मूल ग्रन्थों को ईश्वर रचित तथा अपुरुषेय स्वयं प्रामाणिक मानकर सभी मत वादियों ने अपने ग्रन्थ-पन्थ को उच्च तथा अन्य मत-ग्रन्थ को गौण (मध्यम) या बिल्कुल भ्रम पूर्ण बतलाया है। वेद वादी कहते हैं—जो वेद के विरुद्ध मत है, वह नास्तिक है। तिसमें भी अद्वैतवादी अपने को वेदवादी समझते हैं, अन्य को अवैदिक कहते हैं, तो आर्यसमाजी मुख्य अपने को वेदवादी मानकर

अद्वैत वादियों तथा वैष्णवों को खुले शब्दों में नास्तिक और वेद-विरुद्ध कहा है। एक ओर निर्गुण उपासक मूर्ति-पूजकों को और मूर्ति पूजक निर्गुण उपासकों को भ्रमिक कहते हैं, तो दूसरी ओर इस्लाम को मानने वाले मुसलमान लोग कहते हैं—कुरान को न मानने वाले काफिर (नास्तिक या शैतान) हैं। और आगे बढ़िये तो जैनी लोगों को देखा जाता है, वे अपने सिद्धान्त के विरुद्ध मत के गुरुजनों को 'कुगुरु' कहे हैं। तो बौद्धों ने स्वमत रहित अबौद्धों को 'अज्ञ पृथक् जन' कहा है।

इस प्रकार प्रायः सभी मतवादियों ने अपने मत या ग्रन्थों को मुख्य प्रामाणिक और सर्वश्रेष्ठ निरूपण करके अन्य मतों की गौणता या तुच्छता प्रतिपादन किया है। परन्तु विवेकी जन किसी को भला-बुरा न कह कर विवेक विचार और निर्णय-सत्सग में जो बात उचित जँचती है, उसे ही निष्पक्ष एवं निर्मान होकर मानते हैं। अपने मत और ग्रन्थों का अभिमान और पक्ष करना व्यर्थ है। यदि दया, शील, क्षमा, अमानता, विचार, समता, सुहृदता एवं "वसुधैव कुटुम्बकम्" तथा "आत्मवत् सर्व भूतेषु" (समस्त पृथ्वी पर के प्राणी मेरे प्रिय कुटुम्बवत् तथा मेरे समान हैं।) इत्यादि भाव मन में और आचरण में न आया। तो हम अपने सिद्धांत को चाहे जितना श्रेष्ठ मान कर अभिमानी बने रहें, उससे हमारा न तो किञ्चित् कल्याण होगा और न तो अच्छे लोगों

की दृष्टि में हम अच्छे ही गिने जायँगे। परन्तु यदि उपर्युक्त सद्गुण मनुष्य में हैं, वह किसी सिद्धान्त का मिथ्या पक्ष अभिमान न लेकर और किसी सिद्धान्त की अनुचित निन्दा न करके विचार-विवेक और निर्णय-सत्संग की विशेषता मानता है। तो वही मनुष्य श्रेष्ठ मानने योग्य है। इस कथन का भाव यह न होगा कि "यहाँ श्रद्धा को स्थान ही नहीं देना चाहिये या केवल तर्क तथा बुद्धिवाद का ही आश्रय लेना चाहिये।" तात्पर्य यह है कि श्रद्धा को समुचित स्थान देते हुए विवेक-विचार और निर्णय-सत्संग पर अधिक ध्यान देना चाहिये। केवल तर्कवादी या बुद्धिवादी नास्तिक हो जाते हैं और विचार-विवेक रहित केवल श्रद्धा ही को अन्तःकरण में स्थान देने वाले भावुक जन जिस किसी भ्रमिक को गुरु मान कर कल्पित भूत-प्रेत और पीपल-पाकर, काष्ट-धातु, नदी-पर्वत एवं मिट्टी-गोबर तक का पूजन करके और उसी को ज्ञान-उपासना की पराकाष्ठा (हद्द) मान कर अपने को कल्याण रूप समझने का भ्रम कर बैठते हैं। इससे उनकी हानि होती है।

विचार करके देखिये, उचित श्रद्धा और विवेकी सन्तों के निर्णय सत्संग तथा विवेक-विचार से जो यथार्थ ज्ञान सिद्ध होता है, उसी को वास्तव में वेद कहते हैं। वेद का अर्थ ही होता है 'यथार्थ-ज्ञान' फिर भावुकतावश किसी ग्रन्थ ही को वेद मानकर उसके वाक्यों में अपने बुद्धि और मत को सीमित कर देना कहाँ तक विचार युक्त कहा जा सकता है। यदि

किसी ग्रन्थ का नाम वेद है, तो परीक्षक सन्तों के सत्संग में विवेक निर्णय की कसौटी पर उसे कसकर ही उसके यथार्थ बातों को हृदयंगम करना चाहिये। हिंसात्मक-अहिंसात्मक और कल्पनात्मक-सत्यात्मक उसके सभी बातों पर स्वीकृति दे देना, विवेक-निर्णय और न्याय के सर्वथा विषम है। किसी कवि ने कहा है—

श्लोक "युक्ति युक्तं वचो ग्राह्यं बालादपि शुकादपि।
युक्त हीनं वचस्त्याज्यं वृद्धादपि शुकादपि॥"

अर्थात्—'युक्ति पूर्वक वचन कहे हुये बालक और तोते के भी ग्रहण करने योग्य हैं। परन्तु युक्ति हीन वचन कोई विद्वान् या शुकदेव ही कहें, तो भी सर्वथा त्यागने योग्य हैं।'

श्लोक-"युक्ति युक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
अन्य तृण मिव त्याज्यं मप्युतं पद्मयोनिनः॥"

अर्थात्—'युक्ति पूर्वक सत्य वचन कहे हुए बालक के भी माननीय हैं और असत्य वचन पद्म-योनि ब्रह्मा के भी हों, तो भी तृण के समान त्यागनीय हैं।' इसीलिये श्रीकृष्ण जी अर्जुन से श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं—

श्लोक—त्रय गुण्य विषया वेदा निष्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्य सत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
(गीता २।४५)

हे अर्जुन—वेद तो तीनों गुणों के भोग और उनके कर्म

के विधायक हैं। अतः तुम उन वेदों के उपदेश रूप भोगासक्ति से सर्वथा रहित, शान्त, नित्य सत्य स्वरूप में स्थित एवं भोग-पदार्थों की प्राप्ति-रक्षा की कामना से हीन और स्ववश मन वाला हो जाओ।

सारांश—पराये सिद्धान्त की निन्दा करना और तुच्छ दृष्टि से देखना त्याग कर उचित श्रद्धा युक्त सत्संग-विचार द्वारा यथार्थ नीर्णीत सिद्धान्त को मानना चाहिये। क्योंकि कहा है—सत्यान्नास्ति परो धर्मः—अर्थात् सत्य से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है। और सत्य भी एक है, जैसे सबके लिये जल में शीतलता है। अतएव निर्णय से जो सत्य ठहरे, वही विवेकवानों को अपना सिद्धान्त मानना चाहिये। नम्र-निवेदन है कि पूज्य सन्त-महात्मा और प्रिय सज्जन जन इस बात पर निष्पक्ष-निर्मान हो गम्भीरता पूर्वक विवेक करें।

अतएव चार जड़ तत्त्व रूप जगत् से और व्याप्य-व्यापक, अंश-अंशी, कार्य-कारण भाव से सर्वथा भिन्न चेतन जीव एक-एक देशी अनादि, अखण्ड, स्वतः ज्ञान मात्र स्वरूप से शुद्ध हैं। इसी से भिन्न-भिन्न चेतन जीव जमा (अव्यय-अविनाशी) को ही यहाँ सत्य कहा गया है और इसके अतिरिक्त मालिक चेतन, विवश परतन्त्र चेतन, अंश-चेतन, व्यापक चेतन और अद्वैत चेतन—मानना भ्रम है, असंगत है।

प्रश्न—'पारख दृष्टि बताय रहे' का क्या भाव है?

उत्तर—पारख पद की परिभाषा, पारख पद का स्वरूप

प्रथम प्रकरण दुखशमन चालीसा चौपाई २ और ३७ में स्पष्ट बताया गया है। यह पारख ज्ञान पारख सिद्धान्त ही सद्गुरु श्रीकबीरसाहेब का सिद्धान्त है यथा—

'पारख बिना विनाश है, करि विचार होहु भिन्न ।'
'पारखी से संग करु, गुरुमुख शब्द विचार ॥'
'बलिहारी तेहि पुरुष की, जो परचित परखन हार ।'
'जो जानहु जिव आपना, करहु जीवको सार ॥'
'बस्तू अन्तै खोजे अन्तै, क्यों करि आवै हाथ ।
सज्जन सोई सराहिये, जो पारख राखै साथ ॥'
भूल मिटै गुरु मिलैं पारखी, पारख देयँ लखाई ।
कहहिं कबीर भूल की औषध, पारख सब की भाई ॥

(बीजक साखी--१५६,८२,१३२,१०,२४६, शब्द ११५)

उपर्युक्त सद्गुरु श्रीकबीरसाहेब के पारख सिद्धान्त की दृष्टि (ध्येय) से अगणित चेतन जीवों को सत्य कह कर चेतनवाद या जीववाद का प्रतिपादन किया गया है। यही 'पारख दृष्टि बताय रहे' का भाव है।

प्रश्न—'धारण वैसे करै निरन्तर औरों को हि गहाय रहे ।' का क्या भाव है ?

उत्तर—सर्व कल्पित कल्पना तथा जड़ तत्त्व एवं जड़ नाशवान् अशौच शरीरादि से मेरा शुद्ध चैतन्य स्वरूप सर्वथा भिन्न अजर अमर अविनाशी है—इस भाव को विवेकवान् सन्त निरन्तर (लगातार-सदैव) धारण करते हैं और मुमुक्षु

जीव को भी यही स्थिति दर्शाते हैं। यही इसका भाव है।

४—शिक्षा देने की शैली, भासादि का मिथ्यात्व।

प्रिय वो मधुर शब्द से सबको, हन्ता त्याग कराय रहे।
भास अध्यास अनुमानकल्पना, मिथ्या सब समझाय रहे

विवेकी पारखी सन्त जन मीठे और शीतल उपदेश रूप वचनों द्वारा सब मुमुक्षुवों को जड़ विजाति अहंकारों का त्याग कराते रहते हैं। भास, अध्यास, अनुमान, तथा कल्पना—ये सब असत्य हैं—ऐसा जिज्ञासुवों को ज्ञान करा देते हैं ॥२

प्रश्न—प्रिय और मधुर शब्द से सबकी हन्ता त्याग कराना क्या है ?

उत्तर—'प्राप्त जीव इच्छा नहीं, केवल हन्त छुड़ाव' जीव अपने आप को नित्य प्राप्त ही है, कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं करनी है। केवल अपने स्वरूप को यथार्थ जान कर जो देहादि जड़-पदार्थों की अहन्ता-ममता लगी है, उसी को विचार पूर्वक त्याग करना है। इस न्याय से विवेकी सन्त विजाति अहन्ता-ममता का त्याग कराते हैं। अर्थात्—नाना वाणी जाल एवं स्त्री, पुत्र, घर, धन, पद, परिवार, पशु, पक्षी, खेत, चक्र, रूप, सौंदर्य, जवानी, विद्या, वाणी, मान, प्रभुत्व, कीर्ति आदि—ये सब क्षणभंगुर नाशवान् छूटने वाले हैं। इन जड़-पदार्थों की अहन्ता-ममता से दुःखमय जन्म-मरण चक्र चालू रहता है। और इनकी अहन्ता-ममतावों को त्याग देने

से दुःखों से सर्वथा छूट कर जीव मुक्त हो जाता है, इत्यादि, इस प्रकार सन्त-जन मुमुक्षुवों को शिक्षा देकर उनकी अहन्ता-ममता त्याग कराते हैं। परन्तु मीठे और शीतल वचन ही द्वारा। खरी मान कर करकस वाणियों के बेढङ्गे प्रहार से नहीं। क्योंकि अनादि काल से कल्पना एवं विषयासक्ति में अत्यन्त गड़े हुए जीवों को युक्ति पूर्वक मीठे-शीतल वचन ही द्वारा निकाला जा सकता है। इसके अतिरिक्त सन्तों का स्वभाव ही नम्र, सरल, एवं सुशील होने से उनके वचन भी स्वाभाविक मिष्ठ हितकारी होते हैं। यही प्रिय और मधुर शब्द से (मुमुक्षुवों) की हन्ता त्याग कराना है।

प्रश्न—भास, अध्यास, अनुमान और कल्पना इन चार पदों का क्या भाव है ?

उत्तर—भास का अर्थ केवल 'प्रतीत' होता है, परन्तु यहाँ का भाव-स्त्री, पुत्र, शरीरादि तथा शब्दादि पाँचों विषयों में सुख का प्रतीत होना है—भास। इन्द्रियों से देख, सुन और भोग कर और अन्तःकरण से मनन, चिन्तन तथा अनुभव करके अनादि काल से लेकर वर्तमान काल के इस क्षण तक जितने संस्कार एवं वासनायें अन्तःकरण में टिकी हैं, उन्हीं को कहा जाता है—अध्यास। इस जड़-चैतन्य मय प्रत्यक्ष जगत् को देखकर इसके कर्ता का मन में भावना करना है—अनुमान। सुख-दुःख, हर्ष-शोक, राग-द्वेष मन में मानना है—कल्पना।

भास, अध्यास, अनुमान और कल्पना–इन चार पदों का यहाँ यही भाव है।

प्रश्न—इन सबको मिथ्या बतलाना क्या है ?

उत्तर—स्त्री, पुत्र, शरीरादि तथा शब्दादि पञ्चविषय भोगों का सम्बन्ध और भोग आदि-मध्य-अन्त, सब समय में दुःखमय हैं। केवल विषयासक्ति तथा अविद्या रूपी नशा से ये सुखमय भासते हैं। ऐसे दुःखमय भोग-पदार्थ तथा भोग क्रियावों में सुख प्रतीत रूप 'भास' मिथ्या ही है।

पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु ये चार जड़ तत्त्व तथा पाँचवाँ अगणित चैतन्य इन पाँच सद्वस्तु के अतिरिक्त छठी कोई स्वरूपतः सत्य वस्तु न होने से और स्त्री, पुत्र, देहादि तथा पंच विषयों की आसक्ति संस्कार-वासना मानन्दी मात्र अद्रव्य होने से मानना रूप 'अध्यास' तत्त्वतः मिथ्या ही है।

पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु—इन चार अनादि जड़-तत्त्वों में धर्म, क्रिया, गुण, मेरु, शक्ति तथा आकार—इन छः भेदों के स्वभाव सिद्ध होने से ब्रह्माण्डिक सृष्टि एवं अगणित, अनादि, अविनाशी चेतन जीवों के अनादि से जड़-वासना वशी होने से तत्त्व आधार सहित पिण्डाण्डिक सृष्टि—ये दोनों सृष्टियाँ प्रवाह रूप अनादि हैं। इस प्रकार स्वतः अनादि जड़-चैतन्य मय जगत् के प्रति कर्त्ता की भावना रूप 'अनुमान' मिथ्या (निरर्थक) ही है।

गँजेड़ी-भँगेड़ी को गाँजा-भाँग मिलना सुख है। सदाचारी को उसमें कोई सुख नहीं है, बल्कि वह उसे दुःख रूप मानता है। अज्ञानी को कुटुम्ब वियोग दुःख रूप है। परन्तु ज्ञानी के लिये न उसमें सुख है न दुःख है। मानन्दी के अतिरिक्त सुख-दुःख का कोई स्वतन्त्र सरूप नहीं है। कुछ सुख-दुःख प्रारब्धिक हठात् हैं, परन्तु उसकी जड़ भी मानन्दी ही है। मानन्दी बीज से शरीर बन गया, अब शरीर सम्बन्ध में प्रारब्ध भोग रूप सुख-दुःख हठात् जीव को अनुभव होते हैं। परन्तु स्वरूप दृष्टि से देखा जाय या सुख-दुःखादि के मूल तत्त्व का विचार किया जाय, तो मानन्दी मात्र सुख-दुःख हर्ष-शोक राग-द्वेषादि रूप 'कल्पना' सरूपतः मिथ्या ही है।

इस प्रकार भास, अध्यास, अनुमान और कल्पना—ये चारों-के-चारों मनःकल्पित होने से असत्य हैं। यही इन सबों का मिथ्या बतलाना है।

५—चोरी, व्यभिचार, झूठ, छल, प्रपंचादि का निराकरण।

गहि अस्तेयभाव सब विधि से, यह गुण अति सुखकारी है
चोरी नारी झूठ तजे सब, छल प्रपंच दुखकारी है॥

चोरी न करना रूप 'अस्तेय' भाव को सब प्रकार से ग्रहण करना चाहिये। यह गुण बहुत सुख देने वाला है। छिपके दूसरे की स्त्री से सम्बन्ध करना रूप व्यभिचार और असत्य भाषण, धोखा देना एवं संसारी झंझट—ये सब दुःख-

दायी हैं। अतः इन सभी का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

प्रश्न—'अस्तेय' किसे कहते हैं और उसके भाव को सब विधि से ग्रहण करना क्या है?

उत्तर—'अस्तेय' कहते हैं सर्वथा चोरी न करने को। चोरी के अंग ये हैं—दूसरे के घर से सेंधलगाकर या कूद कर धन छीन लेना, घूसखोरी करना, व्यापार में अपना कच्चा माल देकर दूसरे का सच्चा माल ले लेना, तौल नाप में विशेष ले लेना, कम दे देना, घिसा बाँट या घटिहा तराजू रखना, धाँधली करके दूसरे का माल सस्ता लेना, अपना महँगा देना, दर्जी-सोनार होकर ग्राहकों का कपड़ा या सोना-चाँदी चुराना, अपने घर ही में अन्य कुटुम्बियों से छिप कर अन्न या रुपया अपना अलगिया बनाना, दूसरे के फसल को चुपके से काटना-तोड़ना इत्यादि—ये सब चोरी हैं। उपर्युक्त समस्त चोरियों को सर्वथा त्याग देना ही 'अस्तेय' भाव को सब विधि से ग्रहण करना है।

प्रश्न—'यह गुण अति सुखकारी है' इसका क्या भाव है?

उत्तर—चोरी न करना रूप 'अस्तेय' गुण बहुत सुख देनेवाला है। इसका यह भाव है कि ऊपर वर्णन किये हुए चोरियों में से किसी प्रकार भी मनुष्य चोरी करता है, तो समाज की दृष्टि से वह इसी लोक में गिर जाता है, पकड़ जाने पर सरकार द्वारा जेल-मार को पाता है, आजीविका से हाथ धो बैठता है, कुछ दिन उन्नति दिखते हुए भी उसका

भावी जीवन दुःखमय हो जाता है। दूसरे के घर में कूद कर या घूसखोरी करके एवं व्यापार में धोखा आदि देकर तथा दूसरे के फसल आदि को तोड़ कर—किसी प्रकार भी चोरी करके जो दूसरे का धन लिया गया है, वह एक-एक पैसा या एक-एक दाना कई गुणा विशेष रूप में आगे जन्मों में देना पड़ेगा या घोड़ा-हाथी, बैल-गधा तथा नौकर आदि बन कर बदला पटाना पड़ेगा। यह कर्म-कथा अक्षरसः सर्वथा सत्य है। यह हँसी-मखौल में उड़ा देनेवाली बात नहीं है।

जो निर्दयी दूसरे के दर्द-दया को न समझ कर दूसरे के धन को चुरा लाते हैं। जो पाप परायण व्यापारी उचित से अधिक मुनाफा के लोभवश ठगाई, धाँधली, धोखेबाजी, झुठाई, मिलावट तथा बेइमानी आदि करके दूसरे के जेब से पैसा छीनते हैं। देश-सेवक और कर्मचारी जगत् के जो पापाचारी छोटे-बड़े नाम के देश-सेवक या कर्मचारी घूस लेकर जनता के पेट को काट-काट कर अपने पाप पूर्ण पेट को पाटते हैं। भविष्य जन्म में घोड़ा, गधा, बैल, भैंसा, हाथी, ऊँट तथा नौकर, टहलुवा आदि बनकर बदला पटाने के लिये वे सर्वथा वाध्य हैं। इन लोगों के ऐश्वर्य पदवी और सफेदपोशी मृत्यु पश्चात् पशु आदिक खानियों में तनिक भी सहायता नहीं कर सकेंगी। यह जीव न जाने कितनी बार राजा हुआ और न जाने कितनी बार दरिद्र हुआ तथा न जाने कितनी बार बैल-गधा, भैंस-बकरा, शूकर-श्वान, कृमि-कीटादि शरीर धारण किया।

"कबहुँक ऊँचे कबहुँक नीचे, स्वर्ग भूत लै जाय।
अति भरमित भर्म हिंडोरवा, नेकु नहीं ठहराय ॥बीजक॥"

इस कर्म हिंडोले में पड़ कर जीव कौन-कौन-सी देह नहीं धारण किया ? शास्त्रों में लिखा है—'जो पाप-पुण्य कर्म कर लिया गया है, उसको अवश्य भोगना पड़ेगा। चार अरब बत्तिस करोड़ वर्ष का एक कल्प माने हैं। ऐसे-ऐसे यदि सौ करोड़ कल्प बीत जायँ, तो भी कर्मी जीवों को बिना कर्म-फल भोग लिये छुटकारा नहीं है। कर्मी जीवों के लिये सद्गुरु श्रीकबीरसाहेब भी कहे हैं—"अपनो कर्म न मेटो जाई। कर्म कै लिखा मिटै धौं कैसे, जो युग कोटि सिराई ॥बीजक॥" (बिना भोगे सञ्चितादि कर्मों का ज्ञान से नाश तो वैराग्यवान् का ही होता है।) अतएव कर्मी जीवों को कर्म-भोग भोगना अवश्य पड़ेगा, इस न्याय से चोरी करना दुःखदायी है। तब चोरी न करने से उपरोक्त दुःख सहजिक नहीं होंगे। इसलिये चोरी न करना रूप 'अस्तेय' गुण सुखकारी कहा गया है।

प्रश्न—'चोरी नारी झूठ तजे सब, छल प्रपञ्च दुखकारी है।' इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अस्तेय' पद का प्रयोग करके चोरी' का खण्डन ऊपर की पंक्ति में ही कर दिया गया है। यहाँ 'चोरी' पद 'नारी' पद से प्रयुक्त है। अतः चोरी से छिप करके दूसरे की स्त्री से जो सम्बन्ध करना रूप व्यभिचार है; यही 'चोरी नारी' पद का अभिप्राय है।

जैसा देखा गया, सुना गया या जैसा मन में निश्चय है, अर्थात् जो जैसा है तैसा स्पष्ट रूप से सरलता पूर्वक प्रिय शब्दों में न कहकर छल-कपट पूर्वक विपरीत कहना या बात छिपाना या भाव श्वर पलट करके कहना—'झूठ' है।

दूसरे के धन-माल या इज्जत-आबरू को अपहरण करने के लिये नकली भेष बनाकर या नकली बात कहकर उसको धोखा देना, किसी को किसी प्रकार सहायता देने के लिये पूरा भरोसा देकर निश्चित समय पर मुँह चुराकर छिप जाना या बात पलट देना इत्यादि—'छल' है।

सत्संग, सद्ग्रन्थ अध्ययन, सन्तसेवा, सद्विचार, सद्-साधन रूप पारमार्थिक कार्य तथा अपने और कुटुम्बी एवं आश्रयी जनों के निश्चित शुद्ध शरीर-निर्वाह के लिये श्रेणी-युक्त पुरुषार्थ कार्य के अतिरिक्त अनावश्यक घर-घर घूमना, विना शिर-पैर की बातें करना, 'बदौ तो पंच न बदौ तो पंच' बनकर पञ्चायत में बैठना, सबसे लगाव-बझाव की बातें करते रहना, राग-द्वेष, पर-निन्दा, पर-दोष-दर्शन, पर-चर्चा में रत रहना, बहुत मनुष्यों के या एक ही दो के साथ बैठकर प्रमाद युक्त अनावश्यक बातें करना, निष्प्रयोजन सबसे झगड़ा मोल लेते रहना, इत्यादि जहाँ तक तन, मन, वचन की अनावश्यक क्रिया-चेष्टा है, यही—'प्रपञ्च' है।

इस प्रकार व्यभिचार, झूठ, छल और प्रपञ्च—इन सबों को बड़ा दुःखदायी बतला कर यहाँ इन सबों का सर्वथा त्याग

करने को कहा है; यहाँ का यही अभिप्राय है।

प्रश्न—चोरी, व्यभिचार, झूठ, छल और प्रपञ्च—इन सबों का त्याग कैसे हो ?

उत्तर—चोरी—किसी के घर में कूदना, सेंध लगाना, घूसखोरी करना तथा व्यापार में बेइमानी आदि करना-जहाँ तक ऊपर चोरियाँ बतायी गयी हैं। इन सब का त्याग तभी होगा, जब अपने कमाई में ही अपना निर्वाह करने का निश्चय होगा। आय (आमदनी) के भीतर व्यय (खर्च) रखेगा, अपना सब व्यवहार सादा-साधारण रखेगा। मान-अभिमान दूर रखेगा। सादा-साधारण पहनाव-ओढ़ाव खान-पान और अपना व्यवहार रखने में क्या तुच्छता है? सादा-साधारण और सरल जीवन पसन्द करने वाले श्री गाँधीजी को कोई क्या तुच्छ समझता था? इस अधिक भोग-वासना ने मनुष्य को नरक का पन्थी बना दिया है। घूसखोरी-बेइमानी आदि चोरी करके जो धन आता है, वह आवश्कता से अधिक अपव्यय (फिजूल खर्च) में जाता है। अपना मन दुर्व्यसनी, अधिक विषयासक्त और पापी बनता है। परलोक में बदला पटाना पड़ता है।

लोग मान-अभिमान और विशेष विषय सुखों की लालसा में पड़कर घूसखोरी बेइमानी आदि चोरी रूप पाप कर्म मय कीचड़ में डूब जाते हैं। मान लीजिये! जिस कर्मचारी का सौ रुपये माहवार वेतन है, वह यदि सौ रुपये की घड़ी पह-

नता है, पाँच सौ रुपये की साइकिल रखता है, डेढ़-दो सौ रुपये के कपड़े पहनता है, बहुत मान-मर्यादा पूर्वक या ठाट-बाट से रहना चाहता है—उसको घूसखोरी, बेईमानी आदि चोरी करके, दूसरे को दबा-सता कर अवश्य धन वंचना करना पड़ेगा। सौ रुपये माहवार के वेतन में कोई उपाय ही नहीं है कि बहुत ठाट-बाट से रहा जा सके। अभिमान वश लोग साधारण कुटुम्ब भोज में, विवाह-गौन में, शहरों में मित्रों की पारटी करने में, बिजली में, बारात स्वागत में घर बेंच डालते हैं। लोग गहना और खेत गिरौं रखकर, कर्ज लेकर विवाह में नाच-तमाशा मँगाते हैं। तब क्या होता है ? "भये तबाह विवाह के पीछे सेखी शान भुलान। भला करजे की कुर्की निकल रही दिन काटैं चोखा लीटी में ॥"

यह है अधिक व्यय का दुष्परिणाम ! दीन-दुखियों की सहायता एवं धर्म परोपकार, सन्त-सेवादि करने के अवसर पर चाहे कौड़ी खर्च करना पहाड़ हो जाय। परन्तु व्यर्थ कार्यों में धन को खर्च करने में मान-मर्यादा वश मनुष्य हिचक नहीं करता। यह मान-मर्यादा और अधिक भोग-वासना ने घूस-खोरी, बेइमानी आदि चोरी करा कर मनुष्य को पापी बना दिया है। अतः इस अधिक मान-भोग का त्याग करना परम् आवश्यक है। सादा-सहजादा और निर्मानी रहने में छोटाई के प्रत्युत अधिक बड़ाई है। अपने आय के भीतर ही व्यय रखने वाला मनुष्य सुखी और निष्पाप रह सकता है। आय

से अधिक व्यय करने वाले को दुखी और पापी अवश्य होना पड़ेगा। खाने वाले तो बहुत हैं, परन्तु परलोक में दाना-दाना और पैसा-पैसा अनेकों गुणा अधिक रूप में तो, जो पाप करता है, उसी को ही पटाना पड़ता है। अतः घूसखोरी, बेइमानी आदि चोरी त्याग कर अपने सत्य की कमाई में सरल जीवन बिताना चाहिये। जिससे लोक-परलोक में सुख हो, ऐसा भाव रखने से चोरी का त्याग होगा।

व्यभिचार—अपनी इज्जत के समान दूसरे की भी इज्जत होती है। हमारे घर की माता, बहन; बेटी या किसी भी महिला पर कोई मनुष्य कुदृष्टि करे, तो उसको जान करके हमें कैसा दुःख लगता है? कितनी लज्जा लगती है? प्रायः उन्हें मार डालने या स्वयम् मर जाने तक की भावना उत्पन्न हो जाती है। फिर जिसकी माता, बहन, बेटी या किसी भी महिला पर हम कुदृष्टि करते हैं; उसके घर वालों को यह बात सुनकर या देखकर हमारे समान, दुःख, लज्जा तथा हृदय-ग्लानि नहीं होगी? अवश्य होगी। क्या हमारे समान उसकी इज्जत नहीं है? है तो अवश्य! फिर यह पाप पूर्ण कर्तव्य करके दूसरे की और अपनी इज्जत बिगाड़ कर अपने नर्क का द्वार हम क्यों खोलते हैं? व्यभिचार करके मनुष्य जैसे दूसरे की इज्जत बिगाड़ता है, तैसे अपनी भी तो बिगाड़ता है। 'हम दूसरे की इज्जत ले रहे हैं, इसमें हमारा क्या जा रहा है'—यह मानना तो मात्र ऐसे है कि जैसे एक पतित

(बेशर्म) के कपार पर पेड़ जम आया, तो वह कहने लगा कि हमारे लिये छाया ही हो गयी । जो पुरुष परायी स्त्री से अथवा जो स्त्री पराये पुरुष से रति रूप व्यभिचार करते हैं, उनका लोक तो बिगड़ता ही है, यहाँ सब की दृष्टि से तो गिर ही जाते हैं । परन्तु आगे भी उन्हें महान् तामसी शूकर, कूकर-कृमि-किटादि नीच योनियों में देह धर-धर कर महान नर्क भोग-भोगना पड़ता है, व्यभिचारी अनन्तों जन्मों तक मल-मूत्र के कीड़े होते रहते हैं । इसलिये लोक-निन्दित और लोक-परलोक को दुःखमय बनाने वाले ऐसे व्यभिचार कर्म का स्त्री-पुरुष को सर्वथा त्याग करना चाहिये । अपनी स्त्री के अतिरिक्त संसार में जितनी स्त्रियाँ हैं, सब माता, बहन और पुत्री के समान हैं । ऐसा जानकर पुरुषों को तथा अपने पति के अतिरिक्त संसार में जितने पुरुष हैं, सब पिता, पुत्र और भाई के समान हैं । ऐसा जान कर स्त्रियों को पाप रूप व्यभिचार कर्म का सर्वथा त्याग करना चाहिये और संसार के समस्त स्त्री-पुरुष के शरीरों को तत्त्वात्मक असार समझ कर सन्त-महात्मा सर्वदा उपरत रहते ही हैं ।

झूठ—वास्तव में असत्य शरीर, घर, कुटुम्ब, धन, पदवी आदि जड़वर्गों को सत्य मान कर उन्हीं की उत्पत्ति, वृद्धि तथा रक्षा के लिये मनुष्य झूठ बोलने का ठेका उठा लेता है । झूठ बोलते-बोलते मनुष्य के हृदय में एक निर्भरता-सी आ जाती है, जिससे वह झूठ बोलने से हिचक नहीं करता । झूठ

बोलने वाला पाप से महान पाप कर्म करने से भय नहीं मानता। झूठ बोलने वाले के मन, वाणी और कर्म सब पापमय हो जाते हैं। स्वार्थ या भयवश होकर मनुष्य पञ्चायत में या न्यायालय में झूठी बात को पुष्ट करने के लिये गंगाजल तथा गीता, कुरान तक उठा कर शपथ ग्रहण कर लेते हैं। किसी को अपने मन के विरुद्ध देखकर या स्वार्थ वश तथा निष्प्र-योजन ही ईर्ष्यालु पापाचारी लोग बिल्कुल झूठ षड़यन्त्र (जाल) रचकर बहुत कठिन बन्धन में फँसा देते हैं। कर्म-चारी, व्यापारी तथा वकील जगत् के अनेक लोग रात-दिन झूठ की ही रस्सी बटते रहते हैं। इन लोगों का भावी जीवन (परलोक) कितना दुःखमय हो जायगा ? जिसका वर्णन करना अशक्य है। सत्य पालन करने के लिये मन में दृढ़ निश्चय न होने से थोड़े-थोड़े द्रव्य या थोड़ी-थोड़ी बात के लिये भी लोग झूठ बोल देते हैं। यहाँ तक हँसी-मजाक और गप-सड़ाका में भी लोग झूठ बोलते रहते हैं। लोग समझते हैं कि विवाह-गौन में, न्यायालय में, व्यापार में झूठ बोलने के लिये मनुष्य को छूट मिली है। यह बड़ी भूल है। यथा-सम्भव झूठ बोलना कहीं भी उचित नहीं है। लोग समझते हैं 'गृहस्थी में झूठ बोलने का त्याग किया ही नहीं जा सकता।' यह बड़ी भूल है। स्वार्थासक्ति वश गृहस्थी में झूठ के त्याग करने में कठिनाई तो अवश्य है। परन्तु झूठ बोलने में हानि और सत्य बोलने में लाभ भलीभाँति जँच जाने पर

झूठ का त्याग करना बहुत सरल है। यह लोगों को व्यर्थ ही भ्रम है कि सत्य बोलने से व्यवहार में हानि होगी और झूठ बोलने से लाभ होगा। झूठ बोलने वाला मनुष्य सबका अविश्वासी हो जाता है। सब की दृष्टि से गिर जाता है। सत्य बोलने वाले पर सबका विश्वास रहता है। सत्य से अर्थ धर्म सब का लाभ होता है। सज्जन-विचारवान् को निश्चय रहता है कि सत्य बोलने से चाहे व्यवहार में कुछ हानि ही हो जाय, तो भी कोई चिन्ता नहीं। क्योंकि व्यवहार-माया नाशवान् है और सत्य पालन रूप धर्म जीव को लोक-परलोक (हर स्थान पर) सुखदायी है। झूठ बोल कर यदि व्यवहार की थोड़ी-बहुत उन्नति ही हो गयी, तो क्या मृत्यु पश्चात् व्यवहार की माया परलोक में जायगी ? कदापि नहीं। परन्तु झूठ बोलना रूप पाप कर्म के बुरे फल तो आज और आगे अनेक जन्मों तक भोगने पड़ेंगे।

किसी के कुछ पूछने पर बिना सोचे-विचारे शीघ्रता पूर्वक उत्तर दे देने से भी मुख से झूठ बातें निकल जातीं हैं। इसलिये शीघ्रता का त्याग कर और भलीभाँति सोच-विचार करके उचित विलम्ब पश्चात् ही सत्य-प्रिय वाणी में किसी प्रश्न का उत्तर देना चाहिये। निश्चित आवश्यकता से अधिक बात बोलने पर भी झूठी बातें मुख से बहुत निकल जाती हैं। प्रमाद में, हँसी में तथा प्रेम-प्रलाप में भी झूठी बातें निकल जाती हैं। अपने दोष छिपाने के लिये भी मनुष्य झूठ बोल

देता है। सत्य पालन की पूर्ण निश्चयता न होने पर भी बहुत बातें झूठी मुख से निकल जाती हैं। अतः अपने स्वभाव पर कड़ाई रखना चाहिये। जहाँ तक बन सके कम बोलना चाहिये। प्रमाद, हँसी और प्रेम-प्रलाप की यथासम्भव कमी करनी चाहिये और हँसी, प्रेम-प्रलाप में झूठ न निकले, इसका भलीभाँति ध्यान रखना चाहिये। चाहे मर्यादा में छोटे हों या बड़े, जो मनुष्य योग्य हों, उनके सामने अपने दोष नहीं छिपाने चाहिये। फिर अपने दोष छिपाने के लिये झूठ बोलना तो बहुत दूर है। "सर्वथा झूठ नहीं बोलूँगा, व्यवहार परमार्थ प्रत्येक स्थान पर सदैव सत्य वचन बोलूँगा"—यह भलीभाँति निश्चय रखना चाहिये।

प्रश्न—यदि भूल में झूठी बातें निकल जायँ, तो उससे उद्धार का क्या उपाय है ?

उत्तर—यदि सर्वथा भूल (अन्जान) ही में झूठी बातें निकलीं हैं, तो उसका तो पाप ही नहीं पड़ेगा। परन्तु झूठ का त्याग और सत्य पालन करने के निश्चय वाले मनुष्य से यदि कभी कुछ असावधानी, शीघ्रता, हँसी एवं प्रेम-प्रलाप में एक-आध झूठी बातें मुख से निकल जायँ। परन्तु बोलने के पश्चात् झूठ की पूरी परीक्षा होते ही, यदि उस (झूठ) की अहन्ता-क्रिया को सर्वथा त्याग देवे और पुनः झूठ का त्याग तथा सत्य-पालन का दृढ़ निश्चय प्रबल कर लेवे, तो उस विशेष प्रमाद से निकला हुआ झूठ कृत पाप कर्म का शीघ्र नाश

हो जायगा। जो निश्चय और प्रयत्न पूर्वक अपने सुधार में लगा है, उसके झूठादि पाप त्याग होने में विलम्ब नहीं है। असाध्य रोग तो उनका है, जो झूठ बोलने का ठेका उठाये रहते हैं या झूठ बोलने में भय नहीं करते। जिन्हें सुधार का दृढ़ लक्ष्य नहीं है। अतएव निश्चय-प्रयत्न पूर्वक झूठ का सर्वथा त्याग और सत्य का नितान्त ग्रहण हो सकता है।

छल—विश्वासघात करना, कहकर बात बदल देना, धोखा देकर किसी को जाल में फँसा देना, बनावटी भेष धारणकर किसी का धन-माल हरण करना—यह महान पातक है। जो छल घात रूप पाप करते हैं, वे पापी जीव यह नहीं समझते कि इसका बदला देना पड़ेगा। अनेक नीच योनि रूप नर्कों में उन्हें दुःख उठाना पड़ेगा। दरिद्र, कोढ़ी, अन्धा, लूला, लङ्गड़ा तथा अपाहिज होकर सड़ना पड़ेगा। अतः इस दुःखमय विश्वासघात रूप छल का परिणाम अत्यन्त दुःख समझ कर इसका त्याग किया जा सकता है।

प्रपंच—ऊपर जो प्रपंच का सरूप निर्णय किया गया है, अर्थात् अनावश्यक घर-घर घूमना, व्यर्थ चर्चा, परचर्चा इत्यादि, तन, मन तथा वचन की व्यर्थ चेष्टा रूप जो प्रपंच है। इनमें अपना अमूल्य समय नष्ट होता है। स्वभाव चंचल हो जाता है। बाहरी झगड़ा-लड़ाई और अनेक उपद्रव आ जाते हैं। परमार्थ-साधन की हानि होती है। अतः बन्धनकारी और दुःखप्रद जानकर इनका त्याग हो सकता है।

इस प्रकार चोरी, व्यभिचार, झूठ, छल तथा प्रपंच को लोक-परलोक में दुःखदायी जानकर अथवा मोक्ष साधन का प्रतिबन्धक समझ कर सर्वथा त्याग करे ।

६—ब्रह्मचर्य ।

ब्रम्हचर्य है परम् हितैषी, मैथुन अष्ट निकारी है ।
नारि पुरुष सम्बन्ध दोष से, पर्श विषय जो जारी है ॥ ३

स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध दोष से स्पर्श विषय, भोग-क्रिया का जो आरम्भ होता है, उस भोग क्रिया और विषयासक्ति का सर्वथा त्याग रूप जो ब्रह्मचर्य है, वह बड़ा कल्याणकारी है । अतः कल्यार्थी को अपने तन, मन तथा वचन से आठों मैथुनों को बिल्कुल त्याग देना चाहिये ॥ ३ ॥

प्रश्न—ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं और वह परम् हितैषी क्यों है ?

उत्तर—मन, वच और कर्म से विषय भोग क्रिया और विषयासक्ति का सर्वथा त्याग होना—'ब्रह्मचर्य' है । यह परम् हितैषी इसलिये है कि (१) विषय भोग-क्रिया और विषयासक्ति का सर्वथा त्याग हो जाने पर तन, मन और वचन की चंचलता मिट जाती है । तन, मन एवं वचन शुद्ध, शान्त तथा स्थिर हो जाते हैं । (२) स्त्री को पुरुष-सम्बन्ध का भार, प्रसव का भार, सन्तान होने, न होने, होकर मर जाने आदि का कष्ट तथा पुरुष को स्त्री सम्बन्ध का भार नहीं

पड़ता। (३) उभय सम्बन्ध का भार न पड़ने से सुत-पुत्री-वधू-पौत्र, नाना कुटुम्बी, नाना नात-गोत का सम्बन्ध रूप प्रपंच तथा उनकी उत्पत्ति, रक्षा, वृद्धि की विवशता सहजिक नहीं आती। (४) भोग-तृष्णा तथा भोग सम्भव शारीरिक मानसिक रोग सहजिक नहीं आते। (५) रजोस्वभाव छूट जाने पर विलासिता के साधन रूप अधिक धन की उत्पत्ति, रक्षा, वृद्धि की तृष्णा, परिश्रम तथा परवशता नहीं लेनी पड़ती और न धन कमाने के लिये पाप ही करना पड़ता है। (६) निर्विषय, निवृत्त तथा निष्प्रपंच ब्रह्मचर्य जीवन में व्यवहार प्रपंच की कमी होने से अधिक जगत् के सकामी जीवों की विवशता तथा सम्बन्ध-भार नहीं लेना पड़ता है। (७) व्यवहार प्रपंच की कमी होने से सत्संग करने, सद्ग्रन्थ पढ़ने तथा साधन करने के लिये अधिक-से-अधिक समय प्राप्त होता है। व्यर्थ प्रपंच का परिश्रम छूट कर शान्ति-स्वच्छन्दता की प्राप्ति होती है। (८) अखण्ड ब्रह्मचर्य से काम पर पूर्ण विजय हो जाती है और काम के नाश होने पर क्रोध, लोभ, मोह तथा भय आदि दुर्गुण निर्बल होकर धीरे-धीरे स्वतः नष्ट हो जाते हैं। (९) शरीर और मन में तेज, स्फूर्ति तथा शक्ति का प्रकाश होता है, धारणा शक्ति बढ़ती है। (१०) यदि सच्चे पारखी सद्गुरु से स्वरूपज्ञान प्राप्त कर बोध, वैराग्य, भक्ति तथा सदाचरण पूर्वक स्वरूपस्थिति कर ली गयी, तो इसी जन्म में अपना मुख्य कर्तव्य पूरा हो जाता है। प्रारब्धान्त में जीव

विदेह मुक्त होकर जन्म-मरण रोग से सदा के लिये छूट जाता है। यदि पूर्ण बोध स्थिति न हुई, तो प्रारब्धान्त पश्चात् दूसरा नर-जन्म धारण कर शीघ्र ही कल्याण-कार्य का सम्पादन जीव कर लेता है। इसलिये पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण करना बड़ा सुखदायी है।

प्रश्न—आठों मैथुनों का क्या-क्या नाम और कौन-कौन लक्षण हैं तथा उनको निकालना क्या है ?

उत्तर—स्मरण, कीर्तन, प्रेक्षण, श्रवण, केलि, गुह्यभाषण, शृङ्गार तथा स्पर्श—ये आठों काम के नाम हैं। इनका थोड़ा-थोड़ा लक्षण इस प्रकार है—

(१) स्मरण—किसी देखी-सुनी हुई स्त्री का या स्त्री के देखे हुए चित्र का चिन्तन करना, स्त्री के नाम तथा वस्त्र-अलङ्कार (शृंगार) तथा उसके अंग का चिन्तन करना, अपने द्वारा पूर्व में घटी हुई विषय-क्रिया का चिन्तन करना, अत्यन्त रजोस्वभाव-प्रिय बालक-नवयुकों का चिन्तन करना, शहर-बाजार तथा धनवानों के यहाँ के देखे-सुने हुए विविध रजोगुणी पदार्थों तथा भोगों, ऐश्वर्यों का चिन्तन करना, अपने शरीर के यौवनपूर्ण कल्पित सौंदर्य-माधुर्य तथा रूपत्व का चिन्तन करना, इत्यादि जहाँ तक जिस-जिस चिन्तन से मन में विषय-विकार उत्पन्न हों—ये सब 'स्मरण-काम' के लक्षण हैं। ब्रह्मचारियों को इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

(२) कीर्तन—किसी देखी-सुनी हुई या पूर्व में सम्बन्ध की हुई स्त्री का वर्णन करना, उसके रूप, रंग, श्रृङ्गार तथा विषय-क्रिया का वर्णन करना, विषय प्रसंग वार्ता से दूषित संगीत, साहित्य (पुस्तक) का पढ़ना, पुराणों में या किसी ग्रन्थ में आयी हुई श्रृंगार रस की कथाओं का पढ़ना, विषय भोग और स्त्री प्रसंग को सद्धर्म बतलाना, मित्रों से विषयासक्ति जनित वार्ता करना, कुत्सित भावना से स्त्रियों का बखान करना, इत्यादि, जहाँ तक जिन-जिन वार्ताओं के करने तथा गीत गाने से मन में विषय-विकार उत्पन्न हों—ये सब 'कीर्तन-काम' के लक्षण हैं। ब्रह्मचारियों को इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

(३) प्रेक्षण-(अनावश्यक) स्त्रियों को देखना, कुत्सित (बुरी) भावना से देखना, उसके वस्त्राभूषण-श्रृङ्गार देखना, स्त्रियों की फोटो, मूर्ति देखना, रजोस्वभाव-प्रिय बालक-नवयुवकों के टेढ़े-मेढ़े बाल तथा नक्काशदार ठाट-बाट और मिथ्या चर्म के रूप-सौंदर्य को आकर्षित चित्त से देखना, अनावश्यक शहर-बाजार में घूम-घूमकर विविध काम उत्तेजक दृश्यों को तथा स्त्री-पुरुषों को देखना, विविध भोग वस्तु तथा ऐश्वर्यों को ललचायी हुई दृष्टि से देखना, नाटक-नाच सिनेमा आदि को देखना, विषय-वासना उत्पादक साहित्य, प्रपञ्च-पत्रिकादि देखना (पढ़ना), दर्पण में अनावश्यक अपने मुख या श्रृङ्गार को देखना, सुन्दर सुखदायी मानकर अपने शरीर अंगों को

बार-बार देखना, इत्यादि, जहाँ तक जिन-जिन छोटे-बड़े दृश्यों के देखने से मन में राग या विषय-विकार उत्पन्न हों—ये सब 'प्रेक्षण-काम' के लक्षण हैं। ब्रह्मचारियों को इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

(४) श्रवण—स्त्रियों के विषय भरे गीत सुनना, मन में अच्छी लगने वाली मीठी शृङ्गार रस की स्त्रियों की वार्ता सुनना, मित्रों या किसी पुरुषों द्वारा विषय-विलास कृत वर्णन सुनना, विषय भोगों की प्रशंसा सुनना, कामोद्दीपक शृंगार-कथा सुनना, ग्रामोफोन, रेडियो तथा सिनेमा आदि की रसिक वार्ता तथा विषय भाव भरे फिल्म के गाने सुनना, इत्यादि, जहाँ तक जिन-जिन शब्दों के सुनने से मन में विषय-विकार उत्पन्न हों—ये सब 'श्रवण-काम' के लक्षण हैं। ब्रह्मचारियों को इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

(५) केलि—स्त्रियों के साथ ताश, चौपड़ आदि खेलना, हँसी-मजाक करना, रामलीला या नाच-नाटक में पाठ लेकर पाठ खेलना (नाचना), अपना स्त्री का रूप बनाकर नाचना, कल्ब में क्रीड़ा करना, बालकों-कुमारों-नवयुवकों के साथ कुत्सित भावना से क्रीड़ा करना, इत्यादि, जहाँ तक जिन-जिन क्रीड़ाओं से मन में विषय-विकार उत्पन्न हों—ये सब 'केलि-काम' के लक्षण हैं। ब्रह्मचारियों को इन सबका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

(६) गुह्यभाषण—सबसे छिपकर स्त्रियों से मिलना और

विषय-वार्ता करना, किसी स्त्री की प्राप्ति के लिये, किसी कुटनी से या मित्र से छिप कर बात करना, इत्यादि, जहाँ तक जिन-जिन गुप्त वार्ताओं के करने से विषयासक्ति की प्रदीप्ति हो—ये सब 'गुह्यभाषण-काम' के लक्षण हैं। ब्रह्मचारियों को इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

(७) शृङ्गार—रेशम, मलमल, तंजेब आदि के महीन और कोमल कपड़ों को पहनना, विविध रंग-बिरंगे-नकाशदार कपड़ों को पहनना, गोटे-पट्टे और चुनावदार-छीटदार, छापदार तथा कालरदार रजोगुणी कमीज-कोट, बुशशर्ट आदि पोशाकों को पहनना, टाई बाँधना, सोने-चाँदी आदि के जंजीर-हार, कुण्डल-करधन अंगूठी (मुनरी) इत्यादि आभूषणों को पहनना, अनावश्यक केवल शौक के लिये चश्मा लगाना, दाँतों में मिस्सी जड़वाना, सोना जड़वाना, कलाई घड़ी पहनना[1], चमड़े और कुर्म आदि के जूते पहनना, मूँछ और बालों को टेढ़े-मेढ़े कटवाना, बाल बड़े-बड़े रखना, कंघी करना, फूलों का हार पहनना, पायजामा-पतलून, फूलपैंट या एड़िया बहार धोती पहनना अनावश्यक सुर्मा लगाना, इत्र लगाना, केवल चर्म सौंदर्य की वृद्धि-अर्थ तेल-उबटन का लेपन करना, इत्यादि जहाँ तक जिन-जिन पहनाव ओढ़ाव से मन

१—यह स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ ब्रह्मचारियों के लिये इन सब शृंगारादि का निश्चत रूप से निषेध किया गया है। सविषय गृहस्थों के लिये नहीं। सद्गृहस्थ लोग जितना बन सके उतना त्यागें।

में विषय-विकार उत्पन्न हों, अथवा मुख्य शरीर रक्षा के अतिरिक्त जहाँ तक केवल सुख मान कर शरीर को सजाया जाय— ये सब 'शृङ्गार-काम' के लक्षण हैं । ब्रह्मचारियों को इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

(८) स्पर्श—स्त्रियों का स्पर्श करना, स्त्रियों के केश वस्त्र-शृंगार आदि का स्पर्श करना, बालक-कुमार-नवयुवकों का कुत्सित भावना से स्पर्श करना, स्पर्श विषय सुख अनुभूति के लिये स्व-शिश्न इन्द्रिय का स्पर्श (हस्तक्रिया) करना, स्त्रियों से अपने हाथ-पैर आदि दबवाना, बालक-कुमार-नव युवकों द्वारा अनावश्यक अपने शरीर-इन्द्रियों का स्पर्श करवाना अथवा स्वयं उनका अनावश्यक स्पर्श करना इत्यादि जहाँ तक जिन-जिन स्पर्शों से मन में विषय-विकार उत्पन्न हों, अथवा अनावश्यक केवल सुख मान कर जहाँ तक स्पर्श किया जाय—ये सब 'स्पर्श-काम' के लक्षण हैं । ब्रह्मचारियों को इन सब का सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

उपर्युक्त लक्षण सहित इन आठों कामों को मन, वचन और कर्म से सर्वथा त्याग देना ही उसे निकालना है ।

यहाँ काम के आठ लक्षण और उनका त्याग पुरुषों के लिये कहा गया है, कल्याणार्थी स्त्रियाँ ये सब बातें अपने में घटा कर पुरुषासक्ति से सर्वथा रहित रहें ।

प्रश्न—नारी-पुरुष के सम्बन्ध दोष से स्पर्श क्रिया का जारी होना क्या है ?

उत्तर—सम्बन्ध कहते हैं आसक्ति को और सम्बन्ध कहते हैं संयोग को। इसका अभिप्राय ऐसा है कि स्त्री-पुरुष के परस्पर आसक्ति दोष से ही स्पर्श भोग होता है। आसक्ति का त्याग किया जाय; तो भोग का त्याग हो जायगा। अथवा स्त्री-पुरुष का यदि त्याग ही का लक्ष्य हो, तो भी दोनों विशेष सम्बन्ध-संयोग या अभेद बर्ताव करने लगेंगे, तो फिर मोह में फँस जायँगे। 'संगदोष से मोह हो, मोह से उपजै काम।' इत्यादि, बहुत से ब्रह्मचारी और त्यागी को देखा-सुना जाता है कि वे स्त्री के संग-दोष से फिर माया में पतन हो गये हैं। अतः यदि गृहस्थाश्रम में रहकर स्त्री-पुरुष दोनों भोग का सर्वथा त्यागी होवें, तो वे दोनों एक स्थान पर आसन न लगावें[1], परस्पर में हँसी और प्रेम युक्त वार्ता न करें, एक-से-एक हाथ-पैर न दबवावें, हास्य-शृंगार दोनों त्याग देवें, दोनों उदासीन रहें, साधन-रत रहें, पृथक्-पृथक् रहें। त्यागी सन्तों को तो स्त्री मात्र का दूर से ही त्याग करना सर्वोत्तम है। स्त्री-समाज को शिक्षा-उपदेश देने का भी अवसर पड़े तो पुरुष-समाज के साथ नम्र (नीचे) दृष्टि करके स्त्रियों को उचित शिक्षा देनी चाहिये। फिर दो या एक स्त्री को अन्य पुरुष रहित अकेले शिक्षा देना सर्वांश में उचित कैसे होगा? ब्रह्मचारिणी स्त्रियों का भी कर्तव्य है कि वे पुरुषों

१-यद्यपि नारि-पुरुष दोउ त्यागी। तदपि बर्जिये जिमि तृण आगी॥
॥ विश्राम सागर॥

के संगदोष से यथोचित बचें। स्त्रियों का कर्तव्य है कि शिक्षा-कथा में शिक्षक के बिल्कुल सामने न बैठें। बल्कि कोई आड़ में, आस-पास में संकोच सहित सब अंग वस्त्रों से ढक कर बैठें और शिक्षा सुनें। कुछ प्रश्न करना हो, उसे चंचलता त्याग कर नम्रता से करें। इस प्रकार ब्रह्मचारिणी स्त्री, पुरुष के संगदोष से तथा ब्रह्मचारी पुरुष, स्त्री मात्र के संगदोष से अपने को सर्वथा बचा कर ब्रह्मचर्य पुष्ट करें।

किसी भाँति से वीर्य पतन हो, सो सब आदत टारी है।
त्याग भाव से रहै निरन्तर, जन्म सफल सुखकारी है॥

किसी प्रकार भी जिससे वीर्य का नाश होता है, ऐसी आदतों को त्याग देना चाहिये। त्याग भाव से सदैव रहना चाहिये, तभी अपना नर-जन्म सफल और सुखदायी होता है।

प्रश्न—किस-किस भाँति से और किन-किन आदतों से वीर्य-पतन होता है ?

उत्तर—स्मरण, कीर्तन, प्रेक्षण, श्रवण, केलि, गुह्यभाषण शृंगार तथा स्पर्श—ये जो आठ प्रकार के पूर्वोक्त काम बताये गये हैं, इनका सर्वांश या किसी अंश का अपने तन, मन तथा वचन में निवास होने से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष (किसी) रूप से वीर्य का नाश होता है। अतएव उपर्युक्त आठों काम का तन, मन और वचन से सर्वथा त्याग करना चाहिये।

प्रश्न—त्याग भाव से निरन्तर रहना क्या है ? और तभी

जन्म सफल तथा सुखकारी होता है—इसका अभिप्राय क्या है ?

उत्तर—मनःकल्पित पाँचों विषयों के भोग सहित काम भोग का सर्वथा-सर्वदा-सर्वत्र तन, मन और वचन से दृढ़ त्याग करके उस निर्विषय भावना से ही सदैव रहना—त्याग भाव से निरन्तर रहना है। (पूर्ण स्वरूपज्ञान पूर्वक) जब जीवन सर्वथा निर्विषय हो गया, तब नर-जन्म प्राप्त करके जो करना चाहिये था, वह कर लिया गया। यहाँ का अभिप्राय ऐसा है कि विषय-वासना सर्वथा त्याग कर[१] स्वस्वरूप में स्थित हो जाना, यही नर-जन्म प्राप्ति की सफलता है। स्वरूपज्ञान पूर्वक विषय-वासना की जब सर्वथा निवृत्ति हो जाती है, तब तृष्णा का नाश हो जाता है। मुख्य निर्वाह भर के लिये उपयोगी वस्तु उपलब्ध होने पर भी भीतर से और अधिक वस्तु प्राप्ति की जो भावना बनी रहती है—यही तृष्णा है। जैसे थाली में दस लड्डू रखे हैं, हाथ में लेकर मुख से खा रहे हैं, पेट तो दस ही में भर जाने वाला है, परन्तु मन चाहता है—और मिलता, और खा पाते तो अच्छा था—यही तृष्णा है। ऐसे ही किसी वस्तु में और-और इच्छा होनी—तृष्णा है। जब तक यह तृष्णा रहती है तब तक दुःख नहीं मिटता। अभाव का अनुभव होने

१—यहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदायी ॥
नर तन पाय विषय मन देहीं। पलटि सुधाते विष शठ लेहीं ॥
(रामायण)

से तब तक दुःख बना रहता है। मुख्य निर्वाह में भी उपयोगी वस्तुओं की कमी होने पर विकलता पूर्वक कोई अभाव का बोध जब नहीं होता और प्राप्त वस्तुओं में आसक्ति-तृष्णा तथा अहन्ता-ममता से रहित और अप्राप्ति की विवश कामना से जब चित्त पृथक् हो जाता है, तब इसी धारणा को 'सन्तोष' कहा जाता है। यह सन्तोष ही परम् सुखरूप है। स्वरूपज्ञान पूर्वक विषय-वासना की जब सर्वथा निवृत्ति हो जाती है, तब तृष्णाका नाश हो जाता है और सन्तोष की प्राप्ति हो जाती है—यही नर-जन्म सुखकारी होना है।

प्रश्न—ब्रह्मचारी के कुछ आचरण और बतलाइए ?

उत्तर—स्त्री आदि का संग, स्पर्श, शृंगारादि आठ काम का त्याग तो प्रथम ही बताया जा चुका है। आगे और भी सुनिये—ब्रह्मचारी को एक आसन पर दो मूर्ती को नहीं सोना चाहिये। अर्थात् एक आसन पर अकेले ही सोना चाहिये। यथासम्भव आसन सब से पृथक् लगाना चाहिये। कपड़े मोटे, सादे और साधारण पहनना चाहिये। जूते नहीं पहनना चाहिये। (बिना जूते के यदि बिल्कुल ही न चल सके, फुर-फुर कोई पाँव में रोग हो तो कपड़े का पहन ले, परन्तु सहनशक्ति हो जाने पर तुरन्त त्याग दे।) हाँ! कटैली-पर्वतीय आदि भूमि-निवासी होने से परिस्थिति वश पहनना एक दूसरी बात है। सदा काष्ठ का खड़ाऊँ पहनना चाहिये। नित्य स्नान करना चाहिये। लघुशंका करके शिश्न-इन्द्रिय को शी-

तल जल से धोना चाहिये। डोलडाल करके काफी जल और मिट्टी से शौच करना चाहिये। लँगोटा या लँगोटी पहनना चाहिये। दिन में एक बार स्नान कर लेने पर यदि पुनः डोलडाल जाना पड़े तो यथासम्भव पुनःस्नान करना चाहिये, यदि स्नान न कर सके तो लँगोटी अवश्य बदलना चाहिये। अधिक मिठाई, खटाई, तिताई तथा अधिक मसाले, अधिक नमकीन आदि नहीं खाना चाहिये। ठूँस-ठूँस कर अधिक भोजन नहीं खाना चहिये। सादा और दो-चार ग्रास कम खाना चाहिये। रसासक्ति से या अधिक खाने से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वीर्य का नाश होता है और कामुकता बढ़ती है। अतः इसका त्याग करना चाहिये।

७—चुगुली निन्दादि दुर्गुणों का निराकरण।

चुगुली निन्दा करै न कोई, अपशुन्यता प्यारी है।
बुरे कर्म से लज्जा करके, त्यागै दुर्गुण सारी है ॥४

चुगुली-निन्दा किसी की भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'अपैशुन्यता' प्रिय गुण है। और बुरे कर्मों से लज्जा करके समस्त दुर्गुणों को त्याग देना चाहिये ॥ ४ ॥

प्रश्न—चुगुली-निन्दा और अपैशुन्यता किसे कहते हैं ?

उत्तर—पैशुन्यता (पिशुनता) कहते हैं किसी की चुगुली-निन्दा करने को और इसके विपरीत अपैशुन्यता कहते हैं किसी की चुगुली-निन्दा न करने को। दूसरे मनुष्य के दोष-

कृतवार्ता को सुनकर तीसरे से कह देना—चुगुली है। और उसमें दोष हों या न हों जो अपने मन के प्रतिकूल है, उसमें दोषारोपण करके अन्य से कहना या दोष होने पर भी बिना योग्यता के ईर्ष्या तथा असुधार दृष्टि से उसके दोष अन्य से कहना—निन्दा है। इस प्रकार चुगुली और निन्दा में थोड़ा-थोड़ा अन्तर होते हुए भी दोनों को 'पैशुन्यता' दोष के अन्तर्गत माना गया है।

प्रश्न—चुगुली-निन्दा क्यों नहीं करनी चाहिये और 'अपैशुन्यता' प्यारी क्यों है ?

उत्तर—प्रथम तो अपने मन में दूसरे के प्रति दोष-दर्शन, द्वेष तथा पर अपकार भावना होने से ही दूसरे की चुगुली-निन्दा की जाती है। पुनः दूसरे की चुगुली-निन्दा करने से अपना स्वभाव बिगड़ता है, अपने में दोष आते हैं। समाज का बिगाड़ होता है। जिसकी चुगुली-निन्दा की गयी, उसे हमारी कुक्रिया को सुनकर तामस बढ़ता है। द्वेष, विक्षेप, झगड़ा तथा उपद्रव बढ़ते हैं। चुगुली-निन्दा रूप पाप से मनुष्य दब जाता है, समाज की दृष्टि से चुगुल-निन्दक गिर जाता है। आज वह मानसिक दुर्गुणों में तो जलता ही है, परन्तु परलोक (पुनर्जन्म) में भी वह कम कष्ट नहीं पाता। अतएव अपने-पराये तथा समाज में दुःख-दोष फैलाने वाले लोक-परलोक के नाशक इस चुगुली-निन्दा को इसीलिये सर्वथा त्यागना चाहिये। चुगुली-निन्दा न करने से मनुष्य का

स्वभाव गम्भीर, शुद्ध, राग-द्वेष रहित, अपना और समाज का सुधारक तथा सब का विश्वास पात्र हो जाता है। चुगुली-निन्दा न करना रूप 'अपैशुन्यता' गुण यही प्रिय है।

प्रश्न—बुरे कर्मों से लज्जा करके समस्त दुर्गुणों को त्याग देना चाहिये—इस कथन का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—चोरी, हिंसा, व्यभिचार, झूठ, चुगुली, निन्दा, छल, कपट, अभक्ष्य भोजन, (अभिमान-क्रूरता युक्त अकड़पन) आदि जहाँ तक लोक निन्दित और सन्त-सद्ग्रन्थ द्वारा निषेधित कर्तव्य हैं, ये ही बुरे कर्म हैं। मनुष्य को (यदि विशेष विवेक न हो तो भी) यह सोचना चाहिये कि यदि हम पूर्वोक्त बुरे कर्म करेंगे तो सब की दृष्टि से गिर जायँगे, हमें लोग महा तुच्छ समझेंगे, सभ्य-समाज में हमारी मर्यादा नहीं होगी। चोरी, व्यभिचार, हिंसा तथा झूठादि विशेष पापाचरण में फँस जाने पर समाज और सरकार द्वारा हम दण्ड के भागी होंगे। इस प्रकार बुरे कर्मों के करने में अपनी मर्यादा की हानि समझ कर लज्जा करके पूर्वोक्त कथित सम्पूर्ण दुर्गुणों को त्याग देना चाहिये।

८—निर्मानता राग द्वेष हीनता निष्कपटता आदि।

निशि दिन रहै अमान चित्त से, राग द्वेष में जरै नहीं।
कपटरहित व्यवहार राखि सब, छलबल घातको करैनहीं॥

रात-दिन निर्मान मन से रहना चाहिये, मोह-वैर में नहीं

जलना चाहिये। अपना सब व्यवहार कपट रहित रखना चाहिये, छल, बल और घात को नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—अमान का क्या लक्षण है और रात-दिन अमान चित से रहना क्या है ?

उत्तर—ये स्त्री-पुत्र, गृह-धन, हमारे से पृथक् हैं, क्षण-भंगुर हैं, छूटने वाले हैं, ये हमारे क्या हैं ? यह जवानी, ये रूप सौंदर्य तथा लावण्य भी टिकाऊ नहीं हैं, यह शरीर भी छूट जाने वाला है, पद-प्रतिष्ठा विद्या-वाणी सब बीच की वस्तुयें हैं। ये हमारे पास सदा रहने वाले नहीं हैं। शासन-अधिकार भी आज-कल में छूट जाने वाले हैं। जैसे एक नाटकी राजा-रंक का विविध स्वांग रचता है, परन्तु अन्त में न वह राजा है न रंक। इसी प्रकार एक जीव धनी-निर्धन, स्त्री-पुरुष, विद्वान्-अविद्वान्, बाल्य-कुमार, युवा, अधेड़ वृद्धादि तथा सेवक-स्वामी का समय-समय क्रम से अनेक भेष बनाता है। परन्तु सब छूट जाते हैं। जब ये मायावी पदार्थ सत्य नहीं हैं, छूट जाने वाले हैं, तब इनका मद धारण करके दूसरे को तुच्छ देखना, करकस वाक्य कहना कहाँ तक उचित है ? ऊँच-नीच वर्ण या जाति का भी घमण्ड करना व्यर्थ है, ये ऊँच-नीच ज़ाति केवल कल्पित हैं, व्यवहार में लोक-समाज अनुसार सदा-चरण युक्त भले बरता जाय, परन्तु इस मिथ्या मानन्दी का अभिमान कैसा ? विद्या, विवेक, ज्ञान तथा वैराग्यादि सद्गुण धारण करने का फल तो निर्मानता है। फिर इन सबको धारण

करके अभिमान करना, दूसरे को तुच्छ देखना, दूसरे के प्रति कटु वाक्य का प्रयोग करना कैसे हो सकता है ? पिण्ड से ब्रह्माण्ड तक और यह देह न मैं हूँ और न यह मेरी है, न इसकी अहन्ता-ममता ही हमको करना योग्य है। ऐसा भाव होना 'अमानता' का लक्षण है और इन लक्षणों को निरन्तर मन में धारण करना—रात-दिन अमान चित से रहना है।

प्रश्न—राग-द्वेष किसे कहते हैं और इनमें न जलना क्या है ?

उत्तर—अज्ञानी प्राणी को जहाँ उसे इन्द्रियों के मनःकल्पित सुख प्राप्त होते हैं, वहाँ वह आसक्ति मन में बना लेता है—यही राग है और जहाँ मन के प्रतिकूल दुःख मिलता है, वहाँ वह ईर्ष्या या वैर मन में बना लेता है—यही द्वेष है। इस प्रकार मनोमय और क्षणभंगुर संसार में माने हुए अनुकूल वस्तु-प्राणियों को न तो वास्तव में अनुकूल ही मानना और न उनमें आसक्ति ही करना तथा न उनके रक्षा-वृद्धि के लिये पाप कर्म या पक्षपात ही करना एवं न उनके मिलन-वियोग में किञ्चिन्मात्र कम्पित ही होना—यही राग में न जलाना है। अपने ही दुर्गुण अपने मुख्य वैरी हैं, वैरी रूपी मुख्य अपने दुर्गुण से ही बाहर के लोग वैरी हो जाते हैं, अतः माने हुए प्रतिकूल प्राणियों को वास्तव में न तो प्रतिकूल ही मानना और न दुष्ट दुर्जनों या अपने ऊपर घात करने वालों से बदला ही चाहना, न उसे दुर्वचन ही कहना और न तो उसके प्रति

अपने मन में अनिष्ट भावना ही रखना। सारांश—उसके रगड़े-झगड़े से सर्वथा दूर, उदासीन रहना—यही द्वेष में न जलना है।

प्रश्न—अपना सब व्यवहार कपट रहित रखना क्या है?

उत्तर—घरमें, परिवार में, समाज में, जहाँ का सब व्यवहार सार्वजनिक एवं अभेद रूप है। वहाँ रहकर अपने पुत्र को, अपने पति को, अपनी स्त्री को, अपने मित्र को या अपने किसी मुख्य परिवार को तथा अपने अनुकूल प्राणी को सब से छिपा कर अधिक या उत्तम खान-पान तथा वस्त्रादि कोई वस्तु देना—कपट व्यवहार है और इस भाव का न होना, सब में उचित समता, सब के जानकारी में अपना सामाजिक व्यवहार रखना—कपट रहित अपना सब व्यवहार रखना है। हाँ! किसी योग्य परिवार को या समाज के योग्य मनुष्य को कोई उत्तम वस्तु सब के जानकारी में देना—कपट व्यवहार नहीं है। बल्कि सर्वथा उचित ही है। किसी को योग्यतानुसार ही वस्तु, अधिकार पद या आसन देना उचित है। इसके अतिरिक्त जिसके शिर पर पूरे परिवार या समाज का उत्तरदायित्व (जिम्मेदारी) है, वह किसी को उत्तम या अधिक तथा किसी को मध्यम या कम वस्तु क्यों दे रहा है? इसका पूरा अभिप्राय न समझने से भी समाज तथा परिवार के लोग प्रबन्धक के प्रतिदोष-दृष्टि या राग-द्वेष की भावना बना सकते हैं। अतः सामाजिक या पारिवारिक जनों को

यहाँ बुद्धि और सज्जनता से काम लेना चाहिये। बहुत कुछ सम्भव है प्रबन्धक ने उत्तम-मध्यम कम-विशेष वस्तु अधिकार योग्यतानुसार उचित ही दिया हो और जो बहुतों का प्रबन्धक एवं रक्षक है, उससे भूलवश यदि यथार्थ ही कुछ विषम बातें हो जायँ, तो भी सामाजिक और पारिवारिक जनों को कर्ता के प्रति दोषारोपण और राग-द्वेष नहीं करने चाहिये।

प्रश्न—छल, बल तथा घात को न करना क्या है ?

उत्तर—नकली भेष बनाकर दूसरे को ठगना, विश्वास-घात करना आदि छल है। बल का अर्थ है शक्ति, घात कहते हैं प्रहार या चोट को। तात्पर्य यह है कि छद्म (नकली) भेष बनाकर या विश्वासघात करके किसी को न ठगना और न तो बल पूर्वक किसी प्राणी पर किसी प्रकार वार या प्रहार ही करना छल, बल तथा घात को न करना है।

९-मैत्री परोपकार की विधि।

मित्र भाव से लखै निरन्तर, जीवन हित उपकार चहौ।
ऐसी रहनी गहै जो निशिदिन, बहैं नहीं भवधार कहीं ५

मैत्री भाव से सब प्राणियों को सदैव देखना चाहिये; सब प्राणियों पर कल्याण और भलाई का लक्ष्य रखना चाहिये। सदैव ऐसे आचरण को जो ग्रहण करता है, वह कभी-भी संसार प्रवाह में नहीं बहता ॥ ५ ॥

प्रश्न—मैत्री भाव से सब जीवों को निरन्तर देखना और उनका हित तथा उपकार चाहना क्या है ?

उत्तर—मनुष्य; पिण्डज, अण्डज तथा उष्मज—इन चारों खानियों के समस्त प्राणियों को अपने समान अपना स्वजाति जानकर सदैव करुणा भावना होनी और मेरे द्वारा किसी को किञ्चित् कष्ट न हो; बल्कि प्राणी मात्र सुखी रहें; मनुष्य मात्र सद्बोध द्वारा दुःखों से मुक्त हो जायँ—ऐसी भावना रखनी ही मैत्री भाव से सब जीवों को निरन्तर देखना और उनका हित तथा उपकार चाहना है।

प्रश्न—ऐसी रहनी को जो रात-दिन गहता है, वह भव-धार में कभी नहीं बहता, इस कथन का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—लावनी एक से यहाँ पाँच तक के तथा आगे प्रकरण समाप्ति तक के वर्णित आचरणों को जो कोई सदैव धारण किये रहता है, वह संसार प्रवाह (जन्म-मरण-चक्र) में पुनः नहीं पड़ता—यहाँ का यही तात्पर्य है।

१०--स्वच्छता।

शौच क्रिया आचार करै नित, तन मन शुद्धी हेतु सही।
जल मृतका से बाहर तन पट, पात्र सदन सबसाफलही

तन मन पवित्र रखने के लिये सदैव शौच-क्रिया और आचार करना चाहिये। जल और मिट्टी से बाहरी शरीर वस्त्र, बर्तन और घर सब स्वच्छ रखना चाहिये ॥

प्रश्न—शौच-क्रिया और आचार पद का क्या भाव है ?

उत्तर—शौच कहते हैं मल त्याग करने को और क्रिया कहते हैं कर्म को अर्थात् मल त्याग करने के कर्म को शौच-क्रिया कहते हैं और पुनः शौच कहते हैं पवित्रता, शुद्धता तथा स्वच्छता को, क्रिया का वही पूर्व ही अर्थ 'कर्म' है। अर्थात् शौच-क्रिया का दूसरा अर्थ हुआ 'शुद्धता करने का कर्म।' आचार कहते हैं आचरण या चाल, चलन तथा चरित्र को। यहाँ का यह भाव है कि तन और मन दोनों की शुद्धि के लिये पवित्र-कर्म और सदाचरण को सदैव धारण करना चाहिये।

प्रश्न—जल, मिट्टी से बाहरी शरीर, वस्त्र, बर्तन और घर सब साफ रखना चाहिये—इसका स्पष्ट भाव क्या है ?

उत्तर—अन्तरी और बाहरी दो स्वच्छता होती है; अन्तरी स्वच्छता सद्विचार-सद्गुण से मन की की जाती है और बाहरी जल-मिट्टी द्वारा शरीर वस्त्र, बर्तन और घर आदि की की जाती है। अन्तरी स्वच्छता आगे बतायी जायगी, पहले बाहरी स्वच्छता बतायी जाती है।

शरीर की स्वच्छता—लोटा बड़ा रखना चाहिये, बड़े लोटे में पूरा जल भर कर नारी-पुरुष (सभी) को दिशा-मैदान जाना चाहिये और यथासम्भव दूर जाना चाहिये। जहाँ मार्ग न हो, मनुष्यों का विशेष आवागमन न हो, जहाँ बैठने से किसी को बुरा लगने वाला न हो, पृथ्वी शुद्ध हो,

मनुष्यों की दृष्टि न पड़ती हो—यथासम्भव ऐसी भूमि में मैदान बैठना चाहिये। मल-त्याग-पश्चात् जल-मृतका से शौच करना चाहिये, शौच-पश्चात् केवल दाहिने हाथ से वस्त्र पहनना चाहिये और दाहिने हाथ से ही लोटा पकड़ना चाहिये। जल-मिट्टी द्वारा केवल बाँये हाथ को तीन बार धोना चाहिये, पुनः दोनों हाथ मिला कर जल-मिट्टी से तीन बार धोना चाहिये। इस प्रकार छः बार जल-मिट्टी से हाथ धोकर तब बाँये हाथ से वस्त्र-पात्रादि छूना चाहिये और लोटा माजना चाहिये। पूर्वोक्त रीति से छः बार जल-मिट्टी से हाथ धोये बिना बायें हाथ से वस्त्र-पात्रादि कुछ नहीं छूना चाहिये। नित्य लघुशंका-पश्चात् शीतल जल से उपस्थ धोना चाहिये। नित्य स्नान करना चाहिये। दिन में एक बार स्नान कर लेने के पश्चात् यदि डोलडाल जावे, तो पुनः स्नान करना चाहिये या लङ्गोटी ही मात्र बदलना चाहिये। केवल शिर का भार हटाने के लिये दातौन नहीं करना चाहिये, बल्कि अच्छी दातौन से भलीभाँति दाँत माजना चाहिये। दाँत और जीभ में मैल नहीं बैठने देना चाहिये। दिन हो या रात, सोकर उठने पर तुरन्त ही स्वच्छ जल से हाथ से जीभ और दाँत रगड़ कर कुल्ला करना चाहिये। सोकर-उठने-पश्चात् बिना भलीभाँति कुल्ला किये थूक नहीं घूटना चाहिये। आँख, नाक और कान आदि में मैल नहीं रहने देना चाहिये। बाल बहुत बड़ा-बड़ा नहीं रखना चाहिये। जल-मिट्टी एवं साबुन से शिर

धोकर स्वच्छ रखना चाहिये। नख को नहीं बढ़ने देना चाहिये। नित्य स्नान द्वारा शरीर में मैल नहीं जमने देना चाहिये। कुल्ला करके हाथ धो डालना चाहिये। बिना हाथ धोये कोई खाद्य पदार्थ नहीं छूना चाहिये। इस प्रकार जल-मिट्टी द्वारा शरीर की भलीभाँति स्वच्छता रखनी चाहिये।

वस्त्रों की स्वच्छता—वस्त्रों को धोकर भलीभाँति स्वच्छ रखना चाहिये। जनेऊ-कण्ठी-माला को स्वच्छ रखना चाहिये। बहुत से मनुष्य तथा भक्तजन जनेऊ तथा कण्ठी-माला को मैला-कुचैला बनाये रखते हैं, वस्त्रों को महीनों तक नहीं साफ करते। उत्तम मनुष्य होते हुए वे पशुवत् गन्दगी में ही लिपटे रहना चाहते हैं। मैले-कुचैले मनुष्यों का स्वभाव भी मैला हो जाता है, उसे सज्जन और स्वच्छता रखने वाले लोग पास नहीं बैठाना चाहते। स्वच्छता रखने वाले मनुष्यों से भले लोग प्रेम करते हैं, पास बैठाते हैं। मैले-कुचैले लोग अपनी और अन्य की (सबकी) हानि करने वाले होते हैं। जनेऊ, कण्ठी-माला तथा वस्त्रों को सदा स्वच्छ रखना चाहिये।

बर्तनों की स्वच्छता—मिट्टी-उसकन से भलीभाँति माज-कर पवित्र जल से खूब धोकर लोटा, गिलास, थाली, बटुली आदि सब बर्तनों को विधिवत् स्वच्छ रखना चाहिये। ऐसा न हो कि लोटा-थाली को देखकर भले मनुष्य को घृणा उत्पन्न हो जाय। जिस लोटा, गगरा (घड़ा) से स्नान किया जाय उसे स्नान करने के पश्चात् माज-धोकर के तब उससे जल भरकर

पीना चाहिये, नित्य घड़ा को माजना चाहिये इत्यादि ।

घर की स्वच्छता—झाड़ू से घर-द्वार तथा आस-पास नित्य बुहारना चाहिये । घर की भित्त तथा पृथ्वी को जल, मिट्टी, चूना तथा पोतने से लीपकर सदा स्वच्छ रखना चाहिये । द्वार का दृश्य अच्छा रखना चाहिये । यह नहीं कि 'द्वार पर कूड़ा-कचड़ा जमा रहे, शूकर, कूकर, पशु आदि के मल-मूत्र यत्र-तत्र पड़े रहें, दृश्य बुरा लगे ।' सदैव भलीभाँति स्वच्छता रखनी चाहिये । जिससे घर द्वार की स्वच्छता देखकर सज्जन, अभ्यागत या दूसरे लोग प्रसन्न हो जायँ । तमाकू और पान खाने वाले बाबू लोग जहाँ बैठते हैं, तहाँ थूक-थूक कर गन्दा कर देते हैं । बहुत लोगों का घर, द्वार, कमरा तथा भित्त सब थूक-थूक कर गन्दगी से भरा रहता है । वे लोग अपने मुख को, अपने मन को तथा अपने घर-द्वार आदि को गन्दा किये रहते हैं । अतः आवश्यकता है इन बुराइयों को त्यागकर स्वच्छता रखने की । इस प्रकार शुद्ध जल-मिट्टी द्वारा शरीर, वस्त्र, बर्तन और घर को भलीभाँति स्वच्छ रखना चाहिये ।

प्रश्न—स्वच्छता के कुछ अङ्ग और बतलाइये ?

उत्तर—चोरी, घूसखोरी, बेइमानी तथा ठगाई आदि पाप कर्म करके अन्याय पूर्वक अन्न-द्रव्य (खाद्य-पदार्थ) न हो, मादक न हो, हिंसकी न हो, मांस युक्त न हो । अपनी सच्ची कमाई का हो या दूसरे द्वारा सहर्ष अर्पण किया हुआ

हो । अन्न, साग, फल, मूलादि अमनिया करके, जल छान कर बर्तन शुद्ध माज कर, पवित्र चौका के भीतर, लोक-समाज अनुसार या सन्त-भक्त समाज के लोक अनिन्दित शुद्धाचारी के हाथ का बनाया हुआ पवित्र भोजन, टोपी-कुर्ता-जूतादि उतार कर, स्नानादि शुद्धता करके, हाथ-मुख धोकर, पवित्रता पूर्वक चौका के भीतर, पृथ्वी या पीढ़े पर बैठ कर खाना चाहिये। बिना जलछक्का (शुद्ध कपड़े) से जल छाने जल नहीं पीना चाहिये। सब प्रकार से शुद्धता का ध्यान रख कर भली भाँति स्वच्छता रखनी चाहिये।

सद्विचार सत्संग ज्ञान से, मानस शुद्ध करै नितही।
इच्छारहित तोष धरि उरमें, तृष्णाका कछु कामनहीं॥६

अच्छे विचार, सन्तों के संग और यथार्थ स्वरूपज्ञान द्वारा अन्तःकरण को सदैव स्वच्छ करना चाहिये। विषय चेष्टा से रहित हृदय में सन्तोष धारण करे और तृष्णा की कोई आवश्यकता ही नहीं है ॥ ६ ॥

प्रश्न—सद्विचार, सत्संग और ज्ञान—इन तीन पदों का क्या अभिप्राय है और इनसे मनको सदैव शुद्ध रखना क्या है ?

उत्तर—मैं कौन हूँ, जगत् क्या है, मैं कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, मेरा और जगत् का कोई कर्ता है या नहीं, है तो कैसे, नहीं है तो कैसे, मनुष्य शरीर प्राप्त करके क्या करना चाहिये, मनुष्य शरीर का फल केवल भोग ही है कि कुछ और

है, बन्धन कैसे है और निवृत्त कैसे होगा, बन्धन-निवृत्ति के पश्चात् जीव की स्थिति क्या है ? इत्यादि भावनाओं को— सद्विचार कहते हैं। और सद्विचार सद्गुणों के चिन्तन को भी कहते हैं। सत्य का संग सत्संग है। सत्य आचरण युक्त सत्स्वरूप में निष्ठ श्रेष्ठ सन्तों की संगत और उनकी सत्य निर्णय वार्ता सत्संग है। ज्ञान का अर्थ है यथार्थ समझ-- स्वरूपबोध। इसका कुछ विस्तार दुख-शमन चालीसा २२ चौपाई की व्याख्या में और इस प्रकरण के प्रथम लावनी के प्रथम पंक्ति की व्याख्या में आया है, वहाँ देख लेना चाहिये।

अच्छे-अच्छे विचारों से, विवेकी सन्तों के सत्संग से और स्वरूपज्ञान द्वारा मल (पाप-विषयासक्ति), विक्षेप (विपरीत संस्कार-नाना वासनायें) तथा आवरण (स्वरूप की भूल) और राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं भय आदि अन्तः-करण के समस्त विकारों को नष्ट करके हृदय को पवित्र कर लेना चाहिये या देह रहे तक सदैव पवित्र करते रहना चाहिये। यही यहाँ का अभिप्राय है।

प्रश्न--इच्छा, तोष और तृष्णा—इन तीन पदों का क्या भाव है और इच्छा से रहित होकर हृदय में तोष धारण करने का और तृष्णा की अनावश्यकता बतलाने का क्या अभिप्राय है।

उत्तर—पंच विषयों के मनःकल्पित बन्धनदायी भोगों की कामना-चेष्टा को यहाँ इच्छा कहा गया है। तोष कहते हैं सन्तोष को; प्राप्त-वस्तुओं में अहन्ता-ममता, आसक्ति और

तृष्णा से सर्वथा रहितपना और अप्राप्त-वस्तुओं की विवश कामना से सर्वथा रहित होना—यही सन्तोष का लक्षण है। निर्वाहिक व्यावहारिक मुख्य वस्तुओं के प्राप्त होते हुए भी भीतर से और-और प्राप्ति की भावना होनी—तृष्णा का सरूप है। तृष्णा का स्पष्ट रूप श्रीपूरणसाहेब वैराग्य शतक में लिखते हैं-दोहा—

निर्धनिक कछु धन चहैं, धनिक चहैं विशेष।
विशेष हूँ विशेष चहैं, होवन चहैं नरेश॥
नरेश चहैं इन्द्र पद, इन्द्र चहैं रणजीत।
असुर चहैं सुरपति बनन, यह तृष्णा की रीत॥

साधारण उदाहरण ऐसा है—थाली में दस लड्डू रखे हैं, हाथ में लेकर मुख से चबा-चबा कर खा रहे हैं, पेट उतने में खूब भर जाने वाला है। परन्तु मन में भावना होती है—'और मिलता, और खा पाते तो अच्छा था।' अभाव या कमी का अनुभव कराते रहना—तृष्णा का लक्षण है।

यहाँ का यह अभिप्राय है कि मनःकल्पित बन्धनदायी विषय भोगों की इच्छा (कामना-चेष्टा) का सर्वथा त्याग करके हृदय में सन्तोष धारण करना चाहिये। पुनः विषय इच्छा त्याग कर सम्यक् रूप सन्तोष जब धारण हो गया, तब अभाव का अनुभव रूप और-और तृष्णा की क्या आवश्यकता है और उसका कहाँ स्थान है? अर्थात् सन्तोष धारण हो जाने पर न तृष्णा की आवश्यकता प्रतीत होती है और न तृष्णा के लिये सन्तोषी के हृदय में स्थान ही रह जाता है। क्योंकि

तृष्णा के विपरीत सन्तोष है और सन्तोष के विपरीत तृष्णा है। तृष्णा अपूर्ण, कमी, दुःख और अभाव का अनुभव कराती है तथा सन्तोष भाव, तुष्टि, पूर्ति, तृप्ति एवं शान्ति का अनुभव कराता है। अतएव स्वरूपबोध पूर्वक विषय वासना पूर्ण त्याग कर सन्तोष धारण हो जाने पर तृष्णा जड़मूल से नष्ट हो जाती है। यही दुःख रहित परम् निश्चिन्त जीवन है।

११-तितिक्षा, तन, मन, वचन से भक्ति, सत्संगादि की विधि।

ठण्डी गरमी सुख दुख आदिक, विघ्न अनेक सो द्वन्द्व सहै।
निज पद से नहिं डिगै रंच भर, सोई तितिक्षा मूल गहै॥

सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदिक अनेक बाधायें और उपद्रव जो प्रारब्ध भोगों में आवें, उन्हें सहना चाहिये। जिस स्थिति की पक्की निश्चयता रूप सहिष्णुता (सहनशक्ति) को प्राप्त कर अपने स्वरूपस्थिति से किञ्चित् मात्र कभी न हटे, वही तितिक्षा के मूल को धारण करना चाहिये॥

प्रश्न—ऊपर का स्पष्ट भाव दर्शाइये ?

उत्तर—अधिक ठण्ढी-गर्मी और खोज-खोज-कर कठिनता को सहन करने से कुछ हृदय की अविद्याग्रन्थि की निवृत्ति और स्वरूपस्थिति की प्राप्ति नहीं होती। अनेक साधक भ्रमवश या भावावेशिता (उमंग) में पड़कर अधिक गर्मी-ठण्ढी को सह कर आहार-विहार बहुत कम करके या जलाहार-फलाहार करके एवं और भी बाहरी अधिक उल्टे-पल्टे

साधन करके (प्रारब्ध रोग के अतिरिक्त) पुरुषार्थ करके रोगों को बुला लेते हैं। फिर साधन-विचार करने के समय में रोगों और औषधियों का चिन्तन करना पड़ता है और सब की परवशता लेनी पड़ती है। अतएव जब इस शरीर से साधन करके मोक्ष लेना है तब जान-बूझकर यथाशक्ति एवं यथोचित इसे ठीक स्थिति में रखना ही कर्तव्य है। जान-बूझ कर इसे बिगाड़ने में कोई लाभ नहीं।

अब यहाँ का भाव ऐसा है कि अपने को ऐसा सुखाध्यासी नहीं बना देना चाहिये कि कभी तनिक-सी ठण्ढी-गर्मी न सह सके। शरीर की उचित सुरक्षा करते हुए उचित ठण्ढी-गर्मी सहने की शक्ति रखनी चाहिये, इसके अतिरिक्त अनुकूल वस्तु-प्राणी, निरोग्यता, यौवन अवस्थादि के सुख को प्राप्त होकर न तो अहन्ता-ममता एवं विशेष प्रसन्नता ही प्रकट करनी चाहिये और प्रतिकूल वस्तु-प्राणी, रोग, वृद्धपन आदि दुःखों को प्राप्त होकर न तो विकल ही होना चाहिये। न तो पारिवारिक सामाजिक तथा लौकिक हलचल तथा अपमान-अनादर-निन्दादि रूपी विघ्नों को प्राप्त होकर अपने कल्याण-पथ से तनिक हटना ही चाहिये। अर्थात् ठण्ढी-गर्मी, सुख-दुःख और बाधा रूप उपद्रवों को अडिग पर्वत वत् बुद्धि में धीरत्व धारण कर सहन करना चाहिये। इस सहनशक्ति को ही तितिक्षा के नाम से कहा जाता है। यहाँ नीचे की पंक्ति में ग्रन्थकर्ता यह बतलाते हैं कि जिससे मुमुक्षु सब कुछ

सहते हुए अपनी स्वरूपस्थिति से किञ्चित् भी नहीं डिगता, वह मूल (मुख्य) तितिक्षा स्वरूपस्थिति (कल्याण) की पक्की निश्चयता है।

तात्पर्य यह है कि जब कल्याण-प्राप्ति करने का पक्का निश्चय रहता है, तब उसके निमित्त गर्मी-ठण्ढी, दुःख-सुख तथा अनेक विघ्नों को प्रसन्नता से सहा जा सकता है। स्त्री-सुख का सच्चा विरही (कामी) अनुकूल-स्त्री के लिये और लोभी धन के लिये तथा मोही एवं प्रेमी पुत्र या मित्र के लिये सहने योग्य क्या-क्या दुःख-सुख विघ्न-बाधा रूप द्वन्द्व नहीं सह लेते हैं ? फिर कल्याण का सच्चा विरही कल्याण-पथ के समस्त विघ्नों को तृणवत् तोड़ते हुए और प्रारब्ध भोग में मिले सुख-दुःख द्वन्द्वों को क्यों न प्रसन्नता पूर्वक सहेगा ? अवश्य सहेगा। कल्याण-पथ के तनिक से भी विघ्नों को न सह पाना या कल्याण के साधन अंग रूप शिक्षा-उपदेश, भक्ति-सेवा, आज्ञानुवर्तिता, आचरण तथा सद्पुरुषार्थ ही को विघ्न या दुःख रूप मान लेना—यह कोई जिज्ञासा तथा मुमुक्षुता का लक्षण नहीं है। यह है सुखाध्यास, यह है परमार्थ के आधार में भोगों की वासना, यह है निर्बुद्धिपन, अहंपन।

मनुष्य कहीं भी रहे उसे सहना अवश्य पड़ेगा। बिना सहन किये चल ही नहीं सकता। बल्कि सज्जन विवेकियों के पास बहुत कम सहना रहता है और वहाँ जो सहना भी रहता है, वह कल्याणकारी होता है। सहना तो पड़ता है ऐसे स्थान

पर जहाँ अपना सब प्रकार से अकल्याण है। कुटुम्ब में, पड़ोस में, ग्राम में, आस-पास में, समाज में तथा देश-विदेश अकेले रहकर कहाँ नहीं सहना पड़ता ? भला ! इस भौतिक संसार में कहाँ कौन-सा ऐसा स्थान है, जहाँ कभी भी किञ्चत् प्रतिकूलता न सहना पड़े ? कोई स्थान नहीं है। विविध संस्कार गुण, कर्म को धारण करने वाले प्राणियों के बीच में तथा तत्त्व क्रिया वर्षा-शीत-धूप शारीरिक-मानसिक द्वन्द्व और पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक अनेक द्वन्दों अनेक परिस्थित-समस्याओं से पूर्ण इस संसार में रह कर कहीं भी ऐसा स्थान नहीं है कि बिना वस्तु-प्राणियों की प्रतिकूलता सहन किये एक दिन या एक घण्टा भी निभ सके। अतएव जब सब प्रकार सहना है तब अपने कल्याण निमित्त हमें सब द्वन्द्वों को प्रसन्नता पूर्वक सहते हुए अपना उद्धार करना चाहिये।

सन्त पारखी गुरुवर से मिलि, तनमन वचसे भक्ति लहै।
यह सत्संग के लक्षण जानो, निर्णय वाक्य सुधार गहै॥

श्रेष्ठ पारखी सद्गुरु और सन्तों की शरण लेकर तन, मन और वचन से भक्ति करे। सत्संग के यही लक्षण जानना चाहिये कि सन्तों के निर्णय वाक्यों को श्रवण-मनन करके सुधार के लिये आचरण करे॥ ७॥

प्रश्न—पारखी सन्त या सद्गुरु किसे कहते हैं ?

उत्तर—सत्य, असत्य, जड़-चैतन्य, बन्ध-मुक्ति तथा

खानी-वाणी की जिन्हें पूर्ण परीक्षा हो, जो अपनी पारख (परीक्षा) कसौटी पर सब सिद्धान्त और खानी-वाणी के मन्तव्यों को कसकर सर्व भास, अध्यास, अनुमान तथा कल्पना रूप बन्धनों को त्याग कर सत्स्वरूप में स्थित हों, ऐसे त्यागी परीक्षक महात्माओं को पारखी सन्त या सद्गुरु कहते हैं।

प्रश्न—तन, मन और वचन से उनकी भक्ति करना क्या है ?

उत्तर—तन को पाप कर्म से सर्वथा फिराकर—सन्तों की सेवा सत्कार के लिये झाड़ू लगाना, घर लीपना, चौका लगाना, बर्तन माजना, अन्न-साग आदि अमनिया करना, जल भरना, स्नान, कराना, उनका कपड़ा धोना, समय से योग्यतानुसार पैर दावना, पंखा करना, आसन लगाना तथा बोझा ढोना इत्यादि, जहाँ तक स्थूल सेवा की जाय—यही तन से भक्ति करना है।

मन को पाप कर्म से सर्वथा फिरा कर—विवेकी सन्त-महात्माओं और सद्गुरुदेव में दृढ़ प्रेम होना, उनके गुण-रहस्य की महत्ता का मन में ध्यान होना, उनका उपकार स्मरण करना, हृदय से कृतज्ञ होना, सन्तों से सुने हुए ज्ञानोपदेश तथा निर्णय वाणियों का मन में मनन करना, मन-ही-मन निर्णय वाणियों का अर्थ विचारना, पवित्र आचरण युक्त सन्तों के स्वरूप का ध्यान करना, देखे-सुने हुए सन्तों के समाज, सन्तों के आचरण-रहनी, पूजा-पाठ, कथा-सत्संग,

आरती-वन्दना, सात्त्विक भूमिका, बोली, क्रिया तथा सन्तों की सेवा-पूजा रूप दृश्यों का हृदय से चिन्तन करना। इस प्रकार विवेकी सद्गुरु सन्त-महात्माओं के प्रेम तथा आचरण चिन्तन ही में चित्त को लगाये रखना—मन से भक्ति करना है।

वचन को पाप कर्म से सर्वथा फिराकर—सद्ग्रन्थों को पढ़ना, निर्णय वाक्य याद करना, पाठ करना, बड़े पुरुष द्वारा पढ़ना, अन्य अधिकारी जिज्ञासु को पढ़ाना, हितकारी उपदेश करना, सन्ध्यापाठ करना, सद्गुरु-सन्तों के कीर्तन-विनय गाना, उनका गुणानुवाद कथन करना, परस्पर या अन्य जिज्ञासुओं से अपने अन्तःकरण की शुद्धि अर्थ सन्तों के गुणों की उचित प्रशंसा करना तथा सद्गुरु सन्तों से मीठे नम्रता युक्त बोलना इत्यादि, वाणी से जहाँ तक सेवा की जा सके, यह सब वचन से भक्ति करना है।

प्रश्न—यहाँ धन से भक्ति करने को क्यों नहीं कहा गया ?

उत्तर—जहाँ तन, मन और वचन से भक्ति होने लगी, वहाँ यथाशक्ति या यथायोग्य धन से भक्ति करने के लिये जिज्ञासु उठा नहीं धरेगा। जिनकी सेवा-भक्ति में तन, मन और वचन अर्पित हो गये; उनकी सेवा में धन का व्यय करना तो सहजिक है। रह गया साधु-गुरु रूप इष्ट में प्रेम सच्चा होना चाहिये और प्रेम ही को भक्ति कहते भी हैं। अपनी शक्ति अनुसार (अन्न-द्रव्य-वस्त्र रूप) धन से भी सेवा भक्ति करनी चाहिये। धनवान् लोग सेवा-भक्ति में शहस्त्रों

रुपये खर्च कर सकते हैं, तो करना ही चाहिये। परन्तु गरीबों का एक सीधा या दो आने पैसे ही सन्तों की सेवा में लगाना कम नहीं है। अतएव विवेकी सद्गुरुसन्तों की अपने तन, मन, वचन और धन से यथाशक्ति सेवा-भक्ति करनी ही चाहिये।

प्रश्न—'यह सत्संग के लक्षण जानो, निर्णय वाक्य सुधार गहै'—इस का क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ का अभिप्राय ऐसा है सत्संग करने का यही अर्थ है कि सन्तों के निर्णय वाक्यों का श्रवण-मनन करके अपना सुधार-कल्याण करे। यदि सत्संग द्वारा सदाचरणों को जान-समझ कर भी उसे प्रयोग में नहीं लाता, अच्छे मार्ग से नहीं चलता, तो फिर सत्संग का उसे क्या लाभ हुआ ? कुछ नहीं। अतएव सत्संग द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सदाचरण से चलना चाहिये।

१२—सेवा लक्षण दान विधि।

सत् पुरुषों के काज प्रिये जो, करे बनावै सेव सोई।
योग्य अधिकारी पात्र शुद्ध जो, अन्न आदि से दान सोई॥

विवेकवान् श्रेष्ठ पुरुषों के कार्य को जो प्रेम पूर्वक करना और सुरक्षा रखना है—यही सेवा है। अथवा विवेकवान् के प्रियकार्य (सद्बोध-स्थिति-सदाचरण को जो धारण) करना और सुरक्षा करना है—वही सेवा है। योग्य, अधिकारी तथा शुद्धपात्र जो हो; अन्न आदि से उसी को दान देना चाहिये।

प्रश्न—ऊपर की पंक्ति का भाव क्या है ?

उत्तर—सत्यस्वरूप में निष्ठ जो विवेकवान् पारखी सन्त हैं, उनके काज (सेवा टहल) को जो प्रेम पूर्वक करना है और यथायोग्य उनकी सब प्रकार से जो रक्षा करना है—यही सेवा करने का लक्षण है। दूसरा अभिप्राय ऐसा है कि विवेकी पुरुषों के जो प्रिय कर्तव्य—दया, शील, क्षमा, विचार, धैर्य, विवेक, भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्यादि सद्बोध-सद्गुण धारण करना है। अर्थात् जो गुरु-आज्ञा रूप इन बोध-सद्गुणों को भलीभाँति धारण करना है और इसी की सुरक्षा जीवन भर करना है। यही श्रेष्ठ पुरुषों की आज्ञा पालन रूप सेवा करना है। जो श्रेष्ठ सद्गुरु की तन, मन तथा वचन से स्थूल सेवा-भक्ति करेगा, वह बोध सदाचरण का अधिकारी होगा और जिसे गुरु आज्ञा रूप सूक्ष्म भक्ति अर्थात् बोध—सदाचरण धारण है, वह योग्यतानुसार श्रेष्ठ सन्त-गुरु की स्थूल सेवा-भक्ति भी करेगा। अतः मुमुक्षुओं को दोनों धारण करने योग्य हैं। हाँ ! जो बोधवान् स्वरूपस्थिति के मार्ग पर चल रहा है, वह जानो भक्ति, ज्ञान, वैराग्य सब कुछ धारण कर लिया।

प्रश्न—'योग्य अधिकारी पात्र शुद्ध जो, अन्न आदि से दान सोई'—इस कथन का क्या भाव है ?

उत्तर—जो योग्य हो; अधिकारी हो तथा शुद्ध पात्र हो—अन्न, द्रव्य, वस्त्र, जल या उपयोगी वस्तुओं से उन्हें ही दान देना चाहिये।

योग्य—जो अन्न हीन, वस्त्र हीन, द्रव्य हीन, गृह हीन,

भूखा, प्यासा, रोगी तथा भयभीत हो—वह दान पाने के योग्य है। ऐसे प्राणियों के लिये कर्तव्य दृष्टि से दान देना चाहिये।

अधिकारी—अन्न हीन अन्न दान का अधिकारी है, वस्त्र हीन वस्त्र का अधिकारी है, द्रव्य हीन द्रव्यदान का, गृह हीन गृह का, भूखा भोजन का, प्यासा जल का, रोगी औषधि का और भयभीत अभय दान का अधिकारी है। जिस व्यक्ति के पास जिस उपयोगी वस्तु का अभाव हो, उस वस्तु के दान पाने का वह मनुष्य अधिकारी है। जिस मनुष्य के पास जो वस्तु अधिक है, उसी वस्तु का उसे और कोई दान देवे, तो न दान पाने वाले को उतना अधिक लाभ या प्रसन्नता होगी और न देने वाले को अधिक पुण्य ही होगा। और जो वस्तु जिसके पास नहीं है या कम है उस वस्तु का उसे दान दिया जाय, तो दान पाने वाले को तत्काल लाभ और प्रसन्नता होगी तथा देने वाले को अधिक पुण्य भी होगा। अतः जिसके पास जो वस्तु नहीं है या कम है, उसी वस्तु का दान उसे कर्तव्य दृष्टि से देना चाहिये।

शुद्ध पात्र—जो हिंसा-मांसाहार से रहित है, जो गाँजा-भाँग, बीड़ी-सिगरेट आदि सर्व दुर्व्यसनों से रहित है, जो विषय-वासना रहित, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, अहंकार, कल्पना तथा राग-द्वेष से रहित है। जो शुद्धाचारी, निर्विषयी, सदाचरण परायण, परमार्थ पथारूढ़ है—वह शुद्ध पात्र है।

ऐसे शुद्ध पात्र को पूज्य दृष्टि से अन्न, वस्त्र, द्रव्य, जल तथा औषधि आदि उपयोगी वस्तुओं का दान देना चाहिये।

कर्तव्य दृष्टि से या फल-प्राप्ति की दृष्टि से योग्य अधिकारी (गरीब-दुखियों) को जो दान देंगे वे कुछ अन्तःकरण की शुद्धि तथा विशेष [1]पारलौकिकसुख के भागी होंगे और जो पूज्य दृष्टि से शुद्ध पात्र (परमार्थ परायण विवेकी सन्तों) को दान देंगे—सेवा करेंगे। वे विशेष अन्तःकरण की शुद्धि और कल्याण के भागी होंगे। और विशेष सकाम भाव होने से पारलौकिक सुख के भागी होंगे। अतएव कर्तव्य दृष्टि से योग्य, अधिकारी (गरीब-दुखियों) को दान देना चाहिये और पूज्य दृष्टि से शुद्धपात्र (विवेकी सन्तों और पवित्रों) को दान देना चाहिये। और दया दृष्टि से किसी भी प्राणी को सन्तुष्ट करना रूप दान देना चाहिये। यही गृहस्थ का कर्तव्य है।

१३-धर्म-रक्षा हित सहन, स्वाध्याय लक्षण।

धर्म रहन हित कष्ट सहन करि, हटै नहीं तप जान सोई।
सद्ग्रन्थन को पढ़ै पढ़ावै, स्वाध्याय कहाय सोई ॥८॥

सद्धर्म को दृढ़ रखने के लिये भारी-से-भारी दुःख सहन करना, कठिन दुःख सहते हुए भी धर्म से न हटना यही

१—दूसरे भविष्य जन्म में जो सुख भोग मिलेंगे, वही पारलौकिक सुख है।

तपस्या जानना चाहिये। सद्ग्रन्थों को स्वयं पढ़ना और दूसरे को पढ़ाना—यही स्वाध्याय कहलाता है ॥ ८ ॥

प्रश्न—धर्म रहन हित कष्ट सहन करि, हटै नहीं तप जान सोई—इस का स्पष्ट भाव क्या है ?

उत्तर—सद्धर्म को दृढ़ रखने के लिये चाहे कितने भी कष्ट सहने हों, सब सहकर धर्म से हटना नहीं चाहिये—यही मुख्य तपस्या है। जैसे—कोई जिज्ञासु भक्ति-सत्संग करना चाहता है या भक्ति-सत्संग करता है। उसे घर वाले परिवार रोकते हैं, ग्राम या पड़ोस के लोग तथा नात-गोत सगा-सम्बन्धी भक्ति-सत्संग करने में विघ्न उपस्थित करते हैं। वहाँ जिज्ञासु का कर्तव्य है कि प्रेम और समता पूर्वक सबकी उचित सुरक्षा करते हुए और उचित रूप से समझाते हुए तथा सदाचरण युक्त रहते हुए दृढ़ता रूप से भक्ति सत्संग करे। भक्ति-सत्संग करने से कोई रोके तो उसकी तनिक भी कहा न माने। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है कि भक्ति के लिये—

तज्यो पिता-प्रहलाद, विभीषन-बन्धु, भरत-महतारी।
बलि-गुरु तज्यो, कन्त-बृजबनिहितिन, भये मुद मंगल कारी ॥

अतएव निर्भय होकर श्रेणी अनुसार भक्ति-सत्संग करना चाहिये। सदा सत्य की जय होती है। असत्य पथ पर चलने वाला ही हारता है। सुना जाता है—जब राणा (क्षत्री) के घराने की 'मीरा बाई' ने आजीवन भक्ति-भजन करने का

संकल्प किया, तब कुटुम्बी और सगे-सम्बन्धी लोग बड़ा विघ्न डालने लगे और मीराबाई को बहुत कष्ट दिये। परन्तु सब द्वन्द्व सहकर मीराबाई ने अपना भक्ति-धर्म अविचल रखा।

झाँसी की लक्ष्मीबाई ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि जब तक मेरे शरीर में प्राण रहेंगे तब तक विधर्मियों से अपना अंग स्पर्श न होने दूँगी। अतः उन्होंने कई दिनों तक दुष्टों से घमासान युद्ध किया और अन्त में वीर गति को प्राप्त किया। परन्तु जीते जी विधर्मियों से अपना अंग स्पर्श न होने दिया।

चित्तौड़ की सहस्रों सती स्त्रियों सहित पद्मिनी महारानी जब समझीं कि हमारे घर के सब पुरुष युद्ध में मार डाले गये या कैद कर लिये गये और अब पापी विधर्मी लोग हम लोगों का धर्म बिगाड़ देंगे, तब वे सब घर में अग्नि जला कर और उसी में कूद-कूद कर अपने जीवन को समाप्त कर दिये। परन्तु धर्म को भलीभाँति बचाया।

प्रहलाद भक्त ने अपने धर्म-भक्ति को सुरक्षित रखने में पिता हिरण्यकश्यपु द्वारा कितना कष्ट पाया और सहा? यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इतिहास पढ़-सुन कर सब जानते हैं। दृष्टान्त चाहे कुछ अंश सत्य हो चाहे सर्वांश कल्पित हो। सिद्धान्त में सारांश यह लेना है कि सद्गुरु-सन्तों की भक्ति करने में परमार्थ-पथ पर चलने में चाहे कितने ही विघ्न उपस्थित हों, परन्तु दृढ़ता पूर्वक उनको सहन कर धर्म में अविचल रहना चाहिये।

गुरु-गोविन्द सिंह के दो पुत्रों को पकड़वा कर अन्यायी औरङ्गजेब ने मुसलमान बनाना चाहा और कहा कि मैं अपनी पुत्री के साथ आप लोगों का विवाह कर दूँगा, परन्तु आप दोनों मुसलमान हो जाइये। यदि मुसलमान नहीं होंगे, तो दीवार में चुनवा दिये जाओगे। गुरुगोविन्द सिंह के वीर बच्चों ने कहा—क्या आप की पुत्री के साथ विवाह करके मुसलमान हो जाने पर हम लोगों की कभी मृत्यु नहीं होगी? ऐ पापी! हम दोनों तुम्हारे नीच हिंसकी मतको स्वीकार नहीं कर सकते। हम दोनों को तुम दीवार में चुनवा दो, कोई चिन्ता नहीं है। निदान निर्दयी औरङ्गजेब ने बच्चों को दीवार में चुनवा दिया। बच्चों ने सहर्ष अपने को दीवार में चुनवा लिया। परन्तु धर्म न छोड़ा, धन्य!

हम सब को भी अपने सद्धर्म में इतना दृढ़ होना चाहिये कि प्राण संकट आ जाने पर भी धर्म की रक्षा करें। भयवाली कोई बात आने पर या दरिद्रता आने पर लोग धर्म छोड़ देते हैं, चोरी बेइमानी करने लगते हैं तथा झूठ बोलने लगते हैं। अतः यहाँ सहनशील बनकर सब विघ्नों को सहते हुए धर्म की रक्षा करनी चाहिये।

परमार्थ-पथ (साधु-वेष) में आये हुए जिज्ञासुओं-मुमुक्षुओं को भी समझना चाहिये कि यदि वे सेवा-भक्ति रूप परिश्रम नहीं कर सकते हैं, विविध भोगों का दृढ़ त्याग नहीं कर सकते हैं, सद्गुरु सन्तों के उपदेश प्रेम पूर्वक सुनकर तैसे आचरण

बनाने का प्रयत्न नहीं कर सकते हैं, (क्योंकि विवेकी सद्गुरु सन्तों के उपदेश अधिकांश रूप से सुखाध्यासी मन के प्रतिकूल ही होते हैं), यदि वे मन-वासनाओं को वीरता पूर्वक न दबा कर मन-इन्द्रियों के थपेड़ों में विकल हो जाते हैं, यदि वे अपना भोजन-वस्त्र, रहन-सहन, सादा-साधारण नहीं बना सकते, यदि वे कठोर जीवन नहीं निभा सकते, यदि वे तनिक भी अपमान-निन्दा-अनादर सहन करने से असमर्थ हैं, यदि वे अपने को राजा-बाबू ही समझते हैं, यदि वे सुखाध्यास के गोद ही में आनन्द की नींद सदा लेना चाहते हैं। तो ऐसे जिज्ञासु-साधक परमार्थ-पथ में जीवन नहीं निभा सकते और जब तक रहेंगे भी तब तक अपने और दूसरों में सड़े पान-पत्ता या सड़ी मछली की भाँति विकार ही फैलाया करेंगे। उन्हें संसार का चाकर, माया का कीड़ा और संसारियों का फुटबाल होना पड़ेगा।

अतएव यहाँ साधक-जिज्ञासुओं को सावधान हो जाना चाहिये। विवेकी सद्गुरु-सन्तों के उपदेश को अक्षरसः पालन करना चाहिये, कठोर जीवन बिताने के लिये तत्पर होना चाहिये, अपमान-निन्दा-अनादर वाला पाप पूर्ण कर्तव्य नहीं करना चाहिये। परन्तु अपमान-निन्दा-अनादर से डरना भी नहीं चाहिये। बल्कि उसे अपने कल्याण साधन में उपयोगी ही मानना चाहिये। सादा-से-सादा भोजन-वस्त्रादि निर्वाहिक वस्तु लेकर परमार्थ-जीवन निभाने का दृढ़ निश्चय करना

चाहिये। बल्कि अवसर आने पर सूखी रोटी और जल-पत्ता खा कर तथा फटी लङ्गोटी यहाँ तक कि केला का छाल पहन कर परमार्थ-पथ में सादर-सहर्ष रहेंगे। परन्तु सांसारिक वासनाओं का क्रीड़ा-कन्दुक अब नहीं बनेंगे—ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिये।

संसार में रहकर मनुष्य पेट-भोग के लिये रात-दिन शिर तोड़ परिश्रम करता है। फिर सन्त-समाज में आकर कल्याण के लिये आलस्य क्यों ? अतः अपनी श्रेणी-शक्ति अनुसार पुरुषार्थ करने में मन नहीं चुराना चाहिये। ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिये कि सद्गुरु-सन्तों की चरण-धूलि झाड़ कर परमार्थ-पथ में जीवन बितायेंगे; परन्तु स्वार्थी संसारी रूप मदारियों के हाथ का अब बन्दर नहीं बनेंगे। यदि कोई सर्वाङ्ग सम्पन्न सुन्दर नवयुवती तथा अतुल सम्पत्ति मन्दिर सुख समर्पण करे और कहे कि या तो आप इसे स्वीकार कीजिये या आप के लिये फाँसी का दण्ड दिया जायगा। तो उत्साह और प्रेम पूर्वक फाँसी को अपने गले का हार बना लेना चाहिये। परन्तु प्रमदा रूप कठिन फाँसी की ओर साधु-ब्रह्मचारी को दृष्टि उठा कर देखना तक नहीं चाहिये (ऐसे ब्रह्मचारी स्त्री को भी पुरुष की ओर दृष्टि नहीं करनी चाहिये।) अतः त्यागी को सब कष्टों को सहकर अपने भक्ति-वैराग्य और धर्म की सदैव रक्षा करना परम् कर्तव्य है। इसी

प्रकार मनुष्य मात्र को सब कठिनाई सहकर अपने-अपने धर्मों की रक्षा करनी चाहिये।

प्रश्न—स्वाध्याय किसे कहते हैं ?

स्वाध्याय कहते हैं अध्ययन करने अर्थात् पढ़ने को। बोध, वैराग्य, भक्ति, धर्म तथा सदाचरण प्रेरक सद्ग्रन्थों को पढ़ना-पढ़ाना यहाँ स्वाध्याय कहा गया है। स्वभाव का अध्ययन करना भी स्वाध्याय है। दोनों के लक्षण थोड़ा-थोड़ा आगे कहते हैं।

सद्ग्रन्थ अध्ययन—यहाँ का ऐसा भाव है कि बोध, वैराग्य, भक्ति, धर्म तथा सदाचरण प्रेरक सद्ग्रन्थों को पढ़ना (अर्थ विचारना, कण्ठस्थ करना) अध्ययन है और दूसरे को पढ़ाना अध्यापन है। परन्तु अध्ययन और अध्यापन दोनों को स्वाध्याय पद में लिया गया है।

उपयोगिता—साधकों को, कल्याण इच्छुकों को सद्ग्रन्थ सदैव पढ़ना चाहिये। सद्ग्रन्थ में सब निर्णय भरे हुए रहते हैं; अतः सद्ग्रन्थ अध्ययन करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और बोध-विचार दृढ़ होता है। मनुष्य क्रियाशील है, बिना क्रिया किये वह एक क्षण भी नहीं रह सकता। अतः वह यदि कल्याणदायी कार्य न करेगा, तो पाप वासना की क्रिया या प्रपंच क्रिया का मन, वचन और तन में अवश्य संचार होगा। इसलिये कल्याण इच्छुक को एक-न-एक शुद्ध साधन का आधार मन को सदैव देते ही रहना चाहिये।

सद्गुरु-सन्तों की सेवा-टहल-सत्संग तथा एकान्त-सेवन, स्वरूपस्थिति का अभ्यास आदि करते हुए सद्ग्रन्थ अध्ययन भी एक बहुत उत्तम साधन है। अतः कल्याण इच्छुक को सद्ग्रन्थ खूब पढ़ना चाहिये। प्रेम पूर्वक अर्थ समझने और अपने ऊपर घटाते हुए सद्ग्रन्थ पढ़ना चाहिये और सद्ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ते अपने मुख, जिह्वा, और अन्तःकरण को श्रमित कर देना चाहिये। भाव—सद्ग्रन्थ अध्ययन की मुमुक्षुओं को अधिक आवश्यकता है।

स्वभाव अध्ययन—अपने गुण-दोषों का विचार करना। कितने हमारे स्वभाव के दोष जीते जा चुके हैं और कितने अभी नहीं जीते गये हैं। जीते हुए नीच स्वभाव असावधानी वश फिर तो नहीं आ रहे हैं? जो नीच स्वभाव अभी नहीं जीते गये हैं, उन्हें जीतने के लिये हमारे मन में प्रेम, उत्साह और निश्चय होता है कि नहीं? हमारे में कितने सद्गुण आये, आये हुए सद्गुण पुरुषार्थ-हीनता से पुनः नष्ट तो नहीं हो रहे हैं। बाकी सद्गुणों को प्राप्त करने के लिये मन में भावना होती है कि नहीं? इस प्रकार विचार कर यदि नीच स्वभाव न छूटे हों और सद्गुणों की कमी हो, तो ग्लानि करके पुरुषार्थ द्वारा नीच स्वभाओं का नाश और सद्गुणों की प्राप्ति करनी चाहिये और यदि नीच स्वभाओं की कमी और सद्गुणों की अधिकता दिखे तो और उत्साह, प्रेम तथा निश्चयता पूर्वक पुरुषार्थ करके शेष रहे हुए नीच स्वभाओं का त्याग तथा कमी

सद्‌गुणों की पूर्ति करनी चाहिये। यही 'स्वभाव-अध्ययन' है।

उपयोगिता—यदि यह 'स्वभाव-अध्ययन' (अपने गुण-दोषों का निरख-परख अर्थात् परीक्षा दृष्टि) नहीं किया गया, तो अपने स्वभाव सुधार की अधिक हानि हो जायगी। निरन्तर 'स्वभाव अध्ययन' करने वाला साधक अहन्ता-ममता और राग-द्वेष से रहित हो तत्काल ही परम् शान्ति का भागी हो जाता है।

१४—शम दम विनय शील के लक्षण और विधि।

मन को रोकि रहै गुरु मारग, सब इन्द्रिन को वश्य करे।
शमदम ताहि कहत हैं गुरुसे, विनयसहित पुनिशीलधरे॥

मन को बुरे चिन्तनों से रोक करके सद्‌गुरु के कल्याण-कारी मार्ग—विवेक-विचारादि के चिन्तन में रखे और सब इन्द्रियों को बुरे तथा बन्धनदायी कर्मों से हटाकर अपने वश में करे। इसी को शम और दम कहा जाता है। पुनः सद्‌गुरु से विनय पूर्वक रहते हुए शील को धारण करे।

प्रश्न—मन को रोकना और (शम) में क्या अन्तर है?

उत्तर—कुचिन्तनों से मन को रोकना ही 'शम' है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, राग, द्वेष, विषय-वासना तथा प्रमदादि का मन में चिन्तन होते ही तुरन्त विवेक और दोष दृष्टि का अन्तःकरण में कूक भर कर उपरोक्त कुचिन्तनों को रोक देना चाहिये। यदि मन को कुचिन्तनों से न रोका

जायगा, तो भव-बन्धनों में गिर जाना सर्वथा सम्भव है। इसलिये मन को बुरे चिन्तनों से रोककर सदा विवेक-विचारादि अच्छे कार्यों में लगाये रखना चाहिये। परन्तु बिना इन्द्रियों के दमन किये मन शमन नहीं होगा। अतः उसका आगे वर्णन किया जाता है।

प्रश्न--सब इन्द्रियों को वश करना और (दम) में क्या अन्तर है ?

उत्तर—कुछ अन्तर नहीं है। कुचालों से इन्द्रियों को रोकना ही 'दम' है। इन्द्रियाँ दस हैं। पाँच कर्म-इन्द्रियाँ और पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ। हाथ, पैर, मुख (वाक्) गुदा तथा उपस्थ—ये पाँच कर्म-इन्द्रियाँ हैं और जीभ, त्वचा, नेत्र, कान और नाक—ये पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ हैं। इन दसों इन्द्रियों का दमन कैसे होता है ? इस बात को आगे पृथक्-पृथक् बतलाने का प्रयत्न किया जाता है।

पाँच कर्म-इन्द्रियाँ—

हाथ—अपने हाथ से दूसरे का धन नहीं चुराना चाहिये, घूस नहीं लेना चाहिये, हिंसा नहीं करनी चाहिये, किसी प्राणी को नहीं मारना चाहिये, लेखपाल, कर्मचारी, साक्षी (गवाह) पंच, परधान, तथा न्यायधीश आदि किसी व्यक्ति को अपने हाथ और लेखनी द्वारा जानबूझकर तथा घूस लेकर या पक्षपात से अन्याय युक्त निर्णय नहीं लिखना चाहिये।

एक का हक (धन) दूसरे के नाम से नहीं लिखना चाहिये। इस प्रकार हाथ से जहाँ तक पाप होता है, उसका त्याग करके हाथ से दान करना चाहिये; बूढ़े-बड़ों और दुखियों की तथा यथायोग्य रोगियों की सेवा करनी चाहिये। सन्त-गुरु की सेवा करनी चाहिये। अपने मुख्य व्यावहारिक कार्यों को करना चाहिये और पारमार्थिक कार्यों को करना चाहिये। यही हाथ इन्द्रिय का दमन अर्थात् वश करना है।

पैर—पैर से शक्ति चले तक किसी जीव की हिंसा न करे, बुरे स्थान पर या बुरे काम के लिये न जाय। अच्छे मार्ग पर चले, सन्त-दर्शन को जाय—यही पैर इन्द्रियको दमन करना है।

मुख (वाक्)—मुख से झूठ नहीं बोलना चाहिये, झूठी साक्षी नहीं देनी चाहिये, झूठा शपथ नहीं खाना चाहिये। करकस, टेढ़ा, मखौल, निन्दा, गाली, चुगुली अपमान, अभिमान, प्रमाद तथा कुतर्क युक्त वचन नहीं बोलना चाहिये। अनुमित-कल्पित वचन कह कर किसी को कल्पना-बन्धन नहीं देना चाहिये। रसिक तथा विषय भरी बात नहीं करनी चाहिये। विषय और भ्रम उत्पादक गाने नहीं गाना चाहिये। कल्याणार्थी को प्रापंचिक-पत्र (अखबार) संगीत, नाटक, उपन्यास तथा भ्रमिक वाणी नहीं पढ़ना चाहिये। गप-सड़ाका, प्रपंचवार्ता नहीं करनी चाहिये। प्रमादियों से, बातूनी लोगों से नहीं बोलना चाहिये। अधिक बतकट-बतबढ़ी नहीं होना

चाहिये। झूठा भ्रम, नास्तिकता नहीं फैलाना चाहिये। पाप कृत वार्ता नहीं करनी चाहिये। सत्य, मीठा, अभिमान रहित और कम बोलना चाहिये। गुरु-स्तुति, वन्दना, सन्ध्यापाठ करना चाहिये। निर्णय भजन गाना चाहिये। निर्णय-सत्संग करना चाहिये। भूले को मार्ग बतलाना चाहिये। जिज्ञासु-पात्र को शिक्षा देनी चाहिये। मुख्य शुद्ध व्यावहारिक वार्ता करनी चाहिये। सद्ग्रन्थ पढ़ना चाहिये। इस प्रकार मुख (वाक्) को पाप कर्म से और प्रपंच से हटा कर शुद्ध व्यवहार-वार्ता और धार्मिक वार्ता में लगाना ही वाक्-इन्द्रिय का दमन अर्थात् वश करना है।

गुदा—गुदा द्वार से मल और अपान वायु का त्याग होता है। इसे जल-मिट्टी से शुद्ध रखना चाहिये। अनावश्यक स्पर्श नहीं करना चाहिये। अप्राकृतिक व्यवहार नहीं करना चाहिये। यही इस इन्द्री का दमन अर्थात् वश करना है।

उपस्थ—उपस्थ इन्द्रिय द्वार से मूत्र त्याग होता है। जल-मिट्टी से इसे शुद्ध रखना चाहिये। अनावश्यक इसका स्पर्श नहीं करना चाहिये। गृहस्थ स्त्री-पुरुषों को इस इन्द्रिय को व्यभिचार से बचाना चाहिये। अपने परस्पर स्त्री-पुरुष में भी यथासम्भव आसक्ति की अधिक कमी करके महीने में ऋतु कालिक एक दिन सम्बन्ध रखना चाहिये। कल्याण इच्छुक त्यागी ब्रह्मचारी को इस इन्द्रिय का बिल्कुल दमन करना

चाहिये। दम्पति भोग से इसको सर्वथा हटा देना—इसका दमन अर्थात् वश करना है।

ज्ञान-इन्द्रियाँ—

जिह्वा—मांस नहीं खाना चाहिये। मद्य नहीं पीना चाहिये। गाँजा, भाँग, बीड़ी, सिगरेट, चण्डू-चर्स आदि नशीली वस्तु नहीं खाना-पीना चाहिये। साधक को मीठ, कड़ु, खट्टा, नमकीन, कसाय, चर्फरा आदि षट्रसों में जिह्वा को आसक्त नहीं करना चाहिये। मांस और मादक वस्तु रहित शुद्ध सात्त्विक अन्न, जल, फल, मूल, घृत-दूध, मेवा-मिष्ठानादि आसक्ति रहित योग्यतानुसार शुद्धता पूर्वक खाना चाहिये। विवेकवान् सद्गुरु-सन्तों का चरणोदक-महाप्रसाद पाना चाहिये। इस प्रकार मांस-मादक वस्तु रहित शुद्ध अन्न-जल आदि खाद्य पदार्थों को आसक्ति रहित शरीर-निर्वाह के लक्ष्य से खाना—जिह्वा इन्द्रिय को दमन करना अर्थात् वश करना है।

त्वचा—त्वचा कहते हैं चमड़ी को, कल्याण इच्छुक साधकों को त्वचा पर रेशम, मलमल और फैसन युक्त वस्त्र नहीं धारण करना चाहिये। बहुत कोमल, बहुत कीमती वस्त्र नहीं पहनना चाहिये। गद्दा, तकिया, पलङ्ग, मशहरी का अपनी त्वचा को अध्यासी नहीं बनाना चाहिये। योग्यता और समयानुसार गद्दा-पलङ्ग पर यदि सोना पड़े तो भी उसमें आसक्त नहीं होना चाहिये। कम्बल, टाट, कठोर पृथ्वी तथा

चटाई पर भी सोने का अभ्यास रखना चाहिये। त्यागी तथा ब्रह्मचारियों को जूता नहीं पहनना चाहिये। यदि रोग आदि की विवशता से न चल सके तो कुर्म या चामके जूता को न पहन कर कपड़े का पहनना चाहिये। और विवशता मिट जाने पर उसे भी त्याग देना चाहिये। काष्ट का खड़ाऊँ पहनना चाहिये। मोटा, उदासीन और साधारण वस्त्र रखना चाहिये। गृहस्थ स्त्री को पराये पुरुष का स्पर्श नहीं करना चाहिये और पुरुष को परायी स्त्री का स्पर्श नहीं करना चाहिये। बालक-कुमार-नवयुवकों का अनावश्यक या कुत्सित भावना से स्पर्श नहीं करना चाहिये और न अपने अङ्गों को अनावश्यक एवं कुत्सित भावना से दूसरे से ही स्पर्श करवाना चाहिये। त्यागी-ब्रह्मचारी को एक आसन पर दो व्यक्ति नहीं सोना चाहिये। पाँव और देह को दबवाने का व्यसनी नहीं होना चाहिये। अपनी श्रद्धा-भक्ति पुष्टि अर्थ बड़े-बूढ़े, माता-पिता एवं योग्य विवेकवान् सद्गुरु-सन्तों का चरण स्पर्श और समयानुसार उनके शरीर की सेवा करनी चाहिये। परन्तु पुरुष रूप साधु-गुरु के शरीर का स्पर्श स्त्रियों को नहीं करना चाहिये। उन्हें (स्त्रियों को) दूर से ही वन्दना-सेवा, शंका-समाधानादि करना चाहिये। विषय-त्यागी स्त्रियों को पुरुष मात्र का और त्यागी पुरुषों को स्त्री मात्र का स्पर्श नहीं करना चाहिये। इस प्रकार पाप और आसक्ति उत्पादक स्पर्श का त्याग करके मुख्य शुद्ध निर्वाहिक कार्यों या पारमार्थिक

कार्यों के लिये स्पर्श करना ही—त्वचा इन्द्रिय का दमन करना अर्थात् वश करना है।

नेत्र—आँख गुरेर करके किसी को नहीं देखना चाहिये। चोरी, बरबारी करने के लिये किसी की कोई वस्तु नहीं देखना चाहिये। गृहस्थ स्त्रियों को पराये पुरुषों को अनावश्यक नहीं देखाना चाहिये और पुरुषों को पराची स्त्रियों को नहीं देखना चाहिये। ब्रह्मचारी-त्यागियों को स्त्री मात्र को आँख गड़ा कर नहीं देखना चाहिये। यदि स्त्रियों की ओर सहजिक दृष्टि चली जाय, तो शीघ्र दृष्टि हटाकर नम्र कर लेना चाहिये। किसी के बड़े-बड़े टेढ़े-मेढ़े बाल (जुल्फी) और फैसन युक्त पहनाव को आसक्ति दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। किसी के चमड़ी की विनाशी-विकारी व्यर्थ सुन्दरता, माधुर्यता को आसक्ति दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। किसी की सुन्दर वस्तु एवं विविध भोग पदार्थों को आसक्ति दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। शहर-बाजार में अनावश्यक टहल-टहल कर रजोगुण-तमोगुण उत्पादक दृश्य नहीं देखना चाहिये। चञ्चल दृष्टि नहीं रखनी चाहिये। नाच, सिनेमा तथा नाटक आदि नहीं देखना चाहिये। अपने व्यावहारिक कार्यों को देख-देख करके करना चाहिये। मार्ग देख करके चलना चाहिये। विवेकी सद्गुरु-सन्तों का दर्शन करना चाहिये। सद्ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये। इस प्रकार पाप और आसक्ति उत्पादक दृश्यों से अपनी दृष्टि सर्वथा हटाकर शुद्ध व्यावहारिक और

पारमार्थिक कार्यों में लगाना ही नेत्र इन्द्रिय का दमन अर्थात् वश करना है।

कान—कान से गाली, निन्दा, चुगुली, झूठ, कुतर्क, करकस आदि बातों को नहीं सुनने चाहिये। राग-द्वेष प्रपञ्च की वार्ता नहीं सुननी चाहिये। भूले मन को अच्छी लगने वाली प्रमाद, हँसी और मजाक युक्त और व्यर्थ चर्चा को नहीं सुननी चाहिये। सद्गुरु-सन्तों और सद्ग्रन्थों की निन्दा नहीं सुननी चाहिये। कल्याणार्थी को देश-विदेश के उत्तेजक समाचार सुनने की इच्छा नहीं रखनी चाहिये। ग्रामोफोन, रेडियो और अखबार आदि के समाचार यथासम्भव नहीं सुनना चाहिये[1]। जड़-विज्ञान के ऐसे अफवाही वार्ता को नहीं सुनना चाहिये जिससे परलोक-पुनर्जन्म और बन्ध-मोक्ष तथा जड़ से भिन्न चेतन के अस्तित्त्व होने का विश्वास घटे और धर्म-गुरु में अप्रीति हो। आल्हा, संगीत, नाटक और फिल्म आदि के गाने नहीं सुनने चाहिये। विषयासक्ति और तामस उत्पादक गायन नहीं सुनना चाहिये। बन्धनदायी अनुमान-कल्पना की

१—शान्ति इच्छुक को रेडियो अखबार आदि द्वारा समाचार सुनने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि नाना झूठ-फुर समाचार सुनकर मन में स्फुर्णा और उत्तेजना अनावश्यक अधिक बढ़ती है और वही झूठ-फुर की प्रपञ्च वार्ता दूसरे से भी कहना पड़ता है। अतः इसका त्याग करना ही परमार्थी को उचित है।

वार्ता को नहीं सुनना चाहिये। शृङ्गार-रस की कथा, विषया-सक्ति की वार्ता नहीं सुननी चाहिये। मुख्य शुद्ध व्यावहारिक वार्तों को सुनना चाहिये। सन्तों के, सज्जनों के उपदेश कथा-वार्ता सुनने चाहिये। सन्ध्यापाठ, गुरु-स्तुति आदि सुनने चाहिये। इस प्रकार पाप, प्रपञ्च और विषयासक्ति उत्पादक शब्दों से अपने कान को सर्वथा हटा कर मुख्य व्यावहारिक और पारमार्थिक शब्दों को सुनना ही कान इन्द्रिय का दमन करना अर्थात् वश करना है।

नाक—नाक से दुर्गन्ध का ग्रहण नहीं करना चाहिये। इत्र-फुलेल तथा फूल आदि किसी भी सुगन्धित द्रव्यों की सुगन्ध में आसक्त नहीं होना चाहिये। इस प्रकार पाप और आसक्ति उत्पादक गन्ध से नाक को हटाकर केवल शुद्ध शरीर-निर्वाह के लिये नाक से गन्ध का उपयोग लेना ही नाक इन्द्रिय का दमन अर्थात् वश करना है।

इस प्रकार दसों इन्द्रियों को दमन करके मन को शमन करना चाहिये। सर्वथा कुचिन्तनों से हटा कर शुद्ध कल्याण मार्ग में लगा देना चाहिये।

प्रश्न—गुरु से विनय सहित रहते हुए पुनः शील धारण करना चाहिये—इस कथन का क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ का ऐसा भाव है कि विवेकशील परम् वैरा-ग्य सम्पन्न सद्गुरु के आज्ञाविरुद्ध कभी नहीं होना चाहिये।

उनसे कड़ापन बराबरी की भावना कभी नहीं रखनी चाहिये। सदैव उनसे शिष्य को नम्र रहना चाहिये। नम्रता पूर्वक बोलना चाहिये और नम्रता पूर्वक ही व्यवहार बर्तना चाहिये। यदि भूल हो जाय, तो क्षमा माँग कर पुनः सुधारना चाहिये। रामायण में गोस्वामी जी कहते हैं—दोहा—

सन्त कहहिं अस नीति प्रभु, श्रुति पुरान मुनि गाव।
होइ न विमल विवेक उर, गुरु सन किये दुराव॥
(रामा० बालकाण्ड ४२।)

शील—अपने समान सब प्राणियों को सुख-दुःख होते हैं- ऐसा समझ कर किसी से कड़ापन न रखना। सब से मीठा शीतल वचन बोलना और व्यवहार में भी नम्रता रखना—शील धारण करना है।

१५—सीधापन दया क्षमादि की विधि

वपु इन्द्रियाँ चतुष्ट जो अन्दर, सरल सहज स्वथीर वरे।
दीन दुखी पर द्रवित निरन्तर, क्षमा आर्जव दया धरे ९॥

अपने शरीर-इन्द्रिय और जो भीतर चतुष्टय अन्तःकरण है, इनमें स्वाभाविक सीधापन और श्रेष्ठ स्थिरता को धारण करना चाहिये। दीन-दुखियों पर सदैव करुणादृष्टि रखनी चाहिये और क्षमा, सरलता तथा दया धारण करना चाहिये।

प्रश्न—वपु, इन्द्रिय और चतुष्टय अन्तःकरण किसे कहते हैं?

उत्तर—वपु कहते हैं शरीर को; इन्द्रिय कहते हैं हाथ, पैर, मुख, गुदा और उपस्थ—ये पाँच कर्म करने के साधन को और जिह्वा, त्वचा, नाक, कान तथा नेत्र—ये पाँच ज्ञान करने के साधन को। चतुष्टय अन्तःकरण कहते हैं मन, बुद्धि, चित और अहंकार इन चार भीतरी ज्ञान-निर्णय करने के साधन को।

संसार में पाँच जड़ विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इन पाँचों विषयों का ज्ञान करने के लिये पाँच करण अर्थात् साधन-इन्द्रिय हैं—कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण (नाक)। ये ही बाह्यकरण माने जाते हैं। अर्थात् शब्दादिक बाह्य विषयों का जिस द्वारा ज्ञान किया जाय, उन श्रोत्रादिक पाँच ज्ञान-इन्द्रियों का नाम है—बाह्यकरण[१] और सुख-दुःख हानि-लाभादि भीतरी जो अनेक वासनायें हैं, इनका ज्ञान करने के लिये अन्तःकरण[२] है। अन्तः का अर्थ होता है भीतर और करण का अर्थ होता है साधन (इन्द्रिय)। तात्पर्य—भीतरी वासनाओं का जिससे ज्ञान किया जाय उस साधन का नाम है—अन्तःकरण।

अन्तःकरण के चार रूप माने गये हैं—मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार। किसी बात को सुनकर अथवा देख तथा भोग करके टिकी हुई वासनाओं का स्मरण करके उसे सोचने

१-२—चौ०-बहिर प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिन का।
अन्तर ज्ञान है बुद्धि आदिक का॥ ज० चे०

लगना यही—मनन है, यह मन का धर्म माना जाता है। पुनः उसी विषय पर अधिक लक्ष्य देकर सोचना—यह क्या है, कैसे है, किस भाँति होना चाहिये ? इत्यादि यही—चिन्तन है, यह चित्त का धर्म माना गया है। पुनः उन्हीं तर्क पूर्ण चिन्तनों का निर्णय कर देना—यह बात ऐसी है, इसको ऐसा होना चाहिये, यह सत्य है, यह असत्य है, ऐसा करना चाहिये, इत्यादि यही—निश्चय है। यह बुद्धि का धर्म माना गया है। पुनः उसी निश्चित निर्णय पर अपना सिद्धान्त पक्का मान लेना और तदनुसार कार्यारम्भ कर देना—करतूति है, यह अहंकार का धर्म माना गया है अतएव ये मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार एक अन्तःकरण के चार वृत्ति विशेष हैं। अर्थात् मनन, चिन्तन निश्चय और करतूति—इन चार कर्मों के भेद से कार्य-अवस्थानुसार अन्तःकरण के चार रूप मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार माने गये हैं।

अन्तःकरण के इन चार रूपों को समझने का सरल उदाहरण ऐसा है कि जैसे कोई मनुष्य अपनी खोई हुई गाय को खोजने गया। कुछ आड़ से आहट आयी और वह सोचने लगा 'यहाँ कोई पशु है' यही मनन है और मन का धर्म है। आगे बढ़ा तो देखा कोई पशु है, परन्तु गाय है कि घोड़ा—इसका निश्चय नहीं हो पाया। अतः 'गाय है कि घोड़ा' तर्क युक्त यही सोचते चला, यही चिन्तन है, यह चित्त का धर्म है। इतने में गाय स्पष्ट दिखलाई पड़ी और सोचने लगा कि

यह 'घोड़ा नहीं गाय है' यही निश्चय है, यह बुद्धि का धर्म है। आगे बढ़ा, तो पूरा पहचान लिया कि हमारी गाय है, अतः 'मेरी गाय है' मान लिया और पकड़ लिया, यही करतूति है और अहंकार का धर्म है। इस प्रकार एक ही अन्तःकरण के ये चार रूप या वृत्तियाँ हैं।

प्रश्न—शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण में स्वाभाविक सीधापन और श्रेष्ठ स्थिरता, धारण करना क्या है ?

उत्तर—यहाँ का भाव ऐसा है कि शरीर और इन्द्रियों का अभिमान धारण करके ऐंठते और अकड़ते हुए नहीं चलना चाहिये। अपने शरीर-इन्द्रियों से दूसरे को दबाने-सताने का कर्तव्य नहीं धारण करना चाहिये। शरीर-इन्द्रियों को जड़ परिवर्तनशील क्षणभंगुर, दुखःपूर्ण और अपवित्र समझ कर नम्रता पूर्वक चलना चाहिये। सब से नम्र रहना चाहिये। दूसरे को लाल-लाल आँखें या उँगली नहीं दिखानी चाहिये। ये सब एक दिन सड़-गल या जल-बल जायँगी। अतः सदैव शरीर-इन्द्रियों में सरलपन रखना चाहिये। अन्तःकरण में भी अंहकार कठोरपन, ईर्ष्या, कपट-छल, भेद, राग-द्वेष, क्रोधादि नहीं रखने चाहिये। अन्तःकरण में निर्मानता-समता निष्कपटता तथा शीतलता आदि धारण करना चाहिये।

उपर्युक्त शरीर-इन्द्रिय और अन्तःकरण के सीधापन को सहज रूप अर्थात् स्वाभाविक धारण करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि कोई दुःख आ पड़ने पर या आवश्यकता वश मनुष्य

का जो सीधा बनना होता है, वह सदा नहीं रहता। दुःख मिट जानेपर या आवश्यकता पूर्ण हो जाने पर पुनः वह टेढ़ा हो जाता है। अतः आवश्यकता वश सीधा बनने से कल्याण नहीं होता। बल्कि सदाकाल स्वाभाविक शरीर-इन्द्रिय और अन्तःकरण में सीधापन रखने से कल्याण होता है।

जहाँ बैठे वहाँ हाथ-पैर हिलाते रहना, शिर-कमर टेढ़ा-मेढ़ा करते रहना, हाथ-पैर की उँगुलियों से पृथ्वी खोदते रहना, हाथ से तृण (तिनका) तोड़ते रहना, दाँत से उँगुली या कलम काटते रहना, दाँत से नाखून काटना, पाप, आसक्ति और मोह उत्पादक वस्तुओं को चंचल दृष्टि से बारम्बार देखते रहना, प्रपंच वार्ता, गप-सड़ाका, बिना शिर-पैर की बातें हाँकते रहना, इत्यादि शरीर और इन्द्रियों की चञ्चलता है। और बिना शिर-पैर की बातें सोचना, मनगढ़न्त कल्पना गढ़ते रहना, मनोराज्य करना—मन की चञ्चलता है। इन सब व्यर्थ क्रिया-चेष्टाओं को त्याग कर मन, वचन और इन्द्रियों को यथायोग्य शुद्ध व्यवहार या सात्त्विक कार्यों में लगाना—शरीर-इन्द्रिय और अन्तःकरण में श्रेष्ठ स्थिरता धारण करना है।

प्रश्न—दीन-दुखियों पर द्रवित रहना क्या है ?

उत्तर—शरीर से, बल से, धन से, कुटुम्ब से, विद्या-बुद्धि पुरुषार्थ से, ज्ञान से या किसी प्रकार भी जो प्राणी हीन और दुखी हैं। उनके प्रति सदैव अपने मन से हित की भाव-

ना रखना, यथायोग्य और यथाशक्ति उसको सहायता प्रदान करना—यही दीनदुखियों पर सदैव द्रवित रहना है।

प्रश्न—क्षमा, आर्जव और दया किसे कहते हैं?

उत्तर—अपने ऊपर आघात करने वाले या अपराध करने वाले से किसी प्रकार किञ्चित् भी बदला न लेना, न मन में उसके प्रति वैर ही रखना। बल्कि हृदय में उसके प्रति भला ही चाहना—क्षमा है।

शरीर-इन्द्रिय और अन्तःकरण के सीधापन को 'आर्जव' कहते हैं। जिसका विस्तार पीछे कर आये हैं।

मनुष्य, पिण्डज, अण्डज और उष्मज-इन चार खानियों के किन्हीं भी प्राणियों को जान-बूझ कर एवं शक्ति चले तक तनिक भी दुःख न देना, न दुःख देने की मन में भावना ही होनी तथा उनके दुःखों पर पिघल जाना—दया है। इन सबों को धारण करना चाहिये।

१६--गुरुग्रन्थ में प्रेम, जड़-चेतन निर्णय पुनर्जन्म की सिद्धि।

सद्गुरु वो सद्ग्रन्थ में निशिदिन प्रेम सहित परतीत करे।
जड़ चेतन को करै विवेचन पृथक पृथक सद्ज्ञान सरे॥

विवेकी सद्गुरु देव में और उनके निर्णीत सद्ग्रन्थों में सदैव विश्वास के सहित प्रेम रखे। जड़-चेतन का विवेक करके जड़ को पृथक् और चेतन को पृथक् समझ करके सच्चा ज्ञान प्राप्त करे॥

प्रश्न—सद्गुरु और सद्ग्रन्थ में सदैव विश्वास के सहित

प्रेम रखना क्या है? उत्तर—पारखीसद्गुरु और पारख निर्णीत वचनों से हमारा अवश्य कल्याण है, ऐसा दृढ़ भरोसा करके उनमें अटल श्रद्धा रखना ही—सद्गुरु और सद्ग्रन्थ में विश्वास सहित प्रेम रखना है।

प्रश्न—जड़-चेतन का पृथक् ज्ञान क्या है?

उत्तर—जड़ से चेतन जीव सर्वथा पृथक् हैं और चैतन्य जीवों से जड़ तत्त्व सर्वथा पृथक् हैं। जड़ में कारण रूप से चार तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, तेज और वायु। पृथ्वी का कारण-समूह भूमण्डल है, जल का कारण-समूह समुद्र है, अग्नि का कारण-समूह सूर्य है और वायु का कारण-समूह वातावरण (वायु मण्डल) है। घर, घड़ा, यन्त्र, वृक्ष, वनस्पति, पर्वत, चार खानियों की देहें, बादल, बर्फ; नदी, तालाब, धूआँ; गैस, चिराग तथा आँधी-बौंड़र आदि ये सब चार तत्त्वों के कार्य-पदार्थ हैं, स्वाभाविक जड़ हैं।

मनुष्य, पिण्डज, अण्डज तथा उष्मज इन चार खानियों के शरीरों में कर्म-वश अनादिकाल से रमने वाले अगणित चेतन जीव जड़ से सर्वथा भिन्न ज्ञान मात्र अविनाशी अनादि स्वतः हैं। न जड़ का लक्षण चेतन में है और न चेतन का लक्षण जड़ में है। यहाँ तक कि चार जड़-तत्त्व पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु स्वभाव से सब जड़ होते हुए और परस्पर चारों तत्त्वों में मिलाप होते हुए भी एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व सर्वथा विलक्षण हैं। पृथ्वी से जल, जल से अग्नि, वायु से

पृथ्वी इत्यादि सब तत्त्व परस्पर चारों से विलक्षण हैं। इसलिये कोई तत्त्व से कोई तत्त्व नहीं उत्पन्न हुए हैं। यदि एक तत्त्व से अन्य तत्त्व की उत्पत्ति माने तो उचित नहीं होता है। मान लीजिये यदि वायु से जल तत्त्व की उत्पत्ति हुई होती, तो जल वायु रूप रहता। यदि पृथ्वी से अग्नि उत्पन्न होती, तो अग्नि पृथ्वी रूप रहती। जैसे पृथ्वी से उत्पन्न हुए घड़ा, काष्ट, पत्थर आदि पृथ्वी रूप हैं। जल से उत्पन्न तरंग, फेन आदि जल रूप हैं इत्यादि। अतः पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु—ये चारों तत्त्व किसी से कोई उत्पन्न न होकर चारों भिन्न-भिन्न स्वतः अकारण जगत्-कार्यों के कारण रूप अनादि से विद्यमान हैं।

इसीप्रकार अगणित चेतन किसी से उत्पन्न न होकर स्वतः अनादि सद्वस्तु हैं। यदि कोई नास्तिक जड़वादी पृथ्वी आदि तत्त्वों से चेतन जीवों की उत्पत्ति माने तो उचित नहीं। क्योंकि यदि पृथ्वी आदि जड़ तत्त्वों का कार्य चेतन जीव होवे तो चेतन को भी जड़ होना चाहिये। बल्कि चेतनत्व गुण ही नहीं आना चाहिये। क्योंकि मूल जड़ तत्त्वों में चेतन-धर्म न होने से जड़ तत्त्वों के कार्यों में चेतनत्व कहाँ से आजायगा? कोई कहते हैं कि जैसे पृथ्वी आदि तत्त्वों के संयोग से बने हुए कार्य पदार्थों में अनेक रंग उत्पन्न हो जाते हैं या दो रंग मिला देने से तीसरा रंग हो जाता है। इसी प्रकार तत्त्वों के संयोग रूप देह में चेतनत्व गुण आ जाता है। तो यह प्रमाण भी अयुक्त है। क्योंकि दो रंग मिलाने से या तत्त्वों

के संयोग से चाहे कितने भी रंग उत्पन्न हों, वे सब रंग जड़ ही रहेंगे। मूल तत्त्वों में प्रथम रंग थे, इसीलिये उनके संयोग में और रंग बन गये। कारण तत्त्वों से बने जितने जड़ कार्य पदार्थ हैं, कितने भी विलक्षण हो जायँ, वे जड़-के-जड़ ही रहेंगे। उनमें चेतनपना नहीं आ सकती। कितने ही जड़ कार्य-पदार्थ रंग-विरंगे या विलक्षण बनेंगे, परन्तु उनमें कठोर, कोमल, शीत एवं उष्ण—ये चार जड़-धर्म और शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—ये पाँच जड़-गुण ही रहेंगे। उनमें ज्ञान-धर्म और ज्ञान-गुण कभी नहीं आ सकते। जैसे जड़ तत्त्व अपने-अपने क्षेत्र में अनादि और सत्य हैं, तैसे अगणित चेतन जीव अपने-अपने स्वरूप से अनादि और सत्य हैं। अनादि और सत्य वस्तु के अन्य कारण और कर्ता नहीं होते, नाशवान् वस्तु के ही अन्य कारण-कर्ता होते हैं। जड़-चेतन दो वस्तु अत्यन्त प्रसिद्ध अनादि से विद्यमान हैं, दोनों स्वतन्त्र हैं। न जड़ से चेतन उत्पन्न हुए और न चेतन से जड़ उत्पन्न हुए। चेतन देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण साधन द्वारा द्रष्टा है, जड़ तत्त्व दृश्य हैं। फिर द्रष्टा और दृश्य दोनों एक या एक का एक कारण-कार्य रूप कैसे हो सकते हैं?

(१) थोड़ा-सा विचार करने से यह पता चल जायगा कि इन चार खानियों के जड़ देहों में कोई स्वतन्त्र चैतन्य शक्ति अवश्य है कि जिसके द्वारा इस जड़ शरीर का संचालन होता है। उस चेतन के निकल जाने पर यह शरीर कुछ नहीं कर

सकता। जो चेतन जीव उत्पति-प्रलय रहित अनादि सद्वस्तु है, वह चेतन आजके देह त्यागने के पश्चात् क्या लोप हो जायगा? कदापि नहीं। यदि कर्म-वश रहेगा तो अवश्य दूसरा शरीर धारण करेगा और यदि मनुष्य शरीर में बोध-वैराग्य द्वारा कर्म नष्ट कर देगा, तो सदा के लिये अचल स्वरूप में स्थित हो जायगा।

(२) जड़-चेतन दो वस्तु संसार में अनादि से अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, अपने-अपने स्वरूप से दोनों अनादि भिन्न-भिन्न सत्य हैं।

(३) जब जड़ तत्त्वों के परमाणुओं का नाश नहीं होता, तब चैतन्य जीवों का नाश क्यों होगा? अर्थात् नहीं होगा।

(४) बच्चा का जन्मते ही दूध पीना, धमकाने से भय-भीत होना, गीले वस्त्रों में रहने से रोना और सूखे वस्त्रों में सुलाने से आनन्दित होना, तेल-उबटन के समय इन्द्रिय का जाग्रत होना, माता में ममता रखना, नींद लेना—ये छः पशु-कर्म अबोध बच्चे को कौन सिखाता है? पशुओं के बच्चे को पानी में तैरना कौन सिखाता है? पक्षियों के बच्चों को उड़ना कौन सिखाता है? अर्थात् कोई नहीं। मात्र पूर्व जन्मों के संस्कार से जन्मते ही जीव कर्म करने लगते हैं। अतः चेतन जीव अनादि हैं।

(५) मिठऊ आम के पेड़ में सब फल मीठे होते हैं, खटऊ आम के पेड़ में सब फल खट्टे होते हैं। इसी प्रकार एक

माता-पिता से कई पुत्र-पुत्री उत्पन्न होते, परन्तु सब का कर्म-संस्कार-गुण एक-सा नहीं रहता। कोई सत्संगी सात्वकी निकलता, कोई मांसाहारी तामसी निकलता, कोई व्यभिचारी निकलता इत्यादि। अतः जीव पूर्व-पूर्व नर जन्मों के संस्कार वश भिन्न-भिन्न गुण वाले होते हैं। इससे जीव नित्य सिद्ध हैं।

(६) संसार में कोई धनी है, कोई निर्धनी, कोई सर्वाङ्ग सम्पन्न है, कोई अंग हीन, कोई बुद्धिमान् है, कोई निर्बुद्धि। इसका कारण प्रथम नर-जन्मों के पाप पुण्य संस्काराधीन आज सुख-दुःख,बुद्धि-निर्बुद्धि आदि की प्राप्ति है। अतः जीव नित्य है।

(७) बाल्यपन से जवानी और वृद्धपन तक शरीर में बहुत परिवर्तन हो जाता है। परन्तु जीव वही वैसे ही रहता है। तीनोंपन तीनों अवस्थाओं में जीव एक-सा है। तैसे इस जन्म के प्रथम भी था और आज भी है तथा आगे भी रहेगा। अतः जीव नित्य है।

(८) सत्य-असत्य का निर्णय करने वाला जड़ है कि चेतन ? जड़ कुछ जान नहीं सकता। फिर निर्णय क्या करेगा ? अतः चेतन ही निर्णय करने वाला है। फिर सब का निर्णयता चेतन ही असत्य है—ऐसा कहना वैसे है, जैसे कोई कहे 'हमारे मुख में जीभ नहीं है।' बिना जीभ के 'हमारे मुख में जीभ नहीं है।' ऐसा कहेगा कैसे ? इसी प्रकार बिना सत्य चेतन के सत्य-असत्य का निर्णय कौन करेगा ? अतः जीव नित्य सत्य है।

(९) जो कहता है कि चेतन कुछ नहीं है या असत्य है। वह कहने वाला कौन है ? मिट्टी, जल, अग्नि, वायु और शून्य कुछ कह नहीं सकते, जड़ शरीर कुछ कह नहीं सकता। फिर चेतन को असत्य कहने वाला कौन है ? उलट करके देखे वह कहने वाला ही चेतन है। वह अपने पाँव में कुल्हाड़ी मारने वत् अपने अस्तित्त्व को भूल रहा है।

(१०) मैं जड़ तत्त्वों को जानता हूँ, पिण्ड-ब्रह्माण्ड को जानता हूँ, मेरी देह, मेरा मन, मेरी बुद्धि तथा मेरी वस्तु इत्यादि मेरी-मेरी कहने वाला और सबको जानने वाला वह कौन है ? सब भासों को हटा कर शेष रहा हुआ वही अविनाशी चेतन है।

(११) अपनी सत्ता का हरक्षण सब को आभास होने से भी जीव नित्य-सत्य सिद्ध होते हैं।

(१२) वैज्ञानिकों का मत है कि मनुष्य शरीर के सब परमाणु सात वर्ष में बिल्कुल बदल जाते हैं। इस न्याय से यदि शरीर ही जीव होता, तो सात वर्ष के पूर्व की घटनाओं का स्मरण न होता। क्योंकि सात वर्ष के पूर्व के कोई भी परमाणु आज शरीर में नहीं हैं। इसलिये देह से भिन्न जीव नित्य है।

(१३) सात वर्ष में मनुष्य शरीर के सब परमाणु बदल जाते हैं। इस न्याय से सौ वर्ष के आयु वाले मनुष्य के शरीर का चौदह बार बिल्कुल परिवर्तन हो गया है। परन्तु तो भी (बालपन को छोड़कर) लगभग सौ वर्ष के भीतर की मुख्य-

मुख्य घटनाओं का स्मरण उसे होता है। अतएव जैसे चौदह बार शरीर बदल जाने पर वही ज्ञाता जीव है। तैसे अनन्तों बार शरीर धरते-छोड़ते हुए भी वही अविनाशी जीव रहता है।

प्रश्न—यह जीव नित्य है, फिर पूर्व-पूर्व जन्मों का हाल क्यों नहीं जानता ?

उत्तर—पूर्वजन्म का रहने दीजिये। आप इसी जन्म के सब घटित-घटनाओं को नहीं बता सकते हैं। अच्छा बतलाइये ! "इस आप के वर्तमान शरीर का जब जन्म हुआ था, उस समय कितनी स्त्रियाँ वहाँ थीं ? आप एक वर्ष के जब थे, तब कौन-कौन सी घटनायें आप के जीवन में घटी थीं ?' और उसे भी रहने दीजिये। 'आज से एक सप्ताह प्रथम रविवार को सात बज कर १३ मिनट प्रातःकाल में किस ओर मुख करके आप बैठे, खड़े या लेटे थे। आप क्या सोच रहे थे ?' ज्यों-का-त्यों आप यही नहीं बता सकते हैं, तो क्या आप जन्म-समय या एक वर्ष की शिशु अवस्था में तथा एक सप्ताह पूर्व रविवार ७ बज कर १३ मिनट में प्रातःकाल नहीं थे ? शून्य थे ? थे तो अवश्य, आप के ही साक्षित्व में तब का भी वर्तमान था। फिर क्यों तब के स्मरणों को भूल गये ? तात्पर्य यह है कि शरीर (इन्द्रिय) मन से बाह्य पदार्थों को देख, सुन, भोग और मनन करके स्मरण टिकते हैं। सो शरीर और मन दोनों परिवर्तन रूप हैं। इसलिये बातें भूल जाती हैं और पूर्वजन्म का जब आज शरीर ही नहीं है, तब पूर्वजन्म

का स्मरण आज कैसे रह सकता है ? जीव के शुद्ध स्वरूप में जड़-जगत् नहीं है। इसलिये जगत्-स्मरणों का भूल जाना स्वाभाविक है। हाँ ! स्मरण रूप से नहीं, परन्तु बीज रूप से पूर्वजन्मों के संस्कार उत्तरोत्तर जन्मों में जीवों के अन्तःकरण में उदय हुआ करते हैं। जैसे भोजन, छाजन, भय, निद्रा, मैथुन और मोह। अतएव जड़ से भिन्न अगणित चेतन जीव अविनाशी अखण्ड हैं—इस बात को सत्संग, सद्ग्रन्थ और युक्ति प्रमाणों द्वारा भलीभाँति निश्चय कर लेना चाहिये।

इन प्रत्यक्ष प्रमाणों से चेतन जीवों की अनादिता सिद्ध हो जाती है। फिर अनादि चेतन जीव किसी कारण-कर्ता का कार्य-अंश-टुकड़ा कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। अतएव जड़-चेतन दोनों अनादि भिन्न सद्वस्तु हैं। यही जड़-चेतन का भिन्न ज्ञान है।

१७--श्रद्धा विवेक वैराग्य के लक्षण तथा विधि।

श्रद्धा और विवेक के लक्षण, ग्रहण करै सुख होय चरे।
विषयभोग के राग तजैसब, लहि वैराग्य सो रागजरे१०

श्रद्धा और विवेक के लक्षण को ग्रहण करके सुख पूर्वक विचरे। विषय भोग के सब राग तज देवे, वैराग्य को धारण करने से सब राग जल जायँगे ॥ १० ॥

प्रश्न—श्रद्धा और विवेक के क्या लक्षण हैं और इनको धारण करके सुख पूर्वक विचरना क्या है ?

उत्तर—श्रद्धा कहते हैं प्रेम, आदर तथा सम्मान करने को, यहाँ का ऐसा अभिप्राय है कि विवेकी सद्गुरु-सन्तों में, गुरुमुख निर्णीत सद्ग्रन्थों में, सद्गुणों में, साधनों में तथा स्वरूप-स्थिति आदि में प्रेम रखना—श्रद्धा के लक्षण हैं।

(मैं कौन हूँ, जगत् क्या है, जगत् का कारण क्या है, मेरा और जगत् का सम्बन्ध कैसा है, छूटेगा कैसे, बन्धन छूटने के पश्चात् जीव की स्थिति क्या है ? इत्यादि तर्क पूर्ण भावनाओं का मन में उठना—विचार है।)

मैं चैतन्य पारख हूँ, जगत् जड़-चैतन्य मय है, जगत् अकारण स्वतः अनादि है, अनादि पृथ्वी आदि जड़-तत्त्वों में षट्-भेद होने से तथा अगणित चैतन्य वासना वश होने से जड़-चैतन्यात्मक जगत् की सृष्टि है, मेरा और जगत्-शरीर का सम्बन्ध अध्यास मात्र है, मनुष्य शरीर में पारखी गुरु द्वारा स्वरूपबोध प्राप्त होने पर बोध-वैराग्य के पुरुषार्थ से क्रियमाण कर्म रुक कर संचित कर्मों का समूल नाश हो जाता है और बोधनिष्ठा पूर्वक जीवन पर्यन्त चलते रहने से प्रारब्धान्त में जीव विदेह मुक्त हो जाता है। तब जड़-सम्बन्ध छूट जाता है। विदेह मुक्ति में जड़-सम्बन्ध से सर्वथा रहित तथा दुःखों से अत्यंत निवृत्ति, नित्य शान्ति की प्राप्ति और चैतन्त मात्र स्वरूप में ही सदैव के लिये ठहर जाना—मुक्ति में जीव की स्थिति है, इत्यादि भावनाओं का उत्पन्नहोना ही-विवेक के लक्षण हैं।

साखी—निर्णय सत्यासत्य को, साधन कहत विवेक।
　　गहे ताहि कल्याण हो, छूटे सब अविवेक॥ मुक्ति०

शरीर जड़ है, अपवित्र है, क्षणभंगुर है, दुःखरूप है, असत्य है। यह पिण्ड से ब्रह्माण्ड तक दिखता हुआ दृश्य प्रपंच मेरे शुद्ध चैतन्य पारख स्वरूप में नहीं है और न मैं ही जड़-तत्त्वों के सरूप में अभिन्न हूँ। अर्थात् मैं जड़ से सर्वथा भिन्न हूँ। केवल देह-इन्द्रिय रूप साधन से मुझे जगत्-भास होता है। अन्यथा यह जड़-जगत्, (जगत् के सरूप में) प्रवाह रूप अनादि होते हुए भी मुझ शुद्ध चैतन्य के लिये नहीं के तुल्य है। जितने पञ्च विषय और भास, अध्यास, अनुमान, कल्पना तथा मनन-चिन्तन हैं—ये एक भी मेरे स्वरूप में नहीं हैं। मैं शुद्ध हूँ, शान्त हूँ, ज्ञान-मात्र, अजर, अमर, और अखण्ड हूँ, पारख रूप हूँ, मात्र चेतन-ही-चेतन हूँ। इत्यादि भावनाओं का हृदय में उठना-विवेक के लक्षण हैं।

इन उच्च भावों को धारण करके काम-क्रोध, लोभ, मोह, भय, चिन्ता तथा शोकादि रूप कष्टों से रहित होकर स्वस्व-रूप में स्थिति पूर्वक जीवन व्यतीत करना ही—श्रद्धा और विवेक के लक्षणों को धारण करके सुख पूर्वक विचरना है।

प्रश्न—विषय भोग के राग का कैसे त्याग हो ?

उत्तर—इसका साधन इसी पंक्ति के अगले चरण में आया है 'लहि वैराग्य सो राग जरे।' अर्थात् वैराग्य के धारण करने से विषय भोग के राग जल जायँगे। ऊपर जो विवेक

के लक्षण आये हैं, उनके पूर्ण धारण हो जाने पर सांसारिक भोगों की दुःखरूपता, क्षणभंगुरता तथा अनावश्यकता का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। तब संसार के समस्त भोगों में दुःख-ही-दुख प्रतीत होते हैं। यह भोगों में दृढ़ दोष और दुःख की दृष्टि ही—वैराग्य है। इसको धारण करने से सब विषय भोगों के राग नष्ट हो जाते हैं।

१८--एकान्त वास और असंग्रह के लक्षण तथा विधि।

निर्जन जाय निवास करै जहँ, रहै उपाधि नहीं निज का।
संग्रह रहित रहै निशिवासर, अहै अपरिग्रह निज हित का।

प्राणियों के संग और द्वन्द्व से रहित एकान्त स्थल में जाकर निवास करे, जहाँ पर कोई बाहरी उपद्रव अपने को न सतावें। धन-संग्रह से सदैव रहित रहे, यह अपरिग्रह गुण साधक का कल्याणकारी है।

प्रश्न—निर्जन पद का क्या अर्थ है और निर्जन में किसको तथा किसलिये निवास करने को कहा गया है?

उत्तर—'निर' कहते हैं नहीं को, 'जन' कहते हैं प्राणी को अर्थात् जहाँ प्राणी न हों या प्राणियों की भीड़ न हो, द्वन्द्व न हो—वह निर्जन है। ऐसा निर्जन अर्थात् एकान्त नदी-तट, पर्वत, वन, बाग तथा शून्य-शदन आदि स्थलों में होना अधिक गुणकारी है। ऐसे निर्जन स्थल में कल्याण के साधकों और विवेकियों को समय-समय से रहने के लिये

कहा गया है। साधकों को निर्जन स्थल में रहने के लिये इसलिये कहा गया है कि वे सद्साधन द्वारा मन-इन्द्रियों को दमन करें, अपने स्वभाव का निरख-परख करें, स्वरूपस्थिति का अभ्यास करें, इत्यादि और स्थिति को प्राप्त हुए परम् विवेकियों के लिये तो एकान्त-सेवन स्वाभाविक-सा हो जाता है। क्योंकि उन्हें निष्प्रपंच शान्त जीवन ही प्रिय लगता है।

एकान्त में निवास करके स्वरूप स्थिति का अभ्यास करना चाहिये। वन, बाग, श्मशान, नदीतट, शून्य शदन एवं किसी भी एकान्त स्थल में आसनी बिछाकर दृढ़ता पूर्वक किसी एक आसन से बैठ जाना चाहिये। फिर अपने चित्त को बाह्य चिन्तनों से निर्विक्षेप कर लेना चाहिये। तत्पश्चात् दृश्य वर्ग से अपने को इस प्रकार पृथक् अनुभव करना चाहिये—

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु। भूमण्डल, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र। पर्वत, समुद्र, नदी, वन। शहर, बाजार, ग्राम। नाना कला-कौशल, देश-विदेश। मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि-कीटादि नाना प्राणियों एवं पाँचों विषयों का दृश्य मुझसे भिन्न है। ये सब दृश्य हैं, मैं द्रष्टा हूँ। इन सबों से मेरा किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध-प्रयोजन नहीं है। अपना माना हुआ यह गन्दा शरीर एवं इन्द्रियाँ, मठ, मन्दिर, सेज, वाहन, शिष्य, सेवक, मान-बड़ाई, पूज्यता, स्वामित्व—इन सभी दृश्यों का मैं द्रष्टा, इन सबों से सर्वथा पृथक् हूँ। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, मद, कपट, राग, द्वेष, ईर्ष्या, आशा, तृष्णादि जहाँ तक वासनायें

उठती हैं, मेरे से भिन्न, दुःखरूप एवं वेदनाप्रद हैं। शुभाशुभ वासनाओं से रहित ही अपना वास्तविक, पूर्ण, अनन्त जीवन है, जो काल से सीमित नहीं, जहाँ दुःख-सुख का प्रश्न नहीं। इस प्रकार स्थूल-सूक्ष्म एवं शुभाशुभ सर्व वासनाओं का सर्वथा अभाव कर देवे। मैं पारख रूप, शुद्ध चैतन्य पूर्णकाम एवं अनन्त शान्त स्वरूप हूँ—ऐसा भाव रखकर उठी हुई सभी वासनाओं का द्रष्टा बन कर अभाव करता जाय। अपनी ओर से वासनाओं को न उठावे, यदि स्वाभाविक उठें, तो उनका द्रष्टा बन जाय। अभाव करने की दृष्टि से वासनाओं को देखने से वासनायें स्वयं निर्मूल हो जाया करेंगी। कोई वासना उठने पर पूर्ण परीक्षा हुई कि यह वासना है, बस वह तुरन्त नष्ट हो जायगी। कोई वासना उठने पर उनमें मिले नहीं, बस उन्हें भिन्न देखता रहे, वे नाश होती रहेंगी। इस प्रकार देखते-देखते देखने की जब दृष्टि बन जाती है, तब वासनायें शीघ्र-शीघ्र पकड़ने में आ जाती हैं और अन्ततः वासनाओं का उठना बन्द हो जाता है। इस प्रकार स्मरणों का जब पूर्ण अभाव हो जाता है तब उस समय मैं शुद्ध चैतन्य हूँ, इत्यादि—यह भी चिन्तन नहीं किया जाता। वहाँ शुभ-अशुभ, अपने-पराये इत्यादि किसी का चिन्तन नहीं होता। इस प्रकार सभी वासनाओं संकल्पों के अन्त हो जाने पर जो शेष बच रहता है—वही अपना स्वरूप है। तात्पर्य यह कि जब कोई चिन्तन नहीं रहता, तब शेष द्रष्टा (चेतन) मात्र रहता है।

स्थिति अभ्यास का यह अन्तिम पद है।

मोक्ष साधन के अभ्यास में यह अभ्यास सबसे सूक्ष्म और दुर्गम है, परन्तु उत्साह पूर्वक निरन्तर करते रहने से सर्वथा सरल हो जाता है। जो दो-चार दिन साधन करके सफलता न मिलने पर घबराकर साधन छोड़ दिये, वे क्या अभ्यास करेंगे? सफलता न मिलने पर भी उत्साह पूर्वक निरन्तर करता जाय। असली अभ्यास न होने पर नकली ही होने दे, कोई अकाज नहीं। आधा घण्टा में यदि ५० बार भूल हो, तो ५१ बार चेत करे। यह निश्चय बना ले कि एक घण्टा में यदि मन १००० बार भूलेगा, तो मैं १००१ बार चेत करके संकल्पों का नाश करूँगा।

जिस समय वासनाओं का अधिक जोर हो, उस समय यह अभ्यास न करे। क्योंकि उस समय चित्त नहीं ठहरता, व्यर्थ में मन विकारी होता है और अन्य साधन का अकाज होता है। अतः उस समय सद्ग्रन्थ अध्ययन, वैराग्य दर्शक शब्दों का पाठ करे, वैराग्यवान् पुरुषों का ध्यान करे तथा श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा, सत्संग एवं स्थूल सत्पुरुषार्थ में मन को लगा दे। फिर वासनाओं का जोर मिट जायगा। यदि अपने में वैराग्य-अभ्यास का बल अधिक है, तो वासनाओं के जोर-काल में भी उन्हें मिटाकर स्वरूपस्थिति का अभ्यास किया जा सकता है।

स्वरूपस्थिति-अभ्यास के लिये-ब्रह्मचर्य का अखण्ड पालन

हो, विषय की ओर कोई आकर्षण न हो । जहाँ तक बन सके जगत्-व्यवहार की प्रवृत्ति का अधिक अभाव हो । किसी से राग-द्वेष, उखाड़-पछाड़ न हो । संसारी प्राणियों से अधिक मिलने-जुलने की इच्छा न हो । मनःकल्पित भोगों का सर्वथा त्याग हो, निर्वाह में सन्तोष हो । भोजन सादा और स्वल्प हो । सब सात्विक आचार-विचार हों । नींद मध्यवर्तीय हो। उचित मर्यादा, कर्तव्य एवं व्यवहार का पालन हो । एकङ्गी-पन न हो । चञ्चलता, शीघ्र सफलता न मिलने पर घबराहट न हो । पारख स्वरूप का यथार्थ बोध हो । वैराग्य भाव प्रबल हो । शरीर-संसार में दोष-दर्शन हो । कुसंग का अभाव हो । समय-समय स्थिति-मर्मी सन्तों से परामर्श हो या स्वयं योग्यता हो । वाक्य संयम हो । एकान्त-सेवन हो । स्वरूप-स्थिति करना ही जीवन का मुख्य ध्येय हो । उत्साह और विरह भावना हो । जहाँ तक बन सके अभ्यास नित्य हो, खण्डित न हो, भूत की घटी घटनाओं का चिन्तन एवं भविष्य की आशा न हो । बैठने की आसनी बहुत गुदगुदेदार कोमल तथा बहुत कठोर न हो । एक ही आसन से विलम्ब तक बैठने का अभ्यास हो । यदि नींद आने का भय न हो, तो अभ्यास काल में नेत्र अवश्य बन्द हों । यदि नींद आने का भय हो, तो नेत्र थोड़े-थोड़े खुले हों, परन्तु चंचलता रहित सामने स्थिर हों । कदाचित् नींद आने पर जहाँ गिर जाने का भय हो, ऐसे ऊँचे स्थल पर आसन न हो । जहाँ ठण्ढी चढ़े तथा

कीड़े आदि काटें, ऐसे निम्न स्थल में भी आसन न हो। जिस समय निद्रा का वेग हो, उस समय अभ्यास न हो। अभ्यास-काल में किञ्चित् भी निद्रा का आवरण न हो—इस प्रकार जानकर ठीक-ठीक स्वरूप-स्थिति का अभ्यास करना चाहिये।

सुषुप्ति-अवस्था मृत्यु की छोटी बहन है, अतएव कोई जगत्-वासना लेकर नहीं सोना चाहिये, सब वासनाओं का अन्त करके और स्वरूप का चिन्तन करते-करते सोना चाहिये। इस प्रकार वासना का त्याग कर स्वरूप भाव पूर्वक जो सोता है, वह सुषुप्ति अवस्था में भी मानो स्वरूप में स्थित है। जागते ही वह ठीक स्थिति में पुनः अपने को पाता है। जैसे उत्पन्न होने के पश्चात् बालक निर्दोषी होता है, वह पीछे से माता-पितादि कुटुम्बियों के साथ से दोषों को सीखता है। इसी प्रकार सोकर उठने पर मन निर्दोषी होता है, फिर पीछे नाना चिन्तन, बोली और व्यवहार में लगकर चंचल हो जाता है। अतएव प्रातःकाल सोकर उठने के पश्चात् निर्दोषी मन से स्वरूपस्थितिका अभ्यास करना चाहिये। सोकर उठने पर किसी प्रकार मन, वाणी और इन्द्रियों को चंचल न करे और अभ्यास में लग जाय। अथवा प्रातः सायं, दिन में, रात में जब-जब समय-सुविधा हो—अभ्यास करे। अभ्यास में सफलता न प्राप्त होने का मुख्य कारण है—उत्साह की कमी, ध्येय की अनस्थिरता एवं अभ्यास में खण्डन (किसी दिन करना किसी दिन न करना)। अतएव पूर्ण स्थिति प्राप्ति के दृढ़ ध्येय से

उत्साह पूर्वक निरन्तर अभ्यास करना चाहिये।

शांति एवं मोक्ष का दूसरा सरल-साधन वैराग्य-भावना है। इसका संक्षिप्त रूप सटीक विवेक प्रकाश पृष्ठ ४२४ से ४२५ तक वर्णन किया है। संक्षिप्ततः यहाँ भी बताया जाता है—यह शरीर जड़रूप, अपवित्ररूप, दुःखरूप एवं नाशवान् तो है ही। यह महान् कृतघ्न (नमकहरामी) भी है। कितने ही उत्तम भोगों से इसकी रक्षा करो, कितनी ही इससे मित्रता करो। परन्तु एक दिन सारी मित्रता को धूल में मिलाकर और धोखा देकर अचानक यह शरीर हमसे दूर हो जायगा। अतएव इस शरीर की आशा-प्रेम को हमें पहले ही सर्वथा त्याग देना चाहिये। शरीर की अहन्ता-ममता से ही संकल्पों-वासनाओं की भरमार लगती है। विवेक पूर्वक इस शरीर की गन्दगी को देखे और इससे सर्वथा उपराम हो जाय। इसमें रहने की इच्छा छोड़ दे। इसमें पुनः आने की स्फुर्णा न हो।

चलते-फिरते लेटे हुए या एकान्त में बैठकर इस शरीर के अन्तिम अवस्था का चिन्तन करे—"मानो यह शरीर मृतक हो गया है। कहीं वन, नदीतट एवं श्मशान में पड़ा है, इसे चील्ह, गीध तथा कौवे खा रहे हैं। चील्ह, गीध, कुत्ता, स्यारादि द्वारा यह काट-काट कर अंग-प्रत्यंग पृथक्-पृथक् हो गया है और वायु से सूख कर उड़ रहा है। अथवा शरीर के मृतक हुए एक दिन हो गया है, दो दिन हो गये, एक सप्ताह बीत गया। इसे कीड़े-दीमक खा रहे हैं। यह शरीर

फूल गया है, इसमें लोने पड़ गये हैं। अथवा यह जला दिया गया है, गाड़ दिया गया है। इत्यादि, शरीर का अन्त हो गया है और मैं निःसंग, शान्त विदेह मुक्त विराजमान हूँ, दृढ़ता पूर्वक इस प्रकार भावना करते-करते सब वासनाओं का अन्त हो जाता है। इस दशा में काम, देहाभिमान और मन के बाह्य आकर्षण का सर्वथा निर्मूल होकर पूर्ण स्थिति दशा प्राप्त हो जाती है।

द्रष्टा के अभ्यास में मन को देखा जाता है कि उठने न पावे। इसलिये वह निष्क्रिय साधन कहा जा सकता है। अतएव कठिन-सा प्रतीत होता है। परन्तु इस वैराग्य-भावना के साधना में मन को रोकने के लिये नहीं देखा जाता। बल्कि मन से शरीर-अभावता के चिन्तन में काम लिया जाता है। इसलिये इसे सक्रिय-साधन कहा जा सकता है। अतः यह उसके अपेक्षा अधिक सरल है। द्रष्टा का अभ्यास करते-करते जब वासनाओं का उठना बन्द हो जाता है, तब जो स्थिति दशा प्राप्त होती है। शरीर की अभावता देखते-देखते उपरोक्त प्रकार से जब शरीर का पूर्ण अभाव हो जाता है, तब वही स्थिति दशा यहाँ भी प्राप्त हो जाती है। इसलिये दोनों का फल एक है—स्थिति। इसी प्रकार रुचि और अन्तःकरण के भेद अनुसार स्थिति-शान्ति के नाना मानसिक प्रयोग (साधना) हैं। जो कि स्थानाभाव से सब नहीं लिखे जा सकते। साधन में प्रवेश होने और उत्साहपूर्वक साधन करने से अनुभव में स्वयं आते हैं।

कुछ लोग कहते हैं, "हमें स्वरूपस्थिति-प्राप्ति की इच्छा तो है। परन्तु पूर्व संस्कारों की मलीनता से तथा पूरा पुरुषार्थ न बन पाने से स्वरूपस्थिति नहीं मिल रही है।" कल्याणार्थी को पूर्व संस्कारों पर निराश होना तो केवल प्रमाद है। साधक के लिये पूर्व-पश्चिम के कोई विघ्न नहीं हैं। कमी केवल इतने में है कि स्वरूपस्थिति-प्राप्ति की तीव्र इच्छा ही नहीं है। तीव्र इच्छा की यही पहचान है कि जिसकी प्राप्ति के लिये इच्छा की जाय, जब तक वह न प्राप्त हो जाय, तब तक चैन से न रहे। इच्छित वस्तु-प्राप्ति में एक-एक क्षण का भी विलम्ब अपने लिये दुःखद हो, वह इच्छित प्राप्तव्य वस्तु अवश्य प्राप्त हो जाती है, यह नियम है। फिर अपने स्वरूप से तो कोई देश-काल की दूरी है नहीं, क्योंकि वही मैं हूँ। अतएव स्वरूपस्थिति की प्रबल इच्छा होने पर वह तुरन्त ही प्राप्त हो जायगी। कमी केवल मोक्ष की प्रबल इच्छा की है।

साधकों को यह ध्यान में रखना चाहिये कि एकान्त सेवन योग्यतानुसार, आवश्यक और उचित हो। जिनमें विवेक-वैराग्य बल की कमी हो, साधन की निर्बलता हो। उन्हें चाहिये कि वे अधिक सन्त-समाज में रहकर सद्ग्रन्थ अध्ययन और सन्त-सेवादि स्थूल शुद्ध पुरुषार्थ अधिक करें। चौबीस घण्टे में एक-दो घण्टे एकान्त सेवन उनके लिये कम नहीं है। जो विवेक-वैराग्य में सबल हों, जिनकी साधन-शक्ति

प्रबल हो, उनके लिये चौबीस घण्टे में ४—६ घण्टे एकान्त-सेवन अधिक लाभ दायक है। एकान्त में निराधार या केवल मानसिक विवेक साधन से यदि शान्ति न आवे, तो सद्ग्रन्थ अध्ययन अधिक करना चाहिये। अमनियाँ करने, भोजन भण्डार बनाने के समय सद्गुरु-सन्तों की सेवा करने के समय, सामाजिक मुख्य व्यवहार करने के समय एकान्त नहीं जाना चाहिये। मुख्य व्यावहारिक, सामाजिक उचित कार्य को करते हुए, सद्गुरु-सन्तों की स्थूल सेवा करते हुए, सन्त-समाज से अनुकूल रहते हुए विरक्त साधक को एकान्त का समय निकालना चाहिये। भक्ति-सेवा करने के समय एकान्त रहना और एकान्त-सेवन के अवसर पर समाज में गप-सड़ाका हाँकना मन की धोखेबाजी है, प्रमाद है। इस बात को पुनः ध्यान में रख लेना चाहिये कि विवेक-साधन की निर्बलता से एकान्त में काम, मोह और विषय चिन्तन तथा प्रमाद, आलस्य अधिक बढ़ते हैं। अतएव अपनी शक्ति देख करके ही एकान्त-सेवन का अभ्यास बढ़ाना चाहिये।

प्रश्न—'रहै उपाधि नहीं निज का' इस का क्या भाव है ?

उत्तर—एकान्त का संकेत करके कहा गया है कि उस शुद्ध एकान्त स्थल में अपनी स्वरूपस्थिति करने में कोई उपद्रव नहीं रहते। न वहाँ व्यवहार खटपट रहता है, न किसी से बोलना-चालना रहता है और न तो किसी प्रकार वहाँ द्वन्द्व ही रहता है। ऐसा एकान्त स्थल पाकर भाग्यवान् पुरुष को

मन-इन्द्रियों का दमन, स्वभाव का निरख-परख, स्वरूपस्थिति का अभ्यास करना चाहिये। विवेक पूर्वक एकान्त-वास और वाक्य संयम ये दो शान्ति के प्रधान साधन हैं।

प्रश्न—'संग्रह रहित रहैं निशिवासर'—इस का क्या भाव है ?

उत्तर—संग्रह कहते हैं संचय (इकट्ठा) को, निशिवासर का भाव है—सदैव। यहाँ का ऐसा अभिप्राय है कि धन को इकट्ठा करने के भाव से सदैव रहित रहना चाहिये। अपने शरीर-निर्वाह, कुटुम्ब-सेवक-समाज के रक्षा निमित्त या परोपकार धर्म-भक्ति में उचित रूप से धन न खर्च करके मधु-मक्खियों की भाँति पैसा-पैसा जोड़ते रहना—मानो अपने को नरक में ढकेलने का साधन है। गृहस्थ को, समाज के प्रबन्धक को उचित मात्रा में सहज रूप से धन का संग्रह रखना कोई अन्याय नहीं है। परन्तु योग्यतानुसार समय-समय से उस धन को कुटुम्ब-रक्षा, समाज-रक्षा में, परोपकार-धर्म-भक्ति में खर्च करते रहना चाहिये। मान-बड़ाई-प्राप्ति के लिये धन को धर्म में लगाना—शुद्ध दान नहीं है। परोपकार, सन्त-सेवा धर्म-भक्ति करने के समय पर कंजूस नहीं बनना चाहिये। धनियों को धन का व्यय धर्म में समय-समय से सदा करते रहना चाहिये। आवश्यकता से अधिक धन इकट्ठा करने से वह अहन्ता-ममता, लोभ-तृष्णा उत्पन्न कर लोक-परलोक

दोनों बिगाड़ देता है। धन तो वर्षात के पानी की भाँति है, आकरके कब चला जायगा---इसका पता नहीं रहता। दरिद्र थोड़े दिन में धनी हो जाता है और धनी थोड़े दिन में दरिद्र हो जाता है। अधिक धन जो इकट्ठा किया जाता है, उसको छोड़ कर चाहे इकट्ठा करने वाला पहले मर जाय। चाहे उसके देखते-देखते धन ही नष्ट हो जाय। चाहे जैसा हो इस क्षणिक जीवन में उसका वियोग होना अब शीघ्र ही है। अतः बुद्धिमानी इसी में है कि उस चंचल धन से परोपकार-धर्म करके आगन्त बना लें। अधिक धन संग्रह में शास्त्रों में १५ दोष बताये हैं, सो उचित ही प्रतीत होते हैं। वे दोष ये हैं-(१) हिंसा, (२) चोरी, (३) असत्य भाषण, (४) क्रोध, (५) काम, (६) दम्भ, (७) मान, (८) मद, (९) भेद, (१०) अविश्वास, (११) वैर, (१२) वेश्यागमन, (१३) ईर्ष्या, (१४) जुवा, (१५) नाच-सिनेमादि के पीछे अवारापना इत्यादि। अतः अधिक धन-संग्रह का त्याग परम् आवश्यक है।

प्रश्न—'अहै अपरिग्रह निज हित का' इसका क्या भाव है?

उत्तर—'अपरिग्रह' कहते हैं आवश्यकता से अधिक धन इकट्ठा न करना। यहाँ का ऐसा तात्पर्य है कि आवश्यकता से अधिक धन इकट्ठा न करने में ही अपना कल्याण है। अधिक धन आसक्ति अहंकार और दुर्गुण उत्पादक है।

१६—निःसंशयः निर्विक्षेप समाधान के लक्षण।

संशय सब निर्मूल जहाँ पर, त्यागि विक्षेप सदा चितका।
समाधान ह्वै रहै निरन्तर, मिट जावै सब दुख जिव का॥११

जहाँ पर सब सन्देह जड़ से खुद गये हैं, सदैव मन की चञ्चलता का जहाँ त्याग हो गया है। जहाँ बोध पूर्वक सदैव रहा जाता है, वहाँ जीवके सब क्लेशों का नाश हो जाता है॥११॥

प्रश्न—'संशय सब निर्मूल जहाँ पर, त्यागि विक्षेप सदा चित का'—इस पंक्ति का क्या भाव है ?

उत्तर—'संशय कहते हैं सन्देह या शंका को, जैसे—चैतन्य जाति जड़ से भिन्न स्वतन्त्र है कि जड़ के ही संयोग से चैतन्यता आ जाती है, पुनर्जन्म होता है कि नहीं, वासना त्याग से मोक्ष होता है या नहीं, जगत् का कर्ता है या नहीं, प्रवृत्ति में सुख है या निवृत्ति में ? इत्यादि भावनाओं का मन में बना रहना—संशय है। 'जहाँ पर' अर्थात् जिस विवेकी के अन्तःकरण से पूर्वोक्त सब संशय जड़ से उखड़ गये हैं और विक्षेप नाम चञ्चलता, सो विषय भोगों के प्रति जो मन की चञ्चलता है, उस चञ्चलता को जो सदैव के लिये त्याग दिये हैं, अथवा जो सदैव चञ्चलता त्यागते रहते हैं—

प्रश्न—'समाधान ह्वै रहै निरन्तर, मिट जावें सब दुख जिव का'—इस पंक्ति का क्या भाव है ?

उत्तर—'समाधान' कहते हैं सब सन्देहों का नष्ट हो जाना—पूर्ण बोध हो जाना। जैसे जड़ तत्त्वों से न चेतन

की उत्पत्ति होती है और न चेतन से जड़ तत्त्व उत्पन्न होते हैं। जड़-चेतन दोनों भिन्न-भिन्न अनादि नित्य हैं। कर्म वासना वश जीवों का पुनर्जन्म होता है, यह ध्रुव (निश्चल) सत्य है। सद्बोध-सद्पुरुषार्थ द्वारा वासनाओं का पूर्ण त्याग कर देने से मोक्ष होता है, यह नितान्त निश्चित है। जड़ तत्त्वों में धर्म, गुण, क्रिया, शक्ति, मेल तथा आकारादि षट्भेद होने से ब्रह्माण्डिक सृष्टि और अनन्त जीव वासना वश होने से जड़ तत्त्व का आधार लेकर चार खानि, घर, घड़ा तथा यन्त्रादि रूप पिण्डाण्डिक सृष्टि है। इस प्रकार जड़-चैतन्य मय अनादि जगत् का अन्य कारण-कर्ता विवेक से और प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वथा असिद्ध है। किसी भी नास्तिक, प्रकृतिवादी और कल्पनावादी के भ्रमवाणी से किञ्चित् भी सन्देहशील न हो, सदैव पूर्वोक्त यथार्थ ज्ञान का दृढ़ निश्चय होना—समाधान है।

इस प्रकार सब सन्देहों को मिटाकर और चित्त की चञ्चलता त्याग कर जो बोध भाव में सदैव दृढ़ रहता है, उस नर-जीव का मानसिक-देहोपाधिक समस्त क्लेशों का सर्वदा के लिये अत्यन्त नाश हो जाता है।

२०—उपरामता के लक्षण और विधि।

दृढ़ निर्वेद ग्लानी करके, रहै पर्श विष से न्यारा।
सोई उपराम राखि अभिअन्तर, वृत्ति करै नित निरधारा॥

कठिन दुःख-दृष्टि और ग्लानि करके स्पर्श विषय से पृथक्

रहे। पूर्वोक्त उपरामता हृदय में रखकर नित्य वृत्ति को निराधार करे ॥

प्रश्न—दृढ़ निर्वेद ग्लानि करके स्पर्श विषय से न्यारा रहने का क्या भाव है ?

उत्तर—दृढ़ कहते हैं कठिन या अटल को; निर्वेद का अर्थ है विषय भोग में दुःख दृष्टि। ग्लानि कहते हैं उपरामता को। यहाँ का अभिप्राय है कि कठिन और अटल दुःख दृष्टि तथा उपरामता रखकर स्त्री-पुरुष का जो पारस्परिक विषय भोग है, उस स्पर्श विषय से सदैव पृथक् रहे।

प्रश्न—वही उपरामता अभिअन्तर में रखकर नित्य वृत्ति को निराधार करे—इस कथन का क्या भाव है ?

उत्तर—अभिअन्तर (अभ्यन्तर) कहते हैं भीतर या हृदय को, वृत्ति कहते हैं लक्ष्य को; निराधार कहते हैं अन्य सम्बन्ध रहित अकेले को। यहाँ का अभिप्राय ऐसा है कि उपर्युक्त विषय भोगों से उपरामता हृदय में रखकर अपने लक्ष्य को विषय-वासनाओं से सर्वथा रहित बनाकर असंग स्वस्वरूप का नित्य चिन्तन करे। जहाँ तक पञ्च विषय पिण्ड-ब्रह्माण्ड है, यह मैं नहीं हूँ और न ये मेरे हैं। स्थूल-सूक्ष्म शरीर-इन्द्रियाँ, प्राण, श्वासा, वीर्य्य तथा रक्तादि मैं नहीं हूँ और न ये मेरे हैं। मन में काम की, क्रोध की, लोभ की, मोह की तथा भय आदि विकारों की भावनायें उठती हैं। परन्तु न तो मैं मन हूँ न मन की भावना हूँ और न ये मेरे हैं। मन, बुद्धि, चित्त

तथा अहंकारादि संयुक्त चतुष्टय अन्तःकरण मैं नहीं हूँ और न ये मेरे हैं। जहाँ तक भास हों, प्रतीत हों, जहाँ तक स्मरण हों, वह मैं नहीं हूँ न वे मेरे हैं इत्यादि विवेक पूर्वक जब स्थूल-सूक्ष्म समस्त भासमान पदार्थ और स्मरणों का सर्वथा अभाव कर दिया गया। तब सबका अभाव करने वाला (मैं पन) जो शेष बच रहता है, वही अपना स्वरूप है। वह नेत्रादि[1] से नहीं देखा जा सकता। बल्कि वही 'मैं' नेत्रादि साधनों से बाहरी जड़-पदार्थों को देख रहा हूँ। फिर मेरे अपने आप को देखने के लिये बाहरी साधनों की क्या आवश्यकता है? क्या सूर्य को देखने के लिये अन्य प्रकाशादि की आवश्यकता पड़ती है? कदापि नहीं। वह तो स्वयं प्रकाश रूप है। इसी प्रकार मेरे चैतन्य के ही हैता, निश्चयता और साक्षित्व में सब कार्य, ज्ञान तथा वासनायें हो रही हैं। मैं तो सदैव हूँ ही। अतएव मेरे अपने आप के ज्ञान के लिये अन्य साधनों की क्या आवश्यकता है? केवल विवेक की ही आवश्यकता है। केवल सत्सङ्ग और विवेक से ही अपने आप को यथार्थ रूप से जाना ज सकता है। उसके समझने-समझाने के लिये उस चैतन्य के सर्व समान कोई प्रमाण और दृष्टान्त ही नहीं हैं। वह नि और विलक्षण है, अजर, अमर, अखण्ड, अनादि, ३ (कभी अन्त-नाश न होने वाला) स्वतः शुद्ध तथा पा

१-चौ०-नेत्र आप को नाहीं देखत। जीभ निज स्वाद कभी न ले
जीव ज्ञान तस नित्य स्वभाविक। नहिं जड़ जाने बुद्धि इन्द्रियाँ

वही मैं हूँ। (सब चिन्तनों को त्याग कर) इसी भावाकार में अपनी वृत्ति को नित्य रखना ही—नित्य वृत्ति को निराधार करना है।

२१--कर्तव्य परायणता, शत्रु के प्रति भी मैत्री का भाव।

साधन युक्त सम्पूर्ण गुणों से, मित्र भाव गहि के सारा।
समता शील से बरतै निशिदिन, शत्रु होय तो भी प्यारा॥

संसार के समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भाव ग्रहण करके साधन सहित समस्त सद्गुण पूर्वक सदैव समता-शील पूर्वक बरते, यदि कोई वैरी भी हो, तो भी स्वजाति दृष्टि से प्रिय ही है॥ १२॥

प्रश्न—ऊपर का स्पष्ट भाव क्या है ?

उत्तर—मनुष्य, पिण्डज, अण्डज और उष्मज---इन चार खानियों के समस्त प्राणी अविनाशी चेतन होने से मेरे स्व-जाति हैं, इसलिये प्राणी मात्र के लिये मैत्री भाव रख कर साधन सहित समस्त सद्गुणों से सदैव समता शील पूर्वक बरते।

साधन कहते हैं उपाय को और उसी उपाय को प्रयोग अर्थात् अभ्यास में लाना—साधना है। यहाँ साधन पद से साधना का अर्थ लेना चाहिये। दया, क्षमा, सत्य, धैर्य, विचार, विवेक, वैराग्य, अहिंसा तथा भक्ति आदि 'सम्पूर्ण सद्गुण' हैं। इन सद्गुणों को साधना (अभ्यास) सहित धारण करके समता-शील युक्त सब जीवों से मैत्री भाव पूर्वक [ब]रते। भाव यह है कि केवल दया-क्षमादि सद्गुणों के नाम

या लक्षण जान लेने से ही काम नहीं चलता, अपने-पराये का कोई वास्तविक हित नहीं कर सकता। उन सद्गुणों का निरन्तर अभ्यास करते रहने से ही काम चलता है, अर्थात् अपने-पराये का कोई वास्तविक हित कर सकता है। जैसे दया का लक्षण तो ज्ञात है, परन्तु दया धारण करने का यदि अभ्यास नहीं है, तो समय आने पर वह शक्ति चले तक जीवों की हिंसा नहीं बचा पायेगा। क्षमा के लक्षणों को तो जाना जाता है, परन्तु अभ्यास करके सहनशक्ति यदि नहीं धारण है, अर्थात् अभ्यास करके क्षमा करने की शक्ति यदि नहीं प्राप्त है, तो किसी अपराधी के एकाएक अपने प्रति अपराध कर देने पर उसे क्षमा करना कठिन हो जायगा। सत्य स्वरूप का लक्षण और सत्य बोलने का लक्षण तो जाना जाता है। परन्तु यदि स्वस्वरूप का अभ्यास या सत्य बोलने का निश्चय और चिन्तन पूर्वक अभ्यास नहीं है, तो क्षण-क्षण देहाध्यासी होकर स्वार्थ वश सब अनीति करने लग जायँगे या समय आने पर असत्य भाषण भी हो जायगा। धैर्य का लक्षण तो ज्ञात है, परन्तु अभ्यास पूर्वक धारण नहीं है, तो काम-भावना उठने पर अधैर्य होकर व्यभिचार में। क्रोध-भावना उठने पर हिंसा में। लोभ-भावना उठने पर चोरी, घूसखोरी, बेइमानी ठगाई, झुठाई तथा धोखेबाजी आदि में साधक पतन हो जायगा। मोह-भावना उठने पर वैराग्य का त्याग या चिन्ता-शोक तथा भय की भावना उठने पर भीरुत्व (डरपोकपन)

आदि आ जायँगे। मनुष्य पाप में प्रवृत्त होकर अपना और सबका बिगाड़ करने लगेगा। इसी प्रकार विचार, विवेक, वैराग्य, अहिंसा तथा भक्ति आदि के लक्षण तो जाने जाते हैं। परन्तु अभ्यास करके उन्हें धारण नहीं किया गया है, तो मनुष्य क्षण-क्षण वे विचारी, अविवेकी, मोही, हिंसकी, धर्म-गुरु से विरुद्ध, हठी, शठी तथा नास्तिक होकर अपनी और जन-समाज की (सबकी) हानि कर डालेगा। फिर प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भाव, विश्वबन्धुत्व का रहस्य कैसे रख सकता है। इसलिये जो विश्वबन्धु बनना चाहे, साम्यवादी होना चाहे और प्राणी मात्र के लिये मैत्री भाव रखना चाहे, तो दया, क्षमा, सत्य, धैर्य, विचार, विवेक, वैराग्य, अहिंसा तथा भक्ति आदि सद्‌गुणों को दृढ़ अभ्यास पूर्वक धारण करे।

आज-कल के सद्‌गुण से हीन केवल वचन मात्र से साम्य-वादी बनने वाले, केवल मनुष्य मात्र की रक्षा करके स्वजाति मित्र रूप पशु, पक्षी तथा कृमि आदि को मार कर अपने पेट में उनकी कब्र बनाने वाले, अपनी सभा और विधान की विजय तथा वृद्धि केलिये अपने मन के प्रतिकूल मनुष्यों का भी रक्त पीकर वाह्य स्वांग मय साम्यवाद का साम्राज्य लाने वाले लोगों को इन पूर्वोक्त और आगे आने वाले वचनों पर गम्भी-रता पूर्वक विचार करना चाहिये।

अभ्यास पूर्वक जब हम अपने में सब सद्‌गुणों को धारण कर लेंगे, तभी हम अन्य प्राणियों का यथार्थ हित कर सकते

हैं। जो सद्गुण-हीन व्यक्ति केवल लेखनी और भाषण तथा विद्रोह के बल पर जनता का कल्याण करना चाहता है, वह भ्रम में पड़ा है। यदि सद्गुण धारण करके मनुष्य अपना सुधार भलीभाँति कर लिया, तो वह जानो विश्व का सुधारक और परोपकारी हो गया। क्योंकि विश्व का एक अङ्ग वह भी है। उसके अपने सुधार कर लेने पर विश्व का एक अङ्ग सुधर गया। यदि इसी प्रकार सब अपना-अपना सुधार करने लग जायँ, तो सहज ही विश्व का यथार्थ सुधार हो जाय। और यदि सब-के-सब दूसरे के ही सुधार में लगे रह गये, अपना कोई सुधार नहीं किये, तो सुधार क्या हुआ बिगाड़ ही हुआ। केवल रसना रम्भन मात्र सुधार का नाट्य ही हुआ।

प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भाव रखने वाले और विश्व-बन्धु कहलाने वाले लोगों को यह समझना चाहिये कि अपनी सभा और विधान के प्रतिकूल जो मनुष्य हैं, वे भी विश्व के प्राणी हैं। उनका रक्त शोषण करके और मानवीय श्रोणित द्वारा वसुमती (पृथ्वी) को सींच करके जो साम्यवाद की खेती हरियाली करना चाहते हैं, वे भाई साम्यवाद का रहस्य नहीं जानते। साम्यवाद का नाम लेकर किसी भी प्राणी की हिंसा करना, साम्यवाद का खण्डन करना है। साम्यवाद की निन्दा करनी है। अपनी सभा और विधान की विजय तथा वृद्धि के लिये मानवता दृष्टि से किसी भी प्राणी के वध करने

का अधिकार किसी को नहीं है। मानवता त्याग कर दानवता धारण करके हिंसादि मनुष्य कुछ भी कर सकता है। परन्तु उसे किसी भी प्रकार मानवता न कह कर दानवता ही कहना पड़ेगा। साम्यवाद न कहकर वैसम्यवाद ही कहना पड़ेगा। विश्व बन्धुओं को समझना चाहिये कि पशु, पक्षी, कृमि आदि प्राणी भी इसी विश्व के अन्तर्गत ही रहते हैं। वे भी जीते-जागते चेतन हैं। उनको भी सुख-दुःख होते हैं। वे भी स्वजाति बन्धु हैं। फिर निर्दयता पूर्वक उन्हें मार कर अपने पेट में उनका कब्र बनाना कहाँ तक उचित है? जान-बूझ कर शक्ति चले तक जो जीवों की हिंसा करता है, वह साम्यवादी और विश्वबन्धु कदापि नहीं कहा जा सकता। हिंसकी व्यक्ति साम्यवाद और विश्वबन्धुत्व का घोर निन्दकी है।

प्रश्न—समता-शील से बरते निशिदिन—इस कथन का क्या भाव है?

उत्तर—केवल सब में विवाह कर लेना—समता नहीं है। खान-पान में तनिक भी लोक-समाज की मर्यादा न मान कर शुद्धाचारी और अशुद्धाचारी का ध्यान न देकर सबके हाथ का बनाया भोजन करना—समता नहीं है। पुरुषों के समान स्त्रियों का भी मनमाना घूमना, बर्ताव में स्वतन्त्र रहना—समता नहीं है। गुरु-शिष्य स्त्री-पुरुष, स्वामी-सेवक तथा पिता-पुत्र की मर्यादा तोड़ देना—समता नहीं है। व्यवहार में बिल्कुल समता

की ही नहीं जा सकती। जैसे गुरु और शिष्य को एक समान आसन पर बैठना उचित नहीं है और यदि गुरु उच्च आसन पर बैठता है तथा शिष्य नीच आसन पर बैठता है, तो वादी की दृष्टि से विषमता होती है। परन्तु यह कोई विषमता नहीं है। पुत्र पिता का नमस्कार करता है, तो समता पालन करने के लिये पिता को भी पुत्र का नमस्कार करना कदापि उचित नहीं है। थानेदार के चढ़ने के लिये गौरमिण्ट घोड़ा देती है, परन्तु चौकीदार को एक साइकिल भी नहीं देती। वादी के सिद्धान्त से यह विषमता होते हुए भी वास्तव में विषमता नहीं है। देश का एक बड़ा सेवक वायुयान पर चलता है, उससे जो छोटा है, वह मोटर पर चलता है, किसी के पास साइकिल है। परन्तु उसी देश-सेवक के समाज का एक साधारण सदस्य है, उसके पास साइकिल भी नहीं है, पैदल चलता है। वादी की दृष्टि से यह विषमता है, परन्तु विचार दृष्टि से यह कोई विषमता नहीं है। जो जिस योग्य है, व्यवहार में वैसा ही बरतना उचित है।

यहाँ यह शंका नहीं की जा सकती कि किसी प्राणी को तुच्छ देखा जाना या किसी का यथार्थ अधिकार न देना— यहाँ मान्य है। जब कि कृमि-कीटादि और हिंसकी जीव सर्प-बिच्छू आदि को अपना स्वजाति मान कर उनकी रक्षा और उन पर दया करने को कहा जाता है, तब किसी को तुच्छ देखना और किसी का यथार्थ अधिकार न देना यहाँ

कैसे मान्य होगा ? पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य के बाह्य व्यवहार में बाह्य दृष्टि से विषमता है। परन्तु परस्पर दोनों में कितना प्रेम है ? पिता की पुत्र में ममता है और पुत्र की पिता में ममता है। शिष्य पर गुरु की असीम दया दृष्टि है और गुरु में शिष्य की अटल श्रद्धा है। दोनों सदाचरण-स्थिति में सर्वथा समान हैं। परन्तु व्यवहार लौकिक दृष्टि से फिर भी विषम-सा प्रतीत होता है।

यदि कोई लौकिक मर्यादा प्राप्त कर अपने में अभिमान रखता है और दूसरे को तुच्छ देखता है, तो वह अवश्य निन्दनीय है। अपने को श्रेष्ठ मानकर दूसरे को तुच्छ देखने का अधिकार किसी को भी नहीं है। चाहे वह जितने ही महान मर्यादा में प्रतिष्ठित हो ! मर्यादित-प्रतिष्ठित महान पुरुष का यही लक्षण ही होता है कि व्यवहार में मर्यादा पूर्वक बरतते हुए भी मन से अत्यन्त निर्मानी और समतालु होते हैं। जो अपने जाति, कुल तथा मर्यादा का अभिमान करता है और दूसरे को तुच्छ देखता है, उसको अज्ञानी के अतिरिक्त अन्य कोई संज्ञा ही नहीं दी जा सकती है। विद्या पढ़ता है वही पण्डित होता है। सद्गुणी होता है वही सज्जन कहलाता है। विवेकी होता है वही पूज्य होता है। विरागी होता है वही मुक्त होता है। किसी जाति, कुल, मर्यादा वाला व्यक्ति वास्तव में पण्डित, सज्जन, पूज्य तथा मुक्त नहीं होता। जो दुराचारी होगा वही समाज की दृष्टि से गिर जायगा, सरकार उसे दण्ड

देगी, परलोक में वह नारकी योनि में जायगा। चाहे वह जिस किसी जाति, कुल और मर्यादा का हो। जो विद्वान् होता है उसी से विद्या की शिक्षा ली जाती है। जो वैराग्य-वान्, बोधवान् तथा गुरुपद में स्थित होता है, उसी से कल्याण की दीक्षा ली जाती है, उसी को गुरु बनाया जाता है। किसी जाति, कुल या लौकिक मर्यादा-प्राप्त पुरुष से नहीं।

जिससे व्यवहार में असुविधा न हो; आलस्य-प्रमाद-अपवित्रता न बढ़े, नास्तिकता न बढ़े, परमार्थ-हीनता न आवे, धर्म-प्रचार में रुकावट न आवे, समाज में उच्छृङ्खलता न बढ़े, समाज में राग-द्वेष विद्रोह न हो, सरलता पूर्वक व्यवहार-परमार्थ बनता रहे—मात्र इतने ही के लिये लौकिक, सामाजिक मर्यादा ले लेना उपयुक्त है। आधुनिक साम्यवादी और विश्व-बन्धु भाई लोग अपनी सभा तथा विधान की विजय एवं वृद्धि के लिये शहस्त्रों और लाखों मनुष्यों को मार डालना साम्यवाद का विरोधी नहीं समझते। परन्तु व्यवहार-सुविधा और धर्म-प्रचार के लिये थोड़ी लौकिक-सामाजिक मर्यादा रखना समता का विरोधी अर्थात् वैसम्यवाद समझते हैं। अपनी सभा एवं विधान की विजय तथा वृद्धि के लिये मनुष्यों का शिकार करना विषमता नहीं है। परन्तु व्यवहार-परमार्थ की रक्षा-सरलता के लिये सामाजिक मर्यादा रखना विषमता है। बलि-हारी है इन विश्वबन्धुओं और साम्यवादी भाई लोगों की बुद्धि विशालता पर!

पाश्चात्य एवं आधुनिक विश्वबन्धुत्व तथा साम्यवाद में हिंसा, नास्तिकता, धर्म-गुरु से विरुद्धता, परमार्थ हीनता, भौतिकता, उच्छृङ्खलता, प्रतिद्वन्द्विता, नारियों की निर्लज्जता, निःशीलता, पुरुषों की निष्ठुरता, अपवित्रता, सदाचारहीनता, अभक्ष्य-सेवन, राग-द्वेष, विषयासक्ति, शोक, मोह, अशान्ति तथा क्लेश—यही सब भरे हुए हैं। और भारतीय एवं धार्मिक समता (साम्यवाद-विश्वबन्धुत्व) में अहिंसा (जान-बूझ कर शक्ति चले तक चार खानि के छोटे-बड़े किसी भी प्राणी को दुःख न देना), आस्तिकता, धर्म-गुरु की मान्यता, सदाचार परायणता, परमार्थता, उचित मर्यादा पालन, नारियों में लज्जा-शीलव्रत-पतिव्रतापना, स्वच्छता, साकाहारिता (मांसाहार का त्याग), विषयासक्ति की निन्दा, जड़ से भिन्न चेतन तथा आवागमन-मोक्ष की मान्यता, राग-द्वेष की निवृत्ति तथा शान्ति-स्थिति आदि-आदि—सदाचार और सद्गुणों का समावेश है।

जो रहन-सहन, जो आचरण मध्यवर्तीय रहता है। वह स्थाई होता है, सब का अधिक लाभकारी होता है और जिसमें बनावटी अधिक है, जो उत्तेजना मय है, जिसमें केवल भावावेशिता-ही-भावावेशिता की अधिकता है। वह शक्ति-हीन, अनस्थाई और परिणाम में हानिकारक होता है। यथार्थ समता किसे कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है—

चार खानियों के छोटे-बड़े सभी प्राणियों को अपना

स्वजाति-बन्धु जानकर जान-बूझकर एवं शक्ति चले तक मन-वच तथा कर्म से किसी प्राणी को दुःख न देना और राग-द्वेष त्याग कर अपने मन, वच तथा कर्म से यथायोग्य और यथा-शक्ति सबके प्रति हित बर्ताव तथा हित भावना रखना—समता है। एवं थोड़े में समझिये—अपने स्वार्थ और ममता को जीत लेना ही—समता है।

गुरु-दीक्षा लेने में, साधु-गुरु की भक्ति करने में, धर्म-सदाचरण धारण करने में, बोध-वैराग्य लेने में स्व-सिद्धान्त में मनुष्य मात्र का बराबर अधिकार माना गया है। बोध-वैराग्य के पुरुषार्थ द्वारा कोई भी मनुष्य जीवन्मुक्ति-स्थिति प्राप्त कर सकता है। जीव का मुख्य चेतन स्वरूप मनुष्य मात्र ही का नहीं, बल्कि अण्डज, पिण्डज, उष्मज और मनुष्य–इन चारों खानियों के समस्त प्राणियों का स्वरूप सर्वथा एक समान ही है और वैसे माना भी जाता है, फिर मनुष्य मात्र स्वजाति तो हैं ही। केवल देश, समाज, परिस्थिति अनुरूप व्यवहार की भिन्नता रहती है। परन्तु स्वरूप-बोध, आचरण, स्थिति एक समान होने से लोक-समाज अनुसार व्यवहार में तानिक भिन्नता वास्तविक कोई भिन्नता नहीं है। लोक हितार्थ यह भिन्नता-मर्यादा ले लेना उचित ही प्रतीत होता है। इसीसे विवेकी सज्जन सन्त-भक्त लेते भी हैं।

चलते-फिरते किसी भी प्राणी को कष्ट न देना, मनुष्य मात्र को भाई-भाई समझकर किसी से घृणा एवं किसी पर

तुच्छ दृष्टि न करना। परन्तु खान-पान में सदैव शुद्धाचार-अशुद्धाचार का विचार करना। हिंसकी-मांसाहारी और अशुद्धाचारी का बनाया एवं स्पर्श किया हुआ भोजन कभी न खाना, चाहे वह शुद्धता से ही भोजन बना दे, तो भी हिंसकी-मांसाहारी का बनाया एवं स्पर्श किया भोजन न ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि उसका प्रभाव अच्छा नहीं है। यदि किसी का अहित नहीं है, अर्थात् किसी के हित में कोई बाधा नहीं पड़ती है, तो स्वयं लोक-समाज की मर्यादा तोड़ने के लिये उदण्डता न करना। प्राणी मात्र का हित करते हुए यथा-सम्भव लोक-समाज के अनुसार चलना चाहिये।

आधुनिक युग में बहुत-से भाई ऐसे विचार के हैं कि सबके साथ आहार-विहार कर लेने मात्र में समता एवं सब का सुधार मानते हैं। परन्तु यह भ्रम है। बहुत लोगों को देखा जाता है, वे सब के साथ खा तो लेते हैं, परन्तु धकाधक घूसखोरी करते हैं, बेइमानी; धाँधलेबाजी, छल, कपट, कूटनीति आदि करके दूसरे को दुःख पहुँचाकर अपना स्वार्थ साधते रहते हैं। पदलोलुपा वश क्या-क्या पाप नहीं कर डालते हैं। फिर इसे समता नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त बहुत से सज्जन हैं, जो आहार-विहार में स्पृश्या-स्पृश्य का विचार रखते हैं, परन्तु भूलकर भी कोई पाप नहीं करते और यथासम्भव परोपकार में रत रहते हैं।

जब तक मनुष्य अपने स्वार्थ और ममता को नहीं जीत

लेता, तब तक समता का पूर्ण पालन नहीं कर सकता। यद्यपि यह सर्वथा मान्य है कि समता, परोपकार एवं सेवा के भाव का रूप ही व्यापक हो सकता है, क्रिया का रूप सीमित ही होगा। जैसे मनुष्य सारे संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रति हित की एवं परोपकार की भावना तो कर सकता है। परन्तु क्रिया एवं अर्थ रूप में संसार के समस्त प्राणी का हित, उपकार एवं सेवा नहीं कर सकता। जिस समाज तथा कुटुम्ब में मनुष्य रहता है, उनके भोजन का प्रबन्ध करके ही पड़ोसी के भूख को देख सकता है, यह तो ठीक है। परन्तु दोष यह है कि मनुष्य अपने कुटुम्ब एवं समाज का पेट भरकर भी दूसरे कुटुम्ब-समाज के भूखे मनुष्य पर शक्ति होते हुए दया नहीं करता, बहुत-से मनुष्यों के घर में तमाम रुपये भरे हैं, कई वर्ष के अन्न कोठियों में सड़ रहे हैं। अपने जीवन-निर्वाह से बहुत अधिक धन है। परन्तु ग्राम-पड़ोस तथा मुहल्ले में कोई गरीब भाई परिश्रम करने पर सायंकाल तक पेट भर भोजन न स्वयं पाता है और न कुटुम्बी पाते हैं। परन्तु इस भूखे कुटुम्ब पर उस धनी की दृष्टि कभी नहीं जाती। यह कितना महापाप है? यहाँ पर लोग यही कहने लग जाते हैं कि हमारे प्रारब्ध-कर्म में धन था, इसलिये मिला है। उसके प्रारब्ध-कर्म में नहीं है, फिर हम उसे क्यों दें? कहना ठीक है, कर्म-वश ही लोग धनी-निर्धन, सुखी-दुखी, काला-गोरा, रोगी-निरोगी होते हैं। परन्तु मनुष्य बाह्य प्रारब्ध-फल का त्याग करके दुखियों की सेवा कर सकता है।

प्रारब्ध कर्म को हम दो भागों में बाँट सकते हैं, एक अन्तर-प्रारब्ध, दूसरा बाह्य-प्रारब्ध। शरीर और शरीर के रूप, रंग, स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य, बुद्धि-निर्बुद्धि आदि को हम अन्तर-प्रारब्ध कह सकते हैं तथा धन, घर, कुटुम्ब आदि को बाह्य-प्रारब्ध कह सकते हैं। अन्तर प्रारब्ध का त्याग करके हम दूसरे की सेवा नहीं कर सकते, परन्तु बाह्य-प्रारब्ध का त्याग करके दूसरे की सेवा कर सकते हैं। जैसे हम अपने शरीर के रूप, रंग, स्वास्थ्य आदि दूसरे को नहीं दे सकते। परन्तु धन को हम दे सकते हैं। धन, घर कुटुम्बादि प्रारब्ध में ही मिले रहते हैं, परन्तु सन्तजन उन्हें त्याग कर वैराग्य धारण कर लेते हैं।

समाज में कोई भूखा है और किसी के घर में अन्न-रुपये सड़ रहे हैं। इसी कारण चोरी-डाका पड़ने का अधिक प्रसंग आता है। यदि धनी लोग निर्लोभ होकर अपना धन दीनों के सेवा में किसी रूप से लगाया करें, तो चोरी-डाका बहुत कुछ बन्द हो जाय। अधिक धन-संग्रह तो एक पाप की जड़ है, उसे दीनों की रक्षा, विवेकी सन्तों की सेवा आदि में सदैव खर्च करते रहना चाहिये। सन्त-सेवा एवं लोक-सेवा न करते हुए जो अधिक धन-संग्रह करता है, वह मानो पाप-संग्रह करता है। समाज-प्रबन्धक और गृहस्थ को सामान्य भाव से उचित धन-संग्रह ठीक है। परन्तु क्रमशः धन से जीवन-निर्वाह और परमार्थ करते रहना चाहिये। धन-लोभी मनुष्य

इह लोक में भोगी-तृष्णालु बन कर परलोक में नाना दुःखमय योनियों में भटकता है।

स्वयं खाकर जो दूसरे असहाय-अपंग भूखे को यथाशक्ति नहीं खिलाता, वह मानो पाप ही खाता है। सबको न कभी कोई समान बना पाया है, न वर्तमान में बना सकता है और न भविष्य में ही कोई सर्वथा सबको समान बना सकेगा। क्योंकि जीवों के गुण-कर्म भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु यह हो सकता है कि यदि समाज चाहे, तो कोई मनुष्य प्रायः भूखा नहीं रह सकता है। यह बहुत शोचनीय एवं लज्जा जनक बात है कि हम स्वयं लड्डू-पूड़ी खायँ और किसी असमर्थ भाई को भूखा देख कर भी उसे सूखी रोटी न दे सकें। अथवा हमारे घर में रुपये और अन्न सड़ते रहें, परन्तु एक भूखे कुटुम्ब को अन्न न मिले। सच पूछिये तो उतने ही धन पर हमारा अधिकार है कि जितने में हमारा जीवन-निर्वाह होता रहे। इससे अधिक धन पर समाज के दीन-दुखियों का ही अधिकार है। वेदव्यासजी श्रीमद्भागवत् में कहते हैं—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
(७।१४।८)

'प्राणियों का अधिकार उतने ही धन पर है, जितने में उसका पेट भर जाय। इससे अधिक धन पर जो अपना

अधिकार मानता है, वह समाज का चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये ।'

व्यासदेव के इस श्लोक में कितनी मानवता एवं कितना साम्यवाद भरा है ? बहुत पढ़े-लिखे एवं सूटेट-बूटेट भाई लोगों को देखा जाता है, उनके सामने कोई असमर्थ, दुखी एवं भूखा व्यक्ति आजाय, तो उसे कुछ देने को कौन कहे, कड़े शब्दों में डाटकर सामने से हटा देते हैं। उससे नाक-भौं सिकोड़ते हैं। परन्तु जब हिन्दी संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा के सुन्दर वाणी की धारावाहिकता में साम्यवाद का निरूपण करने लगते हैं, तब ज्ञात होता कि ये अद्वितीय साम्मवादी हैं, जनता-जनार्दन के पूरे भक्त हैं। ऐसे लोग लम्बी-चौड़ी बातें बनाते रहते हैं और आचरण में नहीं लाते। एक दिन भी मनुष्य अपने भोजन को एक असमर्थ भुक्खड़ को देकर खिला दे, तो वह देखेगा कि कितनी प्रसन्नता का लहर उसके हृदय में उठ रहा है ? अतएव असमर्थों को दान देकर और दीनों को परिश्रम का फल देकर तथा सहायता रूप में यथाशक्ति सेवा करनी चाहिये।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि 'अपने कुटुम्ब के लिये धन न रखे, सब लुटा दे या जो कोढ़ी, अपाहिज, जरजर एवं अपंग-असमर्थ नहीं है, बल्कि समर्थ है, उनको दान दे-दे कर आलसी बनादे ।' अपनी और कुटुम्ब की रक्षा करते हुए यथाशक्ति अन्य की रक्षा करनी योग्य है। सहजरूप से गृहस्थ को

सामान्य धन संचय भी उचित है। सदैव अधिक धन संग्रह करते ही रहना समाज-सेवा, सन्त-सेवा और दीनों की सेवा में कभी धन न खर्च करना पाप है। दान का पात्र तो वही है, जो सर्वथा असमर्थ-अपंग है।

सारांश—चलते-फिरते सब प्राणियों के प्रति भरसक अहिंसा व्रत का पालन, आहार-विहार में शुद्धाशुद्धाचारी के स्पृश्यास्पृश्य का विचार, बैठक-उठक एवं संगत-पंगत में सुसंग-कुसंग की दृष्टि, उचित लोकाचार-मर्यादा का पालन, मनुष्य मात्र को अपना स्वजाति-बन्धु समझ कर और सबसे राग-द्वेष त्यागकर निःस्वार्थ भाव से यथासम्भव सब के प्रति सेवा भाव एवं सेवा-कर्तव्य में रत रहना—यही सब यथार्थ समता है।

अपने समान सब को सुख-दुःख होते हैं, ऐसा समझ कर किसी से कड़ापन न रखना, सब से मीठा-शीतल वचन बोलना और व्यवहार में भी नम्रता रखना--शील है। इन पूर्वोक्त सदाचरणों को धारण करके सब से व्यवहार में वर्तना चाहिये।

प्रश्न—शत्रु होय तो भी प्यारा—इस कथन का क्या भाव है?

उत्तर—यहाँ का यह अभिप्राय है कि जो आप की हानि चाहता है, जो आप को अपशब्द कहता है, जो आप के मान-मर्यादा तथा धन-जन-शरीरादि की हानि करता है, इत्यादि-उसी को आप शत्रु मानते हैं। परन्तु विचार कीजिये आप के

प्रति वह अपने तन, मन तथा वचन से हानि की क्रिया क्यों करता है ? या तो आप अपने तन-मन तथा वचन से उसके प्रति कोई हानि की क्रिया किये होंगे या अनुमानन भ्रम-वश, भूल से वह आप को अपना हानिकारी मान बैठा होगा या अपने स्वार्थ वश तथा ईर्ष्या वश आप की हानि करता होगा।

इन सभी रोगों पर औषधि है। यदि कदाचित् आप ही से प्रथम उसके प्रति अपने तन मन तथा वचन से हानि की क्रिया की गयी है। इसी से वह आप की हानि करता है। तो इसमें विचारिये, प्रथम किसका दोष ठहरता है ? अर्थात् प्रथम आप ही दोषी हैं। अतः यहाँ आप का कर्तव्य हो जाता है कि आप अपने अपराधों पर उससे क्षमा माँगे और उसे शत्रु के प्रत्युत हित की दृष्टि से देखें। आप अपने मन, वचन और शरीर से उसका हित ही चाहेंगे और बारम्बार निर्मानता पूर्वक, उससे क्षमा ही माँगते रहेंगे, तो वह शत्रु ही तुरन्त मित्र बन जायगा। और यदि अनुमानन, भ्रम वश, भूल से तथा स्वार्थ या ईर्ष्या वश वह आप की हानि चाहता या हानि करता है। तो वह भूला है, फिर भूला मनुष्य अबोध बच्चे के समान है। यदि वह भूला न होता, तो वैर-विरोध करके अपनी और दूसरे की भी हानि क्यों करता ? अतएव भूला मनुष्य सर्वथा क्षमा और दया का पात्र है। चाहे वह आपके प्रति टेढ़ी क्रिया करता ही रहे, परन्तु आपका कर्तव्य

है कि उसको शत्रु मानना त्याग कर उसे हित और प्रिय की दृष्टि से देखें। (यहाँ का यह भाव नहीं है कि समाज प्रबन्धक और न्यायक को उचित न्याय नहीं करना चाहिये, द्वितीय श्रेणी में न्याय करना-कराना सर्वथा उचित है।)

२२—सबको शान्ति प्रदान और हितैषी भाव।

जेहिविधि शान्तिहोय सुखसबको,युक्ति वहै लो सुविचारा।
तेज प्रतापी पुरुष वही है, सबके प्राणों का प्यारा॥

जिस प्रकार से सभी को सुख-शान्ति की प्राप्ति हो, वही उपाय और उत्तम विचार धारण करना चाहिये। इन आचरणों को धारण करने वाला व्यक्ति ही तेजवान् और प्रतापी है और सब सज्जनों के प्राणों का प्यारा है॥

प्रश्न—ऊपर का स्पष्ट भाव क्या है ?

उत्तर—जिस समता से, जिस दया से, जितने वैराग्य, भक्ति और साधन से तथा जितने व्यवहार आदि धारण करने से न्याय पूर्वक मुख्य अपने को और अधिक मनुष्यों को सुख-शान्ति की प्राप्ति हो, उपाय और उत्तम विचार पूर्वक उसे ही धारण करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि उचित से कम धारण किया जायगा तब तो हानि है ही, परन्तु यदि उच्छृङ्खलता पूर्वक समता और ममता-आसक्ति युक्त दया तथा विवेक रहित बाह्य वस्तु मात्र का त्याग रूप शुष्क वैराग्य एवं स्थाई श्रद्धा रहित केवल भावावेशिता (क्षणिक उमंग) मात्र की

भक्ति या आन्तरिक विवेक और विषय-प्रति दोष-दृष्टि रहित मात्र ऊपरी कड़े साधन, अधिक व्यवहार की वृद्धि, नौताय (झाड़-फूँक) तथा प्रायः वैदाय (दवा दर्पण करना-नाड़ी देखना) इत्यादि साधु के श्रेणी विरुद्ध व्यवहार धारण करने से अपने सदाचरण में प्रथम हानि होगी, अपने को दुःख-अशान्ति होगी, पुनः उस दुराचरण द्वारा समस्त आश्रयी जनों को दुःख-अशान्ति की प्राप्ति होगी। अतः जितने आचरण धारण करने से न्याय पूर्वक अपने को और अन्य प्राणियों को सुख-शान्ति की प्राप्ति हो, विवेकी को उतना ही धारण करना उचित है।

प्रश्न—तेज प्रतापी पुरुष वही है सबके प्राणों का प्यारा—इस का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ का अभिप्राय ऐसा है कि जो उल्टे-पल्टे साधन और श्रेणी से विरुद्ध, अनुचित व्यवहारों में न फँसकर सदैव उपर्युक्त सदाचरणों का ग्राही और श्रेणी युक्त मध्यवर्तीय व्यवहार को रखने वाला होता है। उसके द्वारा उसका स्वतः और अन्य अधिक प्राणियों का कल्याण होता है। उसके उत्तम सदाचरण और योग्य व्यवहार के प्रभाव से प्रभावित होकर अधिक मनुष्य कल्याण-मार्ग में लग जाते हैं, वह सर्व सज्जनों का प्राणप्रिय (अतिशय प्रेम-पात्र) हो जाता है। अतएव जिसके सदाचरणों के प्रभाव से प्रभावित होकर अधिक मनुष्य अच्छे

मार्ग में लग जायँ; उसी को तेजवान् और प्रतापी व्यक्ति कहा जाता है, वही सज्जनों का प्रेम-पात्र होता है।

२३—क्षमा अंग की पुष्टता।

चाहै निज पर घात करै कोइ, चाहै प्राणों से मारा। दण्ड न देवै उसको तिल भर, क्षमा अंग से वो हारा॥१३॥

चाहे अपने ऊपर कोई चोट पहुँचावे, चाहे प्राणों से मार डालने पर ही तत्पर हो जाय। परन्तु इतने पर भी क्षमाशील उस अपराधी को किञ्चित् भी दुःख न दें, आपके क्षमा अंग से वह (अपराधी) अपने आप हार जायगा॥

प्रश्न—संसार में लोग कहते हैं 'हनी को हना, पाप दोष न गना।' अर्थात् अपराधी से बदला अवश्य लेना चाहिये और आप कहते हैं कि कोई प्राणों से मार डालने तक तत्पर हो जाय, तो भी अपराधी को दण्ड नहीं देना चाहिये। (किञ्चित् बदला नहीं लेना चाहिये) फिर इसमें क्या उचित माना जाय?

उत्तर—(हनी को हना पाप दोष न गना।) ऐसा कहने वाले भाई लोग भूले हैं। किसी पागल मनुष्य को अपनी आँख फोड़ते देख कर हमें भी अपनी आँख नहीं फोड़नी चाहिये। किसी दुर्गुणी द्वारा सताये जाने पर हम भी दुर्गुणी बनकर उसको सताने लगे, तो कुत्तों के समान मेरी भी बुद्धि हुई। एक कुत्ता 'भों' किया, दूसरा कुत्ता उसे

काटने दौड़ा । प्रथम हमारे ऊपर अपराध करने वाला दोषी ठहरा, पुनः उससे बदला लेकर हम भी उसी के समान दोषी ठहरे । फिर दोनों में क्या अन्तर रहा ? कुछ नहीं । 'चातुर वही है, जो पातुर से बचा कर चले !' नाशवान् मायावी वस्तुयें तो अन्त में छूट ही जायँगी । फिर नाशवान् वस्तु की हानि के पीछे पड़कर जो अपराधी से बदला लिया जायगा। उस पाप का फल दुःख स्वयं भोगना पड़ेगा । और बदला लेने से अपराधी का भी मन अधिक दुखी होकर वह पुनः पाप कर्म में विशेष प्रवृत्त हो जायगा । इसलिये अपने और अपराधी (दोनों) के सुधार-कल्याण के लिये सर्वथा क्षमा करना ही उत्तम है, बदला लेना नहीं ।

प्रश्न—कोई हमें गाली देवे तो उसके प्रति हम क्या करें ?

उत्तर—उसको यदि आप को गाली देने में सन्तोष मिलता है, तो उसे दिल खोल कर गाली देने देवें और आप चुप रहें । जब तक कोई अस्त्र-शस्त्र लेकर मार न देवे, तब तक यदि विवेक हो तो अपने को क्या चोट लग जाती है ? आप उसके प्रति यह सोचिये कि यह भी हमारा एक भूला भाई है, इसकी बुद्धि भी ठीक हो जाती तो बड़ा अच्छा था । यह हमें गाली देकर अनुचित कर्म रूप पाप करके अपनी हानि कर रहा है । यह विचारा बड़ा दुखी है । अतः सदैव यह दया क्षमा का पात्र है ।

प्रश्न—यदि कोई हमें अस्त्र-शस्त्र लेकर मारने आवे तो उस समय क्या करें ?

उत्तर—सर्वोत्तम तो यह है कि उसके सामने शिर झुका कर खड़ा हो जाय और उससे कह दे कि—भैया ! लीजिये, जितना मारना हो मार दीजिये या बिल्कुल मार डालने की भावना हो तो मार ही डालिये। आप के सामने यह नश्वर काया अर्पित है।

उदाहरण—एक उदण्ड मनुष्य ने एक महात्मा को मारने के लिये कुछ मनुष्यों से कहा। धीरे-धीरे यह बात महात्मा तक पहुँची। जब आधी रात का समय आया, तब महात्मा ने हाथ में कमण्डलु लिये हुए और खड़ाऊँ पहने उस उदण्ड मनुष्य के यहाँ जा पहुँचे। वह मनुष्य द्वार के एक खुले कमरे में सो रहा था। महात्मा जी गये और उसकी चारपाई के पास पैर की ओर खड़ा होकर मन्द-मन्द स्वर से जगाने लगे और कहने लगे—भैया ! उठो, हम आप के घर में अँधेरी और आधी रात के समय में अकेले आ गये हैं। आप हमें निर्भयता पूर्वक मार कर सन्तुष्ट होइये। वह मनुष्य सोते से जगा और महात्मा के विनम्र वचनों को सुन कर क्षमा के प्रभाव से प्रभावित होकर काँप उठा और पानी-पानी (अतिलज्जित) हो गया। और महात्मा के चरणों में विह्वल होकर गिर पड़ा तथा विनम्र भाव से क्षमा माँगा। महात्मा की यह सच्ची वीरता, निर्भयता तथा क्षमा है। ऐसे ही हमें बनना चाहिये।

परन्तु यदि इतनी शक्ति हम में न हो, तो किसी को मारने के लिये आते देख कर और उसके पैरों पर पड़कर न

मारने के लिये क्षमा माँग लेनी चाहिये या वहाँ से कहीं पृथक् हट जाना चाहिये। परन्तु प्रतिहिंसा नहीं करनी चाहिये, यही सच्ची वीरता है।

प्रश्न—हमारे घर या खेत पर कोई आकर हठात् अधिकार जमाना चाहता है, उस समय अपने क्षमा अङ्ग को कैसे सुरक्षित रखें ?

उत्तर—यदि अपने में उतनी शक्ति हो, तो घर-खेत-जिसपर वह अपना अधिकार जमाना चाहता है, उसे छोड़ देवे और उसे अधिकार जमाने देवे। यह तो कल्यार्थी के लिये उत्तम ही है। परन्तु वास्तविक बात तो यह है कि इस प्रकार क्षमा करना सबके लिये साध्य नहीं है। तो फिर क्या करना चाहिये ? तो उसके लिये सरल उपाय यह उचित प्रतीत होता है कि उस अपराधी से प्रेम और न्याय के बल पर कहे कि भैया ! यह खेत या घर तो हमारा है। फिर इसपर आप अनुचित रूप से अपना अधिकार क्यों करना चाहते हैं ? इत्यादि उसे समता पूर्वक समझावे। यदि इतने पर वह नहीं मानता है तो गाँव, पड़ोस तथा मोहल्ला के भाई लोगों में यह बात उपस्थित करे। यदि उनके समझाने से भी नहीं मानता है या वे लोग भी पक्षपात या अन्याय कर रहे हैं। तो पंचायत में इसका निवेदन करना चाहिये। यदि वहाँ से इसका उचित निर्णय न हो, तो सरकार के बड़े-बड़े न्यायालयों में इसका निवेदन करे। इस प्रकार न्याय के बल पर अपनी

वस्तु की सुरक्षा करनी चाहिये। परन्तु यह सब करते हुए भी अपराधी को कभी गाली न दे, कटु न कहे, मार-पीट न करे, उसकी ईर्ष्या-निन्दा अहित न करे, प्रारब्ध-वश उसकी किसी प्रकार हानि हो जाने पर, जैसे—उसके पुत्र मर जाने पर या शरीर में रोग लग जाने पर इत्यादि कोई भी उसकी हानि या दुःख देख कर अपने मन में प्रसन्नता न हो और उसके सुखों को देखकर अपने मन में जलन न हो। सारांश—उसका अहित किसी प्रकार भी न चाहे। बल्कि अपने मन में उसके प्रति दया, क्षमा और समता का भाव सदैव बनाये रखे सदैव मन में यही सोचे कि इस अपराधी को शान्ति मिले। इस प्रकार भाव रखकर उससे न्याय का वर्ताव करना-कराना कोई पाप नहीं है। बल्कि क्षमा ही है।

अन्त में यह चेतावनी दी जाती है कि जो मोक्ष साधक एवं मुमुक्षु हैं, उन्हें सब दुःख-हानि सहन कर सर्वथा क्षमा करना ही लाभप्रद है।

प्रश्न—ऐसा क्षमागुण कैसे पुष्ट हो ?

उत्तर—(१) अपराधी को नादान, बालक वत् तथा भूला समझने से। (२) अपना कल्याण का लक्ष्य रखने से। (३) अपराधी का हित चाहने से। (४) मायावी पदार्थों की आसक्ति त्यागने से। (५) क्षमा से अपना और अपराधी तथा जन-समाज का सुधार समझने से। (६) क्षमा से त्रय-ताप की शान्ति समझने से। (७) क्षमाशीलों के उदाहरण

पढ़ने-सुनने से। (८) कठिनता सह कर क्षमा करने का अभ्यास करने से। क्रोध-रहित कोमल चित्त बनाने से—क्षमा अङ्ग पुष्ट हो जाता है।

यह खूब ध्यान रखना चाहिये कि क्षमा करना निर्बलता नहीं है। जो क्षमा करता है, वही सच्चा वीर है। बदला लेना ही निर्बलता है। अस्त्र-शस्त्र बाँधना ही भीरुत्व (डरपोकपन) का प्रधान चिह्न है। जो सच्चा निर्भय और वीर है, वह अस्त्र-शस्त्र नहीं बाँधता। निर्भय पुरुष के लिये शस्त्र की क्या आवश्यकता है।

साखी—गम समान भोजन नहीं, जो कोई गम को खाय।
अम्बरीष गम खाइया, दुर्वासा बिललाय ॥ १ ॥
क्षमा बड़ेन को चाहिये, छोटे को उत्पात।
क्या विष्णू की घटि गयी, भृगु ने मारी लात ॥२॥
वो तो वैसा ही हुआ, तू मति होय अयान।
वो निर्गुणिया तै गुणवन्ता, मति एकै में सान ॥३॥

२४—धैर्य अद्रोह के लक्षण और विधि।

भारी विपति पड़े जो ऊपर, चलित न होवे निजपद से।
धीरज धरि कटिबद्ध रहै भल, पारख अटल न टल पद से॥

यदि बड़ीभारी विपत्ति ऊपर पड़ जाय, तो भी अपने कल्याण-पद से हटना नहीं चाहिये। धैर्य धारण करके भली-भाँति कमर कस कर तत्पर रहना चाहिये, अपना शुद्ध पारख स्वरूप अविचल-अविनाशी है; अतः उस पद में स्थित होकर

के देहोपाधिक उलझनों में पुनः चञ्चल नहीं होना चाहिये।

प्रश्न—ऊपर का क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ का भाव यह है कि सामाजिक और राजनैतिक उपद्रव आने पर, किसी के राग-द्वेष करने पर, हिंसकी जन्तुओं द्वारा घिर जाने पर, सूखा-बाढ़ा, पानी पत्थर पड़ने पर, कुटुम्ब-धन का वियोग होने पर, शरीर में साधारण से कठिन-से-कठिन तक व्याधि लग जाने पर, मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि की भावना प्रबल उठने पर, दुराचारियों द्वारा धर्म-नाश का समय आने पर, किसी व्यक्ति या समाज द्वारा अपनी निन्दा-अनादर प्राप्त होने पर इत्यादि, भारी-से-भारी विपत्ति आने पर अपने कल्याण पद से हटना नहीं चाहिये और अपने धर्म को छोड़ना नहिं चाहिये।

समाज और देश एक समुद्र वत् है, उसमें सुख-दुःख, हानि-लाभादि के ज्वार-भाठे आते ही रहते हैं। उसमें घबराना नहीं चाहिये। संसार के प्राणी मन वश हैं, स्वतन्त्र हैं। अतः किसी के राग-द्वेष करने पर निश्चिन्त रहना चाहिये। सब जीवों को पन्थी समझ कर कुटुम्ब वियोग की उलझनि को बिल्कुल शान्त कर देना चाहिये। निर्धनता और शारीरिक रोगों को अपना प्रारब्ध भोग समझ कर सन्तोष और दृढ़ता पूर्वक भोग लेना चाहिये। प्राण-संकट आने पर अपने प्रारब्ध-भोग पर निर्भर होकर और अपने अखण्ड चेतन स्वरूप को अविनाशी जान कर निर्भय और दृढ़ हो जाना चाहिये। यह दृढ़ निश्चय

रखना चाहिये कि इस साढ़े तीन हाथ मल-पिण्ड काया को कौन कहे (अन्होंन) सारे संसार का यदि महा प्रलय हो जाय, तो भी मेरे शुद्ध सच्चिद्शान्त स्वरूप की किञ्चित् भी हानि नहीं हो सकती। अपमान-निन्दा-अनादर को भी अपने दोष या प्रारब्ध का फल समझ कर तथा अपने कल्याण-साधन में सहयोगी समझ कर दृढ़ता पूर्वक सहते हुए सदाचरण-निष्ठ रहना चाहिये।

मन में कामादि वासनाओं के उठने पर उन्हें विवेक से, सद्ग्रन्थ-अध्ययन से, सन्त-दर्शन से, सन्त-सेवा से तथा सत्संग से मिटा देना चाहिये। यदि विवेक की निर्बलता हो और अन्य साधनों से वासनाओं की प्रबलतायें शीघ्र न मिटें, तो सदैव सत्संग में निवास करते हुए स्थूल भोग-क्रिया से बचते रहना चाहिये और यह समझना चाहिये कि कामादि कोई भी वासना परिवर्तनशील क्षण-भंगुर तथा आने-जाने वाली हैं, सङ्कल्प मात्र हैं। स्थूल भोग न पाने से और सद्ग्रन्थ-अध्ययन, सन्त-सेवा, सत्संग, सन्त-दर्शन और वैराग्य पूर्वक विवेकादि साधन करते रहने से ये कामादिक मनोदल अवश्य नष्ट हो जायँगे। अतः धैर्यपूर्वक कामादि को ध्वंस करते रहना चाहिये। यदि धर्म-नाश का समय आ जाय, तो धर्म की वेदी पर सहर्ष अपने प्राण को विसर्जन करके धर्म की रक्षा करनी चाहिये। धर्म-रक्षा के सामने प्राण का कोई मूल्य नहीं है। धैर्यवान् धर्म-वीर धर्म के सामने प्राण का मोह नहीं करते।

मान लीजिये ! कोई दुराचारी शक्तिशाली मनुष्य किसी वैराग्यवान् सन्त के पास एक सुन्दरी नवयुवती ले जाकर कहता है कि या तो आप इस युवती से सम्बन्ध कीजिये या आपको फाँसी दी जायगी । तो अन्त में सच्चा वैराग्यवान् उस सुन्दरी रूप फाँसी को ओर तनिक भी दृष्टि न करके रस्सी की फाँसी सहर्ष अपने गले में पहन लेगा । वैराग्यवान् को फाँसी प्रिय है । परन्तु सुन्दरी रूप फाँसी नहीं । तनिक समय शारीरिक कष्ट इसमें अवश्य है, परन्तु यही सच्ची धर्म-वीरता है । भीरु मनुष्य थोड़ा शारीरिक कष्ट से पाँच मिनट के लिये भले छुट्टी पा जाय । परन्तु अशौच, दुःखप्रद सुन्दरी रूप फाँसी पर लटक कर वह जन्म-जन्मान्तर रोया करेगा । सदा-सर्वदा के लिये अपने वैराग्य-धर्म में कलङ्क की टीका लगा लेगा । इसी से साखी ग्रन्थ में कहा है—

"सुन्दरी से सूली भली, बाँचे बिरला कोय ।।"

एक बार पानी उतर जाने पर प्रायः पुनः पानी नहीं चढ़ता । यथा साखी—

'साधू ऐसा चाहिये, ज्यों मोती में आब ।
उतरै तो फिर नहिं चढ़ै, अनादर होय रहाव ।।क.पं.३३२

कल्याण-पथ में धैर्य की बड़ी आवश्यकता है । बिना दृढ़ धैर्य के कल्याण प्राप्त होना तो पृथक् रहा, जैसे-कैसे परमार्थ-पथ में जीवन पर्यन्त निर्वाह होना असम्भव है । मान लीजिये काम वासना उठी और दृढ़ धैर्य नहीं है, तो

मन को न रोक पाने से व्यभिचार में तथा स्पर्श विषय में तुरन्त प्रवृत्त हो जायगा। क्रोध उठने पर झगड़ा-लड़ाई, कटु वाक्य, मार, काट तथा लोभ उठने पर धन-संग्रह के लिये चोरी, घूसखोरी, ठगी, बेइमानी और मोह उठने पर ममता-आसक्ति एवं भय उठने पर भीरु होकर धर्म का त्याग मनुष्य करने लगेगा। अतएव दृढ़ धैर्य की परम् आवश्यकता है।

प्रश्न—पारख अटल न टल पद से—इस का क्या भाव है? कृपया समझाइए।

उत्तर—पारख कहते हैं सर्व परीक्षक अपने चेतन स्वरूप को; वह अपना स्वरूप अविचल और अविनाशी है। साधन-बोध पूर्वक उस स्वतः स्वरूप में स्थित होकर प्रारब्ध शरीर रहे तक शरीर-मन के दुःस्वभाओं को और देश-समाज तथा वस्तु-प्राणी के अनुकूल-प्रतिकूल द्वन्द्वों को भिन्न परखते हुए स्वरूपस्थिति में दृढ़ रहना चाहिये। देह-स्वभाव वश या देश-समाज, प्राणी-पदार्थों के द्वन्द्व-तरङ्गों में बहकर स्वरूपस्थिति से पतन नहीं होना चाहिये।

द्रोह करै या कष्ट देय कोइ, बदला चहो न तुम दिल से।
यह अद्रोह गहो घट भीतर, नशि जावे सब दुख जड़ से १४

तुम्हारे प्रतिकूल झगड़ा वाली क्रिया करके कोई तुम्हें कष्ट देवे, तो तुम अपने हृदय से उससे (द्रोही से) बदला न चाहो। यह निर्वैरत्व-गुण अपने हृदय में धारण करोगे, तो तुम्हारे मूल से सब दुःख नष्ट हो जायँगे ॥ १४ ॥

प्रश्न—ऊपर का भाव क्या है ?

उत्तर—वैरी का वैर स्मरण रखने से और अपराध का बदला लेने से वैर बढ़ता रहता है। दोनों ओर से हिंसा, अशान्ति, क्लेश बढ़ते हैं। आगामी त्रिविधि ताप के कर्म बनते हैं और वैरी का वैर भूल जाने से, बदला न चाहने से तथा अपराधी के प्रति हित की भावना हो जाने से शीघ्र दोनों ओर से वैर मिट जाता है। प्रायः अपराधी भी सज्जन हो जाते हैं। हिंसा की वृत्ति शान्त होकर निर्वैरत्व आने पर आगामी त्रिविधि ताप हेतुक कर्म नहीं होते। अतः वैर-विरोध और तत्सम्भव त्रिविधि ताप रूप समस्त क्लेशों का मूल सहित संहार हो जाता है। यदि अपराधी अपनी कुचालता किया ही करे, तो भी अपनी ओर से पूर्ण क्षमा और निर्वैरत्व धारण कर लेने पर अपना समस्त दुःख नाश हो जायगा। इसलिये दुःखों से मुक्त होने के लिये सर्व प्राणियों से वैर-विरोध त्याग कर निर्वैरत्व-गुण धारण करना चाहिये। यथा—चौपाई—
निर्वैरी वरतै जग माही। मन वच कर्म घात कोउ नाहीं ॥पं०॥

२५--स्वस्वरूप का लक्षण, विषयों से वैराग्य की विधि।

अजर अमर अविनाशी जानो, सत्यस्वरूप जीव अपना
पंच विषय परपंच भयंकर, मोह विवश फिर ना जरना

अपना चेतन स्वरूप अजर, अमर, अविनाशी और सत्य समझो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पंच विषय

कठिन दुःखदायी (बन्धन प्रद) हैं, अतः आसक्ति वश पुनः इनमें पड़कर अब नहीं जलना चाहिये ॥

प्रश्न—अजर, अमर, अविनाशी और सत्य पद का विशेषण देकर और अपने चेतन स्वरूप को जानना बतला कर क्या भाव दर्शाया गया है ?

उत्तर—'अ' कहते हैं नहीं को; 'जर' कहते हैं वृद्धावस्था को, और 'जर' कहते हैं भस्म को, अर्थात् अजर कहते हैं जो वृद्धादि अवस्था रहित तथा अग्नि आदि से न जलने वाला हो। 'अ' कहते हैं नहीं को; 'मर' कहते हैं मृत्यु को, अर्थात् अमर कहते हैं जो कभी मृत्यु को न प्राप्त हो। 'अ' कहते हैं नहीं को, 'विनाशी' कहते हैं नाशवान को, अर्थात् अविनाशी कहते हैं कभी न नाश होने वाले को। जो भूत-भविष्य-वर्तमान (तीनों कालों) में एक-सा रहने वाला है, उसे कहते हैं 'सत्य'। इस प्रकार अजर, अमर अविनाशी और सत्य-पद का अपने चेतन स्वरूप को विशेषण देकर उसे ही जानने को कहा है। यहाँ का अभिप्राय ऐसा है कि अपना स्वरूप अजर, अमर, अविनाशी और सत्य तथा अखण्ड, नित्य-तृप्त है। ऐसा अपने को जान कर सदैव सन्तुष्ट रहो। और जो ये शब्द स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—पाँच विषय हैं। ये बड़े कठिन दुःखदायी और बन्धन रूप हैं। अतः इनमें आसक्त होकर फिर से इनमें न जलो।

कान, चमड़ी, नेत्र, जिह्वा और नाक—इन पंच ज्ञान-

इन्द्रियों से क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—इन पंच विषयों के भोगों में मनुष्य आनन्द या मजा मानता है। वह अधिक-से-अधिक मजा लेने के लिये यत्नवान् और उत्सुक रहता है। परन्तु जितने ही इन्द्रियों से विषय भोग भोगे जाते हैं, उतनी ही तृष्णा-चिन्ता-उद्विग्नता और चंचलता बढ़ती है। जितना ही जो मजा चाहता है उतनी ही उसे अधिक सजा मिलती है। बल्कि उससे भी कई गुणा अधिक दुःख प्राप्त होते हैं। जिसके अङ्ग में दाद है, वह उसके खुजलाने में आनन्द मानता है और खुजलाने के पश्चात् अङ्ग में जलन होती है, तब उस जलन को दुःख मानता है। जिसके दाद नहीं है, वह खुजलाने के आनन्द और जलन के दुःख—इन दोनों के अनुभवों से रहित है। न वह अपने अङ्गों में दाद होना चाहता और न खुजलाने का सुख और जलन का दुःख इन दोनों का अनुभव ही करना चाहता है। गाँजा-भाँग के व्यसनी को गाँजा-भाँग मिलना सुख है। और न मिलना दुःख है। परन्तु दुर्व्यसन-त्यागी सदाचारी गाँजा-भाँग की प्राप्ति के सुख और अप्राप्ति के दुःख—दोनों अनुभवों से मुक्त हैं। इसी प्रकार समस्त विषय भोगों के प्रति समझ लेना चाहिये। जो जिस भोग में जितना ही आसक्त होता है, वह उस भोग के पीछे उतना ही चंचल, विकल और कष्टित रहता है मन, वच, कर्म से मनःकल्पित भोगों को त्याग देने से दुःखों की अत्यन्त समाप्ति हो जाती है।

अविद्या पूर्ण मन से कल्पित स्पर्श सुख का स्मरण करके अपने मन, वचन और कर्म में विषय-वासना की क्रिया मनुष्य प्रकटाने लगता है। उस रंच मात्र कल्पित भ्रम-सुख के पीछे जो पहाड़ भर दुःख लगे हैं, उस समय उसका स्मरण मनुष्य नहीं करता। अधिक विवेक न हो तो विषयासक्त संसारियों की दुर्दशा देख कर ही मन को निर्विषय और सन्तुष्ट करना चाहिये। फिर मल, मूत्र, रक्त, पीब, वीर्य और दुर्गन्ध से भरे हुए इस हड्डी-मांस और चर्म रूप अशुद्ध, असत्, जड़, दुःख रूप काया में सुख का भला कौन-सा स्थान है ?

२६-भोगों की नश्वरता, हन्ता का त्याग, निर्भय निष्काम।

नाशवान् हैं भोग सकल जग, अभय अकाम सदा रहना
हन्ता ममता दूर करो सब विषय भास सबहीं तजना१५

संसार के समस्त भोग-पदार्थ नाशवान् हैं, अतः सदैव निर्भय और निष्काम रहो। सब अहंकार और आसक्ति को दूर डाल दो और पाँचों विषयों के सर्व सुख-प्रतीत को त्याग दो॥१५॥

प्रश्न—नाशवान् हैं भोग सकल जग—इसका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ का भाव यह है कि संसार के जितने सुख रूप माने हुए भोग हैं, वे सब नष्ट हो जाने वाले हैं। जैसे— स्त्रियों के मधुर गायन, रेडियो-ग्रामोफोन, सिनेमा-फिल्म के गाने और वार्तालाप, सम्मान-स्तुति-प्रशंसा के वाक्य समूह,

मित्रों की प्रेम पूर्ण वार्ता, भामिनी की मीठी मुस्कराहट युक्त विषय भरी वाणी। मित्रों का प्रेम मय स्पर्श; सुन्दर सुकोमल सुकुमार सुपुत्रों को प्यार दृष्टि से हृदय से लगाना, विधुवदनी-मृगलोचनी का अङ्ग भर आलिङ्गन, गद्दे तकिये पलङ्ग मशहरी के आराम। मोटे, पतले, छीटदार, गोटे-पट्टेदार, चिकने विविध रंग-विरंगे कम या अधिक मूल्य के वस्त्र। कुर्ती, धोती, कमीज, कोट, पैण्ट, हैट, बुशशर्ट, टाई, कुर्म के मुलायम जूते, शौकीनी चश्मे, घड़ी, विविध अंग्रेजी बाल इत्यादि के स्पर्श। चिराग, गैस, बिजली के रंग-विरंगे विविध प्रकाश। स्त्री-पुत्र, मित्र-बन्धु तथा अपने शरीर के रूप-रंग, सुन्दर मकान, मठ-मन्दिर, शिष्य-शिष्या, शोभा युक्त उद्यान, शहर-बाजार के आकर्षक दृश्य, सिनेमा-नाटक-नाच तथा विविध वस्तु और स्त्री-पुरुषों के आकर्षक सौंदर्य तथा अपने शरीर का यौवन, रूप, लावण्य इत्यादि। विविध पकवान, शर्बत, दुग्ध दही, घृत, अनेकों फल, मेवा, व्यंजन आदि के मीठे-खट्टे, चर्फरे, कसाय, नमकीन तथा तिक्त आदि षट्रस। इत्र, सुगन्धित तेल, उद्यानों के सुपुष्पों के सुगन्ध आदि और भी धन-शासन, सेवक, रक्षक, समाज कला-कौशल, विज्ञान-चातुर्य, नाना वाहन अस्त्र-शस्त्र जहाँ तक पाँचों इन्द्रियों के पंच विषय भोग हैं, जिनमें अज्ञानी मन सुख मानता है—ये सब नाशवान् क्षण भंगुर हैं। जब तक शरीर यौवन अवस्था सम्पन्न और निरोग्य रहता है और उपर्युक्त भोग प्राप्त रहते हैं, तब

तक मनुष्य समझता है "अब इन भोगों का कभी वियोग न होगा, ऐसे मैं सदा जवान बना रहूँगा और सब भोगों को यथासंकल्प निरन्तर भोगूँगा।" परन्तु यह सब मन के तरङ्ग एक दिन नष्ट हो जाते हैं, कहीं स्त्री का वियोग होता है, कहीं पुत्र का मरण होता है, कहीं धन-गृह और मान-बड़ाई का नाश होता है, कहीं अधिकार, पद, शासन छूट जाते हैं, जवानी चली जाती है, रोग घेर लेते हैं इत्यादि। भला इस नदी की बाढ़ के सामने आने-जाने वाले मान-बड़ाई, धन-कुटुम्ब, समाज-संयोग, ऐश्वर्य-जवानी से क्या स्थिर सुख मिलेगा? जिस शरीर का जीव को बहुत अभिमान है वह शरीर ही एक मिनट अपने वश नहीं है। इन्द्र-धनुष के समान प्रतिक्षण इसका परिवर्तन होता रहता है। कौमार एवं यौवन अवस्था का लावण्य, माधुर्य और सौंदर्य बहुत ही थोड़े दिन रहता है। लावण्य-माधुर्य से सम्पन्न जिनका रूप रसीला और मनोहर प्रतीत होता है। बहुत ही थोड़े दिनों में वही मनुष्य भद्दा, कुबड़ा, निर्बल, कांति-हीन, झुर्रियों से कुद्रूप दिखलाई देता है। विविध वस्त्र-अलङ्कारों से जिस शरीर को लोग बहुत सजाते हैं, आज-कल में जीव के निकल जाने पर वह शरीर किसी गड्ढे में पड़ा-पड़ा सड़ कर मिट्टी हो जायगा। जो आज बहुतों का प्राण-प्रिय और शासक है, वही चार दिन में राख की ढेरी हो जाता है या उसे चील्ह, गीध और कौवे खा लेते हैं। प्रातःकाल का प्राकृतिक दृश्य सुन्दर, सुहावन,

शीतल तथा प्रिय भासता है। परन्तु दोपहर का दृश्य रूखा-फीका हो जाता है। अतः संसार के समस्त भोग नाशवान् क्षण भंगुर हैं।

प्रश्न—अभय अकाम सदा रहना—इसका क्या भाव है ?

उत्तर—स्त्री-पुत्रादि कुटुम्ब छूटने का भय। धन-यौवन नाश का भय। मान-बड़ाई-मर्यादा की हानि का भय। रोग-व्याधि लगने का भय। शरीर छूटने का भय इत्यादि, सभी भय का सर्वथा त्याग कर देना— अभय रहना है। और स्त्री पुत्र, कुटुम्ब, धन, मान, बड़ाई, मर्यादा जहाँ तक पाँचों विषयों के भोग शरीर-सुख हैं, इन सबों की इच्छा से सर्वथा रहित हो जाना ही—अकाम रहना है। यहाँ का ऐसा अभिप्राय है कि जो भवितव्य है वह होकर ही रहेगा, छूटने वाली समस्त वस्तुयें एक दिन अवश्य छूटेंगी। वह कोई भी दिन हो, आज ही के समान वर्तमान रहेगा। जो छूटने वाली वस्तु है, वह अन्त में रह नहीं सकती। इसलिये इन सब पदार्थों के छूटने का भय और मिलने या सुरक्षित रहने की कामना सर्वथा त्याग कर सर्वथा-सर्वदा-सर्वत्र निर्भय और निष्काम रहना चाहिये। यथा—

दोहा—जासु मोह सब जीव को, डर उपजत है जान।
सो देही छिन भंग है, ठहरै नाहिं निदान॥
नाशवान् जो वस्तु है, सो तो ठहरै नाहिं।
याते लोभ न कीजिये, यह निश्चय मन माहिं॥
(वैराग्य शतक)

प्रश्न—हन्ता ममता दूर करो सब—इस का क्या भाव है?

उत्तर—मैं देह हूँ, सुन्दर हूँ, कुलीन हूँ, यौवनवान् हूँ, धनवान् हूँ, श्रीमान् हूँ, कुटुम्बवान् हूँ, बुद्धिमान् और विद्वान् हूँ, शक्तिशाली और वीर हूँ, मर्यादित पुरुष हूँ, सर्वश्रेष्ठ हूँ, सर्व पूज्य हूँ, ज्ञानवान् हूँ, सर्व शिरोमणि हूँ इत्यादि भावना ही—हन्ता या अहंकार है।

यह मेरी देह है, यह मेरी सुन्दरता है, यह मेरी जाति है, यह मेरी जवानी है, यह मेरा धन है, ये मेरे कुटुम्ब हैं, यह मेरी बुद्धि और विद्वता है, यह मेरी शक्ति और वीरता है, यह मेरी मर्यादा है, यह मेरी श्रेष्ठता और पूज्यता है, यह मेरी सर्व कुशलता है, ये सब सदा मेरे पास रहेंगे या रहें, कभी न छूटें। इन सबों को मैं नित्य भोगूँ, हमारे पास ये सदा बने रहें। इत्यादि भावना ही—ममता या आसक्ति है। यहाँ का तात्पर्य ऐसा है कि जब इन सब उक्त पदार्थों से भिन्न मैं चैतन्य हूँ, तब देह और देह के रूप-रंग और ऐश्वर्य में कैसे हूँ? और ये सब भोग पदार्थ जब विजाति जड़ हैं, तब ये मेरे क्या हैं? अर्थात् न मैं देहादिक भोग पदार्थ हूँ और न ये देहादिक भोग पदार्थ मेरे हैं। ये सब देह और भोग पदार्थ विजाति, जड़ और क्षण-भंगुर नाशवान् हैं और मैं शुद्ध चैतन्य पारख स्वरूप हूँ, ऐसा समझ दृढ़ करके देहादिक दृश्य पदार्थों में जो हन्ता-ममता—मैं-मेरी पना लगी है, उसको सर्वथा त्याग देना चाहिये।

प्रश्न—विषय भास सबहीं तजना—इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध ये पञ्च विषय हैं। भास कहते हैं प्रतीत को, परन्तु यहाँ उपरोक्त पाँचों विषयों में सुख का प्रतीत होना—भास माना गया है। यहाँ का अभिप्राय ऐसा है कि रेडियो, ग्रामोफोन, सिनेमा तथा स्त्री आदि के विषय भरे गाने या वार्तालाप तथा मान-बड़ाई-प्रशंसा के और राग युक्त शब्दों में। विविध फैसन युक्त वस्त्र-पहिनाव तथा गद्दे, तकिये आदि के स्पर्श, स्त्रियों के स्पर्श (कल्याण इच्छुक स्त्रियों के लिये पुरुषों का स्पर्श।) एवं समस्त कोमल माने हुए सुखदायी स्पर्शों में। नाच-सिनेमा-नाटक-शहर-बाजार के दृश्य और अपने देह के तथा अन्य नर-नारियों के रूपों में। मीठे, खट्टे, तिक्त, चर्फरा, कसाय तथा नमकीन आदि षट्रसों में। इत्र फुलेल आदि गन्धों में, इत्यादि जहाँ तक पाँचो विषयों का पसारा है, इन भोगों में जो सुख का प्रतीत होता है। इस विषय-सुख-भास को सब प्रकार से सर्वथा त्याग देना चाहिये। क्योंकि ये विषय भोग वास्तव में सुख रूप नहीं हैं। बल्कि (१) अज्ञान से विषयों में सुख की कल्पना करके अनादि से अभ्यास करके आदत बना ली गयी है। (२) माना हुआ वह कल्पित सुख भी अत्यन्त अल्प अवधि वाला, क्षण भंगुर, नाशवान् है। (३) भोगासक्ति से हरक्षण कमी, अतृप्ति, वियोग का अनुभव होता रहता है, अतएव तन, मन तथा

इन्द्रियों में हरक्षण चंचलता बनी रहती है। (४) प्रारब्ध (पूर्वकर्म) पुरुषार्थ, बहुत मनुष्य, समय, वस्तु आदि के संयोग से तथा बहुत परिश्रम से मिलने वाले होने से ये भोग विवश और कष्ट साध्य हैं। (५) भोग भोगने में तृष्णा उत्पन्न होती है, अतः जीवन दुःख मय हो जाता है। (६) भोग भुलावन रूप हैं। (७) भोगों की आसक्ति से सबकी विवशता लेनी पड़ती है, अतः जीवन परतन्त्र हो जाता है। (८) भोगों की आसक्ति से संसार के समस्त जाल ओढ़ लेने पड़ते हैं। (९) शारीरिक और मानसिक शक्ति से हीन होकर मनुष्य स्वार्थ-परमार्थ के कर्तव्य से हाथ धो बैठता है। (१०) भोगों की आसक्ति वश विलासी पदार्थों को एकत्र करने के लिये और अपने इन्द्रिय-सुख के लिये चोरी, डकैती घूसखोरी, बेइमानी, ठगाई, झूठ, छल, घात, हिंसा तथा व्यभिचारादि सब पाप करके मनुष्य महान पाप रूप बन जाता है, जिसका परिणाम लोक-परलोक में दुःखों की प्राप्ति होती है। (११) मनुष्यजन्म प्राप्त कर जो करना चाहिये था 'विषय-वासना, संसार-प्रपंच त्याग कर शान्ति-स्थिति एवं मोक्ष लाभ।' वह कल्याण-कर्तव्य विषयासक्ति वश छूट जाता है। (१२) विषयासक्ति वश आगे पुनः कर्मानुसार नाना जन्म धारण कर अपार दुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिये पाँचों विषयों के कल्पित सुख मानन्दी को सर्वथा नाश करना चाहिये।

२७--प्रमाद का विस्तृत विवेचन और निराकरण।

निज स्वरूप में सजग रहै नित, सब परमाद हटाई है।
निरहंकार पुरुष सो जग में, शान्ति सदा फल पाई है॥

सब प्रमाद को त्याग कर अपने पारख स्वरूप स्थिति में सावधान रहना चाहिये। संसार में वह निराभिमानी विवेकी पुरुष सदैव रहने वाला शान्ति रूपी फल को प्राप्त होता है।

प्रश्न—प्रमाद किसे कहते हैं ?

उत्तर—प्रमाद कहते हैं—भूल को, भ्रम को, असावधानी को और अभिमान के नशा को।

अपने पारख स्वरूप का स्मरण न रहना और अपने कल्याणकारी सद्गुणों का स्मरण न रहना—भूल है।

पाँचों विषयों के भोगों में और अपने तथा स्त्री-पुत्रादि या किसी नर-नारी के शरीरों में सुख मानना, पवित्र एवं सौंदर्य मानना, सत्य मानना और अहं-मम मानना—भ्रम है।

हमारे कितने दोष निकल चुके हैं और कितने दोष अभी हमारे में विद्यमान् हैं ? कल्याणदायी कितने सद्गुण हमारे में आ चुके हैं और कितने सद्गुण हमारे में नहीं आये हैं ? निकले दुर्गुण पुनः तो नहीं आ रहे हैं या आये हुए सद्गुण फिर नष्ट तो नहीं हो रहे हैं ? कल्याण-साधन में प्रेम-उत्साह और निरन्तर पुरुषार्थ हमारा प्रथम के समान ही है या बढ़ रहा है तथा घट रहा है ? बोध-वैराग्यादिक-भाव प्रगाढ़ होता जाता है या

शिथिल ? यदि उत्तरोत्तर दुर्गुण नष्ट होते ही जा रहें हैं और कल्याणकारी सद्गुण आते ही जाते हैं तथा कल्याण-साधन में प्रेम-उत्साह और पुरुषार्थ निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है तथा बोध-वैराग्यादि-भाव यदि प्रगाढ़ (दृढ़) होता ही जा रहा है, तो बड़े सौभाग्य की बात है। यह सद्पुरुषार्थ का फल है। हमें और अधिक प्रेम-उत्साह और निरन्तर पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र ही अचल स्वरूप-स्थिति में स्थित हो जाना चाहिये। अथवा स्वरूप-स्थिति में सदैव दृढ़ रहना चाहिये। और यदि हमारे दुर्गुण और दुःस्वभाव घट नहीं रहे हैं या नष्ट हुए दुर्गुण पुनः जाग्रत हो रहे हैं तथा सद्गुण आते नहीं हैं और प्रथम के आये हुए सद्गुण शिथिल होते जा रहे हैं तथा साधन के प्रेम-उत्साह और निरन्तर पुरुषार्थ में शिथिलता हो रही है, एवं बोध-वैराग्यादि भाव ठण्ढा पड़ता जा रहा है। तो यह बड़े शोक की बात है। यह मेरे पुरुषार्थ की ही ढिलाई है। यदि ऐसी ही ढिलाई बनी रही, तो स्वरूप-स्थिति होनी तो बहुत ही दूर रही, बल्कि परमार्थ घेरा में जीवन पर्यन्त ठहरा रहना ही कठिन हो जायगा। अतः चिन्ता प्रेम-उत्साह और निरन्तर पुरुषार्थ युक्त कल्यण-साधन में हमें शीघ्रही जुट जाना चाहिये और समस्त दुर्गुण-दल को दलन करके स्वरूप-स्थिति रूप अचल साम्राज्य में स्थित हो जाना चाहिये—इत्यादि, उपर्युक्त बातों की एकान्त में बैठकर नित्य परीक्षा न करना—असावधानी है।

मेरे में तन-मन जड़-जगत् नहीं हैं, मेरे स्वरूप में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि नहीं हैं, मेरे में मन-वासना नहीं हैं। मैं शुद्ध चेतन निर्विकार निराधार हूँ। निश्चित स्वरूप दृष्टि से यह मानना नितान्त सत्य है। परन्तु अज्ञान और विषयासक्ति वश अनादिकाल से यह जीव तन, मन, जड़-जगत् में ग्रसित है। काम, क्रोध, लोभ, मोह और भय आदि दुर्गुणों का कठिन सम्बन्ध हो गया है। इन्द्रियाँ और मन-वासना प्रबल हो गयी हैं। इन्द्रिय-मन-वासना और शरीर यह विकट भुलावन वन है। फिर इसमें निवास करके कुसंग-कुसंयम से अपना बिगाड़ न मान कर, देहोपाधि में अपने को वासना-विवश न मान कर बल्कि अलिप्त बन कर और वाक्यज्ञान का अभिमान भर कर कुसंग-कुसंयम का सेवन करना—असावधानी है।

"मैं धनवान् हूँ, कुलवान् हूँ, स्त्री-पुत्रादि सुखों से सम्पन्न हूँ, बलवान्, बुद्धिमान और विद्वान हूँ, रूपवान्, मर्यादित तथा श्रेष्ठ हूँ। मैं अधिक बोधवान्-वैराग्यवान तथा साधन सम्पन्न और सर्व सद्‌गुण युक्त हूँ। मेरे में परीक्षा-दृष्टि और अनुभव-शक्ति अधिक है। अतः मैं कहीं भी रहूँ, कैसी भी संगत करूँ, कितना भी कुसंग-से-कुसंग का सम्बन्ध हो, कितने ही रजोगुणी वस्तुओं का सेवन करूँ, चाहे जीवन भर हमें कोई सुसंगत न मिले, मेरा तीन काल में अब कभी बिगाड़ होगा ही नहीं। मैं इन्द्रिय और मन-वासनाओं के परे पहुँच गया हूँ, अतः इन्द्रिय मन से दूषित विषयों का सम्बन्ध होने परभी मेरे में कामा-

दिक विकार नहीं उत्पन्न होंगे। यह निश्चय है"—इत्यादि, इस प्रकार का मानना ही—अभिमान का नशा है।

प्रश्न—प्रमाद को हटाने का क्या भाव है?

उत्तर—यहाँ का भाव ऐसा है कि—

भूल—प्रयत्न पूर्वक भूल को मिटा देना चाहिये, अपने पारख स्वरूप का तथा कल्याणदायी सद्गुण-सदाचरणों का सदैव चिन्तन रखना चाहिये।

भ्रम—पंच विषय भोगों में तथा अपने और पराये नर-नारी के शरीरों में सुख नहीं है, उसका सम्बन्ध सत्य नहीं है। बल्कि वे (भोग तथा शरीर) दुःख पूर्ण, जड़, क्षण-भंगुर, असुन्दर (भयंकर) तथा अपवित्र हैं। अतः भोगों में सुखादि भ्रम का नाश करना चाहिये।

असावधानी—असावधानी को पूर्ण ध्वंस कर देना चाहिये। सदैव जाग्रत (जागरूक-सचेत) रहना चाहिये, अपने गुण-दोषों की, अपने साधन रहस्यों की एकान्त में नित्य परीक्षा करनी चाहिये। घटे हुए या कमी साधन आचरणों को प्रयत्न पूर्वक बढ़ाना चाहिये एवं बढ़े हुए साधन-अभ्यास को दृढ़ बनाकर स्थिति-रत रहना चाहिये।

स्वरूप-दृष्टि से समझना चाहिय कि मेरे पारख स्वरूप में तन, मन, जड़-जगत् तथा वासना-कामना का गन्ध तक नहीं है। मैं सर्वथा शुद्ध पारख चेतन रूप हूँ। कुसंग का सर्वथा त्याग कर बोध-वैराग्य और सर्व सदाचरण-सत्संग

पूर्वक जीवन पर्यन्त साधन में रत रहने से मेरा कभी किञ्चित् भी पतन नहीं हो सकता। और साधन पूर्वक अखण्ड बोध-वैराग्य जीवन पर्यन्त धारण रहने से मैं कृतार्थ रूप सदा के लिये मुक्त हो जाऊँगा—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। परन्तु ये तन, मन तथा इन्द्रियाँ अनादि काल से विषयों की वासनाओं से वासित हैं। अतः इनमें जब तक अपना निवास है, तब तक यदि सावधान—साधन-रत नहीं रहूँगा और कुसंग-कुसंयम का यदि त्याग नहीं करूँगा। तो मेरे बिगाड़ होने में विलम्ब नहीं है। देहोपाधि से मैं वासना-वश हूँ। अतः कुसंग-कुसंयम का सर्वथा त्याग कर सत्संग-साधन और सावधानी पूर्वक जीवन पर्यन्त रहने से ही वासना रूप यमजाल से पिण्ड छुड़ाया जा सकता है। इसलिये असावधानी का नाश करना चाहिये।

अभिमान का नशा—अभिमान के नशा को सर्वथा मिटा देना चाहिये। धन, बल, स्त्री, पुत्रादि सुख, विद्या, बुद्धि, मर्यादा, रूप तथा सौंदर्य आदि—सब नाशवान् क्षण-भंगुर हैं। इस संसार रूपी समुद्र में हमारे शरीर ऐश्वर्य रूप बुदबुदे (फेन), कर्म-काल रूप वायु से उत्पन्न हुए हैं तथा कर्म-काल रूप वायु ही को पाकर अभी-अभी नष्ट हो जाने वाले हैं। इस अनादि काल से चले आये हुए और अनन्त काल तक रहने वाले अपार ऐश्वर्यमय संसार रूप नगारखाने में हमारे तनिक-से शरीर-ऐश्वर्य रूप ताँत की ध्वनि को कौन

सुनता है ? संसार रूप विशाल भूमण्डल में मेरे शरीर-ऐश्वर्य रूप परमाणु की क्या गणना है ? ये मायावी ऐश्वर्य कल्याण में तनिक भी सहायक नहीं हैं। बल्कि कल्याण में बाधक हैं। अतः माया का अभिमान सर्वथा मिटाना चाहिये।

अपने को वैराग्यवान्-बोधवान्-सद्गुण-सम्पन्न, साधन युक्त, सर्व-परीक्षक तथा अनुभवी समझ कर कुसंग-कुसंयम से अपना बिगाड़ न मानना—यह अभिमान का नशा बिल्कुल मिटा देना चाहिये। प्रथम यह बात समझनी चाहिये कि जो यथार्थ वैराग्यवान् और बोधवान् तथा साधन-सम्पन्न परमार्थ अनुभवी और परीक्षक होगा, उसकी परीक्षा में यह भलीभाँति आयेगा कि देहोपाधि से जीव वासना के वश है। कुसंग-कुसंयम से पतन अवश्य होगा। अपने परमार्थ की रक्षा तो सत्संग-सत्साधन तथा विवेकी गुरु सन्तों के आज्ञापालन अथवा विवेक-रहस्य युक्त रहने में ही है। ज्ञान, वैराग्य परीक्षा, साधन आदि का वाक्य चातुर्य से स्पष्ट निर्णय करके जो अपने को पूर्ण और अलिप्त मानते हैं, वे बड़े भारी भ्रम में हैं। कुसंग—कुसंयम में पड़ जाने से वाक्यज्ञान तनिक भी काम नहीं देता। कुसंग-कुसंयम से मन में आवरण पड़ता है। आवरण पड़ने से विवेक-बुद्धि क्षीण हो जाती है। फिर उस समय माया से बचने के पचासों वाचिक युक्तियों में से एक भी स्मरण नहीं होती। उस समय कुसंगत (स्त्री और स्त्री-आसक्त रजोगुणी पुरुषों की तथा भ्रमिक की संगत) ही

प्रिय भासती है। वह समझता है—'अभी मेरा पतन नहीं हो रहा है, अभी मैं बचा ही हूँ।' परन्तु उसका पतन होना तभी आरम्भ हो गया कि जब सत्संग, सद्ग्रन्थ और सद्साधन की निन्दा करके कुसंग का ही प्रेमी हो गया। विवेकी सन्तों के और उनके सत्संग-सद्ग्रन्थ के निन्दकों तथा स्वाभिमानी और कुसंग-प्रेमियों को मायाजाल से बचते नहीं देखा-सुना गया। एक उदाहरण नहीं अनेक उदाहरण प्रत्यक्ष हैं। इसलिये वाच्यज्ञान के अभिमान का नशा बिल्कुल त्यागना चाहिये। स्वरूप-दृष्टि और बोध-दृष्टि से वासना-विहीन और देहोपाधि से वासना-वश अपने को समझना चाहिये। कुसंग-कुसंयम और असावधानीका सर्वथा त्याग करना चाहिये। सावधानी ही महान साधन है। और सावधानी कहते भी हैं-कुसंग, कुसंयम और अभिमान का सर्वथा त्याग, अपने गुण दोषों का विचार, सत्संग-सत्यसाधन पूर्वक स्वरूप स्थिति में सदैव जाग्रत रहना।

प्रश्न—निज स्वरूप में सजग रहना क्या है?

उत्तर---पूर्वोक्त भूल, भ्रम, असावधानी, अभिमान कुसंग, कुसंयम तथा साधन की शिथिलता—इन सबों को सर्वथा त्याग करके सर्व उपयोगी साधन सहित वैराग्य पूर्वक स्व-स्वरूप-चिन्तन में जाग्रत रहना—निज स्वरूपमें सजग रहना है।

प्रश्न—निरहंकार पुरुष सो जग में, शान्ति सदा फल पाई है—इसका क्या भाव है?

उत्तर—ऊपर वर्णन किये हुए जो प्रमाद के लक्षण हैं, उनको जो भलीभाँति सर्वथा त्याग देता है और स्वरूप-दृष्टि से शुद्ध तथा देहोपाधि-दृष्टि से अपने को जो वासनावश जानता है एवं जो स्वरूप-चिन्तन में सदैव जाग्रत रहता है। वह पुरुष निरहंकारी होता है। वह अपने ज्ञान-वैराग्य तथा परीक्षा अनुभव एवं साधन सम्पन्नता का कभी भी अभिमान करके कुसंग-कुसंयम का सेवन नहीं करता। वह सदैव कुसंग का सर्पवत्त्याग कर रोगी न्याय संयम-साधन में लगा रहता है। वह सब प्रकार से निरहंकारी हुआ पुरुष इस संसार (प्रारब्ध-शरीर) में रहते हुए सदैव रहने वाली शाश्वती शान्ति रूप फल को प्राप्त हो जाता है। जिसकी प्राप्ति होने पर शोक-मोहादि समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है और प्रारब्धान्त पश्चात् सदैव के लिये निश्चिन्त, निःसंग, विदेह मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है—यही इसका भाव है।

मोक्ष के मुख्य तीन साधन हैं—भक्ति, वैराग्य और बोध। ये तीनों निर्मानता-निरहंकारता के रूप हैं। जैसे—

भक्ति—भक्ति में पूर्ण निर्मानता है, अहंकारी मनुष्य शुद्ध भक्ति करही नहीं सकता। क्योंकि भक्ति धारण करने में लौकिक लज्जा और मान-मर्यादा छोड़नी पड़ती है, विवेकी सद्गुरु के आज्ञानुकूल अपना आचरण बनाना पड़ता है। उनकी आज्ञा पालन करने में अपनी मनमानी मिटानी पड़ती है।

सब प्रकार से इष्ट की अधीनता लेनी पड़ती है। अतः शुद्ध भक्ति में पूरी निर्मानता है।

वैराग्य---अभिमानी मनुष्य शुद्ध वैराग्य नहीं कर सकता। क्योंकि शुद्ध वैराग्य दशा में स्त्री, पुत्र, धन, शरीर, जाति-पाँति, यौवन तथा सौंदर्य आदि---सब क्षण-भंगुर, नाशवान् और दुःखदायी प्रतीत होते हैं। जो नाशवान्, क्षण-भंगुर और दुःखदायी प्रतीत होगा, उसका अभिमान कदापि नहीं हो सकता। अतः शुद्ध वैराग्य दशा में अभिमान नहीं रह सकता।

बोध---स्व-स्वरूप के अतिरिक्त दृश्य-पदार्थों का जहाँ तक अभिमान है, वह देहाभिमान से ही है। क्योंकि बिना देहाभिमान के बाहरी किसी पदार्थ का अभिमान नहीं हो सकता। अतः यदि किसी पदार्थ का अभिमान है, तो समझ लेना चाहिये कि अभी देहाभिमान शेष है। और देहाभिमानी व्यक्ति कभी भी पूर्ण बोध को नहीं प्राप्त हो सकता। क्योंकि पूर्ण बोध-निष्ठा में सर्व पृथक् "मैं शुद्ध पारख रूप, पूर्ण तृप्त, पूर्ण काम, निराधार, अखण्ड हूँ।" ऐसी अपनी पूर्ण महत्ता ही चित्त में दृढ़ रहती है। उस काल में तो यह शरीर मल-मूत्र का पात्र, जड़, क्षण-भंगुर, दुःख रूप (वास्तव में जैसे यह है वैसे ही) प्रतीत होता है। तुच्छ से अत्यन्त तुच्छ एक मिट्टी का ढेला रूप यह शरीर ज्ञात होता है। इसके रहने-न-रहने की कामना-चिन्ता से विहीन, इस शरीर को बोध-निष्ठ सन्त नहीं के तुल्य समझते हैं। वहाँ स्वस्वरूप की ही प्रियता रहती

है। उसी में रमण, उसी में विलास और उसी में सदैव निश्चय-लीनता रहती है। सद्पुरुषार्थ द्वारा देहोपाधिक आवरण को हटाते हुए बोध-निष्ठ सन्त स्वरूप-स्थिति की लगन में ही मगन रहते हैं। जहाँ शरीरादि दृश्य पदार्थों में मैं-मेरी पन स्वीकार ही नहीं किया जाता है, बल्कि समस्त दृश्य पदार्थों में जहाँ दृढ़ ग्लानि-उपरामता है। वहाँ देहादि किन्हीं भी दृश्य पदार्थों में अभिमान के लिये स्थान ही कहाँ है? अतएव मोक्ष प्राप्ति के लिये निराभिमानता की परम् आवश्कता है।

२८--चेतन और मोक्ष के विषय में प्रश्नोत्तर।

प्रश्न—अपना सत्य चैतन्य पारख स्वरूप शान्त है या आनन्द?

उत्तर—शान्त।

प्रश्न—शान्त और आनन्द में क्या अन्तर है?

उत्तर—विचार करके देखिये तो आनन्द कहते हैं सुख को। वस्तु, प्राणी और व्यवहार की अनुकूलता प्राप्त होने पर मन में एक हर्ष पूर्ण विकार उत्पन्न होता है, उसी को आनन्द या सुख कहते हैं। जिसके विपरीत शोक, दुःख और क्लेश हैं। अतः जहाँ हर्ष, सुख और आनन्द है, वहाँ शोक, दुःख और क्लेश धूप के साथ-साथ छाया की भाँति लगे रहते हैं। हर्ष-शोक, सुख-दुःख और आनन्द-क्लेश तो द्वन्द्व हैं। इसीलिये ये मनोविकार माने गये हैं। इनके सर्वथा नाश होने पर ही

शान्ति पद मिलता है। आनन्द मन का विकार है और शान्ति मन के परे की वस्तु है। शरीर-इन्द्रिय और अन्तःकरण के आधार में रहने वाला 'आनन्द' है। और शान्त तो चेतन का स्वरूप ही है। शरीर रहे तक ही आनन्द का सम्बन्ध है और शान्त तो चेतन का मुख्य स्वरूप है, जो अनादि और अनन्त एवं नित्य रहने वाला है। आनन्द और क्लेश मनोगत द्वन्द्व रूप होने से स्थूल-सूक्ष्म शरीर रहित विदेह मुक्त शुद्ध चेतन में आनन्द मानना महा भूल है। वहाँ तो केवल शान्त-ही-शान्त है। अतएव अपना चैतन्य पारख स्वरूप आनन्द[1] रूप नहीं किन्तु शान्त स्वरूप है।

प्रश्न—विदेह मोक्ष में आनन्द अनुभव रहता है या नहीं ?

उत्तर—यह बात ऊपर ही बतला दी गयी है। परन्तु फिर भी सुनिये ! चेतन से शरीर-इन्द्रियों का सम्बन्ध होने से वहाँ मन रहता है और मन ही द्वारा आनन्द-क्लेश आदि का अनुभव होता है। फिर जिस विदेह मोक्ष अवस्था में चेतन से शरीर-इन्द्रियों का सम्बन्ध ही नहीं रहता और जीवन्मुक्ति के अन्तिम तथा विदेह मुक्ति के प्रथम ही सूक्ष्म शरीर का सर्वथा नाश हो गया, उस शुद्ध विदेह मोक्ष में मन का ठहराव कहाँ रहेगा ? और मन न होने से आनन्द-क्लेश, सुख-दुःख तथा हर्ष-शोक आदि की गति वहाँ कहाँ है ? वहाँ तो आनन्द-

---

१—"आनन्द आनन्द सब कहैं, आनन्द जीव को काल।
पूरण परख प्रकाश भौ, शरण कबीर दयाल॥"

क्लेश-चिन्तन और चित्त आदि रहित केवल शान्त-ही-शान्त है। अतएव विदेह मोक्ष में आनन्दादि समस्त चिन्तनों का सर्वथा अभाव होकर केवल 'शान्त' मात्र है।

प्रश्न—विदेह-मुक्त जीव का पुनः जन्म होता है या नहीं?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—मुक्त जीव पुनः जन्म धारण करता है—ऐसा माना जाय, तो मोक्ष भी कल्पित स्वर्गवास के समान अवधि वाला ठहरेगा। जो कि मोक्ष में पूर्ण कलङ्क रूप है। मुक्त जीव को भी फिर परतन्त्र होना पड़े, वह मोक्ष कैसा? मोक्ष पूर्ण-स्वतन्त्र नित्य, अबाध और अनन्त होता है। विदेह मुक्त-जीव के पास स्थूल-सूक्ष्म[1] दोनों शरीर का तथा वासना कर्मादि समस्त दृश्य जड़-वर्गों का अत्यन्त अभाव होने से मुक्त जीव को पुनः गर्भ में आने का कोई हेतु नहीं है। अतः मुक्त जीव पुनः कभी जन्म नहीं धरेगा, वह सदैव मोक्ष रहेगा।

१-स्व-सिद्धान्त में स्थूल-सूक्ष्म दो ही शरीर माना गया है। एड़ी से चोटी तक जो यह दृश्य काया है, यही स्थूल शरीर है और पञ्च विषय का अध्यास, चतुष्टय अन्तःकरणादि युक्त जो आवागमन आदि कराने वाली तथा कर्म वासनाओं को अपने में निहित, स्थिति एवं अध्यस्त रखने वाली लिंग देह है, वही सूक्ष्म शरीर है। कारणादि अन्य कल्पित शरीर का सरूप यहाँ केवल सूक्ष्म शरीर ही में समझ लेना चाहिये।

प्रश्न--मुक्त जीव पुनः जन्म नहीं धरते और मोक्ष अनादि काल से होते आया है--यदि ऐसा माना जाय तो आज तक सब जीवों का मोक्ष होकर सृष्टि का शून्य हो जाना चाहिये था। क्योंकि आप कितना भी कहें कि जीव असंख्य, अपार हैं। चाहे आप इतना उपमा दें कि पृथ्वी के जितने कण हैं, जल के जितने अणु हैं और अग्नि-वायु के जितने परमाणु हैं, उतने चेतन जीव हैं। तो भी असंख्य होते हुए सीमा वद्ध हैं। यह खूब समझने की बात है कि जो वस्तुतः है, वह सीमित है। पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के त्रसरेणु, अणु तथा परमाणु असंख्य होते हुए भी सीमित हैं। ऐसे जीव भी असंख्य होते हुए सीमित हैं। परन्तु अनादिकाल का कौन आरम्भ माना जायगा ? अनादि तो निःसीम होता है। अतएव अनादि काल से मोक्ष मानने में आज तक सृष्टि का शून्यत्व न होना महान दोष है ?

उत्तर--मुक्त जीव पुनःदेह नहीं धरते--यह तो निःसन्देह है। परन्तु मोक्ष होना अनादि से नहीं है, बल्कि आदि अर्थात् बीच से है। जिसमें एक प्रबल युक्ति आप के प्रश्न में ही आ गयी है कि 'अनादि से मोक्ष होना होता तो आज तक सृष्टि शून्य हो गयी होती।' इसके अतिरिक्त एक ही स्थान पर साथ-साथ अन्धकार-प्रकाश नहीं रह सकते। इसी प्रकार बोध-अबोध बन्धन-मोक्ष दोनों साथ-साथ अनादि मानना विषम है। मोक्ष होने की आवश्यकता तभी पड़ती है, जब प्रथम बन्धन

हो । अतः बन्धन अनादि है और मोक्ष आदि है । अनेक जन्मों के किसी शुभ संस्कारी ने अनादि काल के जगत् में विविध दुःखों को देख कर सर्व दृश्यों से पृथक् अपना यथार्थ पारख स्वरूप शोधन किया और विजाति वासना को त्याग कर स्वयं मुक्त हुआ और अन्य को भी मोक्ष मार्ग दर्शाया । जैसे रेल-गाड़ी आदि अपूर्व यन्त्रों को किसी अनुभवी पुरुष ने स्वानुभव से बनाया और अन्य को बनाना सिखाया इत्यादि । अतः अनादि अविनाशी चेतन अनादिकाल से बन्धन में पड़े हैं और मोक्ष आदि अर्थात् बीच से है ।

प्रश्न—मुक्त जीव पुनः देह नहीं धरते और जगत् अनन्त-काल तक अर्थात् सदैव रहेगा । फिर यदि थोड़े-ही-थोड़े जीव क्रमशः मुक्त होते गये तो कभी सब जीवों का मोक्ष होकर सृष्टि का सर्वथा शून्य हो सकता है ?

उत्तर—सब जीवों का मोक्ष होकर सृष्टि का सर्वथा शून्य हो जाना—यह तो बहुत दूर की बात है । परन्तु अनन्त काल के जगत् में सब जीवों का मोक्ष होकर कभी सृष्टि का सर्वथा शून्य हो जाना—न्याय से तो माननीय है ही । किन्तु इसमें किसी की हानि ही क्या है ? मोक्ष से बढ़ कर कौनसा पदार्थ है, सब तो मोक्ष चाहते हैं ?

प्रश्न—बड़ी आपत्ति की बात तो यह है कि सृष्टि नहीं रह जायगी ?

उत्तर—सृष्टि न रहने में आप को कौन-सी आपत्ति

है ? आपत्ति तो बल्कि सृष्टि ही है। सृष्टि नहीं रह जायगी तो इसमें किसी की क्या हानि हो जायगी ? सर्व दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और अनन्त, नित्य शान्ति की प्राप्ति मोक्ष में होती है। फिर ऐसे मोक्ष को कौन नहीं चाहता ?

प्रश्न—परमार्थहीन भौतिकवादी तो मोक्ष नहीं चाहते, वे संसार की सृष्टि ही चाहते हैं ?

उत्तर—भौतिकवादी भी प्रकारान्तर से मोक्ष चाहते हैं, मोक्ष में समस्त दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और अनन्तशान्ति शेष रहती है। भौतिकवादी भी दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति चाहते हैं। और अनन्त शांति भी चाहते हैं। यद्यपि सृष्टि अशान्ति जनक है, परन्तु भूल वश उसी शान्ति की ही खोज में सृष्टि के विभिन्न पदार्थों में वे भटका करते हैं। मन का रुक जाना शांति है और जब तक मन नहीं रुकता, तब तक विषय-भोगों में भी सुख नहीं मिलता। जैसे उत्तम-उत्तम व्यञ्जन थाली में रखे हैं और हाथ से उठा-उठा कर खा रहे हैं। परन्तु आपको प्रथम से यदि यह सुना दिया गया है कि आप व्यंजन जीम लीजिये फिर आपकी फाँसी होगी। तो फाँसी की चिन्ता से आप का मन चञ्चल होने से आप व्यञ्जन के सुख का अनुभव नहीं कर पायेंग। अतः सुखप्रद माने हुए विषयों को भोगते हुए भी यदि मन स्थिर नहीं है, तो सुख नहीं मिलता।

मनुष्य के प्रति अन्तर चेतना की जो प्रेरणा है, वह शान्ति

की ही ओर है। क्योंकि चेतन स्वतः शान्तमय है। परन्तु भूल वश मनुष्य विषयों के पीछे सुख के लिये भटकता रहता है। और जितना सुख खोजता है, उतना ही दुःख मिलता है। जब सुख-दुःख की कल्पना त्याग दी जाती है, तब शान्ति आती है।

विदेह मोक्ष में ही पूर्ण निर्द्वन्द्वता रहती है और पूर्ण निर्द्वन्द्वता में ही दुःखों की सर्वथा समाप्ति और अनन्तशान्ति रहती है। दुःखों की सर्वथा समाप्ति के लिये तथा बाहरी विषय सुख के रूप में परोक्ष रूप में शान्ति की खोज में भौतिकवादी भी रहते हैं। अतः प्रकार-भेद से भौतिकवादी भी मोक्ष चाहते हैं।

प्रश्न—विज्ञानी तो मोक्ष को निरर्थक और सांसारिक पदार्थ तथा विज्ञान को ही श्रेष्ठ समझते हैं ?

उत्तर—ऊपर के न्याय से मोक्ष को कोई निरर्थक नहीं समझता। हाँ ! उसका स्वरूप न जानने से उसकी कोई भले निन्दा कर देवे। परन्तु अनसमझ से किसी की निन्दा कर देने से जो सत् है वह असत् नहीं होगा। दूसरे की निन्दा करने वाला तो सर्वथा भूला माना जायगा। विचार करना चाहिये कि विज्ञान की निन्दा करने वाले भी संसार में लोग हैं। परन्तु उनकी निन्दा करने से विज्ञान का त्याग विज्ञानी नहीं करते। फिर किसी की निन्दा करने पर जड़, क्षणभंगुर विज्ञान भी जब विज्ञानी नहीं त्यागते। तब किसी की निन्दा

करने से नित्य, सत्य मोक्ष का निरादर परमार्थी कैसे करेंगे ? और संसार तो वास्तव में निरादर करने योग्य है। क्योंकि यह दुःख मय है। श्री तुलसीदास जी भी कहते हैं–'अनविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी।'

विज्ञानी विज्ञान में लुब्ध हैं, परमार्थी विज्ञानी (चेतन) में लवलीन हैं। विज्ञान कृत्रिम, जड़, दृश्य, विजाति, क्षण भङ्गुर और अशान्ति जनक है। विज्ञानी अर्थात् स्वस्वरूप अकृत्रिम, चैतन्य, द्रष्टा, स्वतः नित्य और शान्त स्वरूप है। जड़ विज्ञान आदि सब का कल्पक जो विज्ञानी (चैतन्य) है, वह अपने आप अविनाशी सच्चिद्शान्त पारख स्वरूप का महत्त्व भूल कर अशान्ति जनक जड़-विज्ञान में लुब्ध हो गया। अतः विज्ञानियों को अपने आप विज्ञानी अर्थात् ज्ञाता-चैतन्य का महत्त्व परमार्थियों से समझना चाहिये। विज्ञानी (चैतन्य) श्रेष्ठ है, विज्ञान (जड़) नहीं।

साखी–सब समरथ तेहि धूल में, निज समरथ नहिं चीन्ह।
प्रकृति खोजि बन्धन रचे, विपति अनेकन लीन्ह॥

(मुक्तिद्वार)

प्रश्न–संसार की असारता और मोक्ष की सार्थकता चित्त में कैसे निश्चय हो ?

उत्तर–यह एक घड़ी के सत्संग करने या तनिक-सा सद्ग्रन्थ पढ़ने से नहीं होगा। नित्य अधिक-से-अधिक सत्संग

कीजिये। खूब सद्ग्रन्थ पढ़िये और अन्तर विवेक जाग्रत कीजिये। तब कुछ दिनों में संसार की असारता और मोक्ष की सार्थकता पूर्ण निश्चय होगी।

२६-जीवन्मुक्ति के लक्षण।

पूर्ण काम ह्वै तृप्त निरन्तर, जीवन्मुक्त रहाई है।
ये सद्गुण सब सुख से पूरण, धरो नरो ! मन लाई है ॥१६॥

वे पुरुष सदैव सन्तुष्ट, सब कामनाओं से पूर्ण (इच्छारहित) होकर जीवन्मुक्ति दशा में प्रारब्ध पर्यन्त विचरते रहते हैं। ये समस्त सद्गुण (नित्य शान्ति देने वाले) सात्विक सुखों से परिपूर्ण हैं,—ऐ मनुष्यो ! प्रेम पूर्वक इन्हें धारणकरो ॥ १६ ॥

प्रश्न—पूर्ण काम किसे कहते हैं ?

उत्तर—काम कहते हैं कामना, इच्छा, वासना या स्पृहा को, पूर्ण कहते हैं पूरा को। मनः कल्पित भोगों को भोगने के लिये जिसके मन में अब किञ्चित् भी कामना-इच्छा नहीं है। अर्थात् सत्बोध द्वारा जिसकी सब कामनायें पूरी हो गयी हैं, उन्हीं को पूर्णकाम कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो देश-विदेश के अनावश्यक समाचार, स्त्रियों की मीठी वार्ता गायन तथा राग-द्वेष की बातें, अपने मान-बड़ाई-स्तुति-प्रशंसा आदि के आसक्ति उत्पादक दूषित शब्दों को सुनने की इच्छा नहीं रखता। जो स्त्री आदि के स्पर्शदोष से सर्वथा रहित है, कोमल और सुख मान कर दोष युक्त जो किसी वस्तु का स्पर्श करने

की इच्छा-क्रिया नहीं रखता। आसक्ति दोष उत्पादक मन के आनन्द के लिये जो किसी स्त्री पुरुष या वस्तु के रूप को देखने की इच्छा नहीं रखता। जिह्वा द्वारा आनन्द उपभोग के लिये जो मीठ, तीत, खट्टा, चर्परा, नमकीन तथा कसाय आदि षट्रसों को चखने की इच्छा से रहित है। जो इत्र फुलेल फूलों के हार, सुगन्धित द्रव्यों की इच्छा से हीन है। सारांश—मनःकल्पित आनन्द-उपभोग के लिये जिसे कुछ खाने सूघने, स्पर्श करने, देखने तथा सुनने की इच्छा नहीं रह गयी है (केवल उदासीनता युक्त शरीर-निर्वाह लेता है।) जो किसी को शत्रु मानकर उससे बदला लेने, अपने मन, वाणी और शरीर द्वारा उसे दुःख देने, मारने की भावना नहीं रखता। जो किसी को मित्र मान कर उससे मिलने, देखने-सुनने, आसक्ति पूर्वक वार्तालाप करने, उसका पक्ष करने आदि की वासना से हीन है। यहाँ तक कि जो किसी को शत्रु-मित्र मानता ही नहीं। मनःकल्पित आनन्द उपभोग के लिये जो देश-विदेश टहलने, कुछ प्राप्त करने आदि की भावना से हीन है। अधिक व्यवहार, अधिक द्रव्य, अधिक जन-समूह का सम्बन्ध, अर्थात् दोषयुक्त या अधिक वस्तु-प्राणियों को जो नहीं चाहता। यहाँ तक कि इस देह के अभी कुछ दिन रहने या न रहने की इच्छा-कामना और चिन्ता से जो रहित है। प्रारब्धानुसार उदासीनता युक्त देश-विदेश विचरण करते हुए और सद्शिक्षा देते हुए भी "जहाँ जाना था जालिये, जहाँ आना था आ लिये, जो प्राप्त करना

था प्राप्त कर लिये। मन की भूख मिटाने के लिये अब कहीं आना-जाना, कुछ करना या कुछ प्राप्त करना आदि नहीं है। प्रारब्धानुसार जहाँ कहीं रहूँ देह से त्रयकाल रहित मैं नित्यप्राप्त नित्यसन्तुष्ट हूँ।" ऐसी निश्चयता जिसे दृढ़ है और तद्नुसार आचरण सम्पन्न है, वही—पूर्णकाम है।

प्रश्न—'तृप्त निरन्तर' किसे कहते हैं?

उत्तर—तृप्त कहते हैं सन्तुष्ट को, निरन्तर कहते हैं अन्तर रहित-एकरस सदैव को। तात्पर्य यह है कि बोध-स्थिति धारण काल से लेकर प्रारब्ध पर्यन्त मनःकल्पित विषय-भोगों के आनन्द-उपभोग की वासना जिनके चित्त में कभी नहीं उठती[१] जो सदैव भोग-वासनाओं से रहित है। वही—तृप्त निरन्तर अर्थात् एकरस सदैव सन्तुष्ट-स्थित है।

किसी की चिकनी चमड़ी, टेढ़े-मेढ़े बाल और फैसन देखकर अपना मन उधर यदि आकर्षित हो गया, तो समझना चाहिये कि हाड़, मांस, चमड़ी और मल-मूत्र को महत्त्व देने वाली अविद्या अभी हमारे चित्त में शेष है। अभी पूर्ण बोध स्थिति नहीं है।

१—यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रारब्ध अन्तःकरण के सम्बन्ध से समय-समय पर किञ्चित् कुसंस्कार मन में उदय हो सकते हैं। परन्तु साधन-वैराग्य बल लेकर तत्काल उन्हें मिटाते रहने से वे कुछ बन्धन नहीं कर सकते।

किसी के स्त्री, पुत्र, बन्धु-बान्धव और मित्रों की विपुलता देखकर अपने मन ने यदि उसको महत्त्व दिया, (उधर मन ललचाया) तो समझना चाहिये कि अभी राग मन में शेष है। अभी पूर्ण वैराग्य नहीं हुआ है।

किसी के द्रव्य, भोग, भवन, पृथ्वी, उद्यान, वाहन इत्यादि पदार्थों को देख कर यदि उसका महत्त्व अपने मन में दर्शने लगा (उसमें मन सुख मानने लगा) तो समझना चाहिये कि अभी अन्तःकरण में लोभ शेष है। अभी पूर्ण त्याग की भावना नहीं आयी।

किसी के पद, शासन, मान, बड़ाई, मर्यादा और पुजापा को देख कर यदि मन ने उसको महत्त्व दिया, तो समझना चाहिये कि अभी हमारे मन की तुच्छता नहीं गयी है। स्वरूप स्थिति का महत्त्व और निवृत्ति सुख अभी पूर्ण रूपेण नहीं उपलब्ध हुआ है। यह संसार यदि आनन्दमय भासता है। चारों ओर दुःख-ही-दुःख यदि नहीं दर्शता, तो समझना चाहिये कि अज्ञान अभी शेष है। अभी पूर्ण ज्ञान और उपरामता नहीं आयी है। अतः वासना मिटा कर प्रयत्न पूर्वक साधक को शीघ्र पूर्ण तृप्त होना चाहिये।

प्रश्न—जीवन्मुक्त रहाई है—इसका क्या भाव है?

उत्तर—जो जीते हुए अर्थात् प्रारब्ध शरीर में रहते हुए देहादि समस्त वासनाओं से मुक्त है, वही—जीवन्मुक्त है। यहाँ का अभिप्राय ऐसा है कि जो सब प्रमाद से रहित, स्व-

रूप-स्थिति में जाग्रत, निर्मान, शान्त चित्त, सब कामनाओं से पूर्ण है, निरन्तर सन्तुष्ट है; वह पुरुष प्रारब्ध पर्यन्त जीवन्मुक्ति दशा में निरन्तर विचरते हुए विवेक पूर्वक काल को समाप्त करता है। वह प्रारब्ध क्षय पश्चात् सदैव के लिये अचल विदेह-स्थिति में द्वन्द्व रहित ठहर जायगा।

प्रश्न—जीवन्मुक्ति का लक्षण क्या है ?

उत्तर—ऊपर निरहंकार, पूर्णकाम और तृप्त निरन्तर पद का प्रयोग करके जो भाव दर्शाया गया है। वे सब जीवन्मुक्ति के ही लक्षण हैं। संक्षिप्त रूप में यहाँ और भी सुनिये—(१) जो जड़-पदार्थों के राग से सर्वथा रहित है। (२) जो मनःकल्पित भोग-सुखों की इच्छा से रहित है। (३) जो प्रारब्ध वशात् उचित आवश्यकीय देखते, सुनते, खाते, स्पर्श करते तथा सूँघते हुए भी देखने, सुनने, खाने, स्पर्श करने और सूँघने की इच्छा-वासना से रहित है। (४) जो शरीर के अभी कुछ दिन रहने अथवा न रहने की आशा-चिन्ता से हीन है। (५) जो बीती हुई बातों की चिन्ता-चिन्तन और राग नहीं करता[1]। (६) जो आने वाली बातों की आशा या चिन्ता नहीं करता। (७) जो राग-द्वेष आशा-तृष्णा रहित सन्तोष पूर्वक निराश प्रारब्ध वर्तमान करते हुए स्वरूप-

१—यदि विवेकवान् भूत, भविष्य तथा वर्तमान का कुछ चिन्तन भी करते हैं, तो केवल निर्विघ्न परमार्थ-मार्ग समाप्ति हेतु, निरन्तर सावधानी के लिये।

चिन्तन में जाग्रत रहता है। (८) जो प्रमाद, आलस्य तथा असावधानी का पूर्ण त्यागी है। (९) जो गुरु-साधु की उपासना और यथायोग्य सेवा-परायण है। (१०) जो सत्संग-सद्ग्रन्थ का आश्रयी, सद्गुण-सदाचरण सम्पन्न है। (११) जो अपने को सब वासनाओं-बन्धनों से हरक्षण छुटा हुआ अपरोक्ष देखता है या अपरोक्ष पाता है। (१२) जिसकी दृष्टि में शरीर अत्यन्त तुच्छ हो गया है। (१३) जिसके भाव में पारख स्वस्वरूप चैतन्य की महत्ता सदैव दृढ़ है। (१४) जो मध्यवर्तीय समता, दया और पूर्ण क्षमा को धारण करने वाला है। (१५) जो सब प्रकार जड़ासक्ति से रहित स्वस्वरूप में स्थित है, वह जीवन्मुक्त है। (१६) जो अप्राप्त वस्तु की स्वभावतः इच्छा नहीं करता और प्राप्त वस्तु का अधिक संग्रह न करके ममता रहित यथायोग्य वरतता है। (१७) जो अपने भयंकर वैरी (प्राण घातक) के प्रति भी किञ्चित् मात्र ईर्ष्या नहीं करता, बदला नहीं चाहता, बल्कि उसका हित ही चाहता है। (१८) जो जागता हुआ भी संसार के राग-द्वेष और हर्ष-शोक से सोया हुआ है और सोते हुए भी स्वस्वरूप स्थिति में जाग्रत है। (१९) जो अन्य प्राणियों को आश्चर्य मय लगने वाली घटनाओं को देख-सुनकर किञ्चित् भी आश्चर्यित नहीं होता। बल्कि झट जान लेता है कि यह सम्भव था; तब हो गया। (२०) जो दूसरे को उद्वेग नहीं पहुँचाता तथा जो दूसरे से उद्वेगित नहीं

होता। (२१) जिसका हर्ष-शोक राग-द्वेष और भय सर्वथा शान्त हो गया है, वह जीवन्मुक्त है। (२२) जैसे ड्राइवर का लक्ष्य सड़क पर, गाय का लक्ष्य बछड़े पर, पनिहारिनि का लक्ष्य शिर पर रखे हुए घड़े पर, कामी का लक्ष्य स्त्री पर, लोभी का लक्ष्य धन पर और मोही या प्रेमी का लक्ष्य पुत्र या मित्र पर (अन्य काम करते हुए) सदैव बना रहता है। तैसे जो लेटा हुआ, बैठा हुआ, चलता हुआ, खाता-पीता हुआ, बात-चीत करता हुआ, शिक्षा देता हुआ, सुनता हुआ, हर्ष-शोक, राग-द्वेष रहित स्वस्वरूप स्थिति में दृढ़ता पूर्वक लक्ष्य लगाये रहता है, वह जीवन्मुक्त है। (२३) जो मुख्य रूप से सदैव स्वस्वरूप के चिन्तन-प्रेम में सदैव लवलीन रहता है और उसके अन्य उचित श्रेणी युक्त समस्त कार्य गौणी वृत्ति से होते रहते हैं, वह जीवन्मुक्त है।

३०-उपसंहार।

प्रश्न—'ये सद्गुण सब सुख से पूरण धरो नरो मन लाई है।' इस का क्या भाव है ?

उत्तर—इस सदाचरण षोड़सी में वर्णन किये हुए जितने सद्गुण हैं, ये सब नित्यशान्ति देने वाले सात्त्विक सुखों से पूर्ण हैं। इसलिये इन सद्गुणों को प्रेम लगा कर मनुष्य मात्र को धारण करने के लिये कहा गया है। वे सब सद्गुण—सदाचरण ये हैं—अहिंसा, सत्य, सत्य-प्रिय-निर्मद भाषण; अस्तेय (चोरी

न करना), व्यभिचार का त्याग, छल प्रपंच का त्याग, अखण्ड ब्रह्मचर्य का ग्रहण, कुसंग का त्याग, अपैशुन्यता (चुगुली-निन्दा का त्याग), बुरे कर्मों से लज्जा; निर्मानता, राग-द्वेष हीनता, निष्कपटता, जीवों में मैत्री भाव, परउपकार, अन्तर-बाहर की पवित्रता, निरिच्छा, अतृष्णा, तितिक्षा, निर्णय वाक्य ग्रहण, श्रेष्ठ पुरुषों (साधु-गुरु) की सेवा, दान, धर्म-रक्षा हित सहन, सद्ग्रन्थों का पढ़ना-पढ़ाना, शम, दम, विनय, शील, सरीर-इन्द्रिय और मन का सीधापन, दीन-दुखियों पर दया, अपराधियों पर क्षमा, सद्गुरु-सन्तों और सद्ग्रन्थों में श्रद्धा-विश्वास, जड़-चेतन का निर्णय, स्वरूप-ज्ञान, श्रद्धा, विवेक, वैराग्य, निर्जन-एकान्त-वास, अपरिग्रह (अधिक धन संचय से रहित), निःशंसय, निर्विक्षेपता, समाधान, उपरामता, निराधार-स्थिति-अभ्यास, कर्तव्य परायणता, समता, शत्रु के प्रति भी हित की दृष्टि यथासम्भव सब की हित चिन्तना, धैर्य, अद्रोह, स्वरूपभाव दृढ़ ग्रहण, विषयों का विषवत् त्याग, निर्भयता, निष्कामता, निर्हङ्कारपन, निरासक्ति, स्वरूपस्थिति में सदैव सजगता, अप्रमाद (भूल, भ्रम, असावधानी और अभिमान के नशा का त्याग), शान्ति, सर्वकामना पूर्णता, सन्तोष, सदैव सन्तुष्टि तथा जीवन्मुक्ति आदि-आदि ।

उपर्युक्त ६४ सद्गुण-सदाचरण मनुष्य मात्र के लिये कल्याणकारी हैं । अतः इन्हें सब को धारण करना चाहिये ।

शब्द

हमारे मन सद्गुण ग्रहण करो ।

सत्य अहिंसा दया शील, अरु ब्रह्मचर्य जबरो ॥ १ ॥
शम दम तोष क्षमा सुखकारी, धीरज सहन बरो ॥ २ ॥
तन मन शुद्धि भक्ति सत्संगत, विरति विवेक भरो ॥ ३ ॥
सब अभिलाष त्यागि दृश्यन को, स्थिति परख चरो ॥ ४ ॥

रहनि प्रबोधिनी का दूसरा प्रकरण सदाचरण
षोड़सी टीका व्याख्या सहित समाप्त ।

❀ प्रकरण-फल-छन्द ❀

यह षोड्सी सद् आचरण,
पढ़ि सुनि मनन करि उर धरे ।
तेहि सर्व दुर्गुण दोष वो,
दुर-आचरण कलिमल जरे ॥
सम्पन्न सद्गुण पुंज है,
संसार संसृति से तरे ।
दुर्लभ परम् पद हो सुलभ,
निर्भय निरामय हो चरे ॥

❀ सोरठा ❀

कृपा सन्त-गुरु कीन,
ज्ञान ग्रन्थ रचि जगत् हित ।
दुख छूटन पथ दीन,
मानुष को कर्तव्य कहि ॥ १ ॥
सत्संगत सद्ग्रन्थ,
सद्विचार सद् आचरण ।
नर तन फल सत्पन्थ,
शम शान्ती सन्तोष लहि ॥ २ ॥

❀ प्रकरण-महिमा-छन्द ❀

सन्तों के छन्द प्रबन्ध मौखिक,
दिव्य सब आदेश हैं ।
सादर सप्रेम सविधि गहे,
जेहि ध्वंस सर्व कलेश हैं ॥
जड़-वासना दुख पूर्ण भास,
विजाति बन्ध न लेश हैं ।
निरधार नित्य विकार गत,
स्थित स्वरूप स्वदेश हैं ॥

❀ दोहा ❀

मन भव जगत् कुदेश जड़,
नाशक सब दुख द्वन्द ।
जग असार दर्शक सविधि,
यह सप्तामृत छन्द ॥

❀ सद्गुरवे नमः ❀

❀ रहनि प्रबोधिनी ❀

तृतीय प्रकरण

छन्द--सप्तामृत

(टीका-व्याख्या सहित)

छन्द

१---पुरुषार्थ याही सार है।

पुरुषार्थ कर पुरुषार्थ कर पुरुषार्थ करके हो भले।
सत ध्येय मग को पुष्ट कर तब मोक्ष पद में हो अले॥
मन इन्द्रियों को जीतना पुरुषार्थ याही सार है।
गहि के कृपा गुरुदेव की भव सिन्धु से तब पार है॥१

हे प्रिय बन्धु! कल्याण का पुरुषार्थ ही सार है। अतः बारम्बार कहता हूँ कि भली भाँति सद्पुरुषार्थ करके सत्स्वरूप के निश्चय-साधन को पुष्ट करलो, फिर वासना-हीन श्रेष्ठ जीवन्मुक्ति पद में दृढ़ स्थित हो जावोगे। मन-इन्द्रियों को सर्वथा जीत लेना, यही मुख्य पुरुषार्थ है। तभी यह जीव सद्गुरुदेव की कृपा रूप स्वरूपबोध धारण कर संसार सागर से पार हो जाता है॥ १॥

प्रश्न—पुरुषार्थ किसे कहते हैं और वह सार क्यों है ?

उत्तर—सद्ग्रन्थ-अध्ययन, सन्त-सेवा, एकान्त-सेवन, इन्द्रिय-मन को विषयों से हटाकर शुभाचरण में लगाना, विवेक-वैराग्यादि के दृढ़ मनन द्वारा स्वस्वरूप का निरन्तर दृढ़ चिन्तन—यहाँ यही पुरुषार्थ माना गया है। यह पुरुषार्थ करने से जीव का मोक्ष हो जाता है। इसलिये यह सार है। अथवा पुरुष का अर्थ ही पुरुषार्थ है, पुरुष चेतन जीव है, अर्थ कहते हैं प्रयोजन को। जीव का प्रयोजन शान्ति की प्राप्ति है। अतएव शान्ति की प्राप्ति ही मुख्य पुरुषार्थ है।

स्थिर रहो स्थिर रहो स्थिर रहो निज रूप में।
सुख भावना को नाश कर फिर ना परो भ्रमकूप में॥
पुरुषार्थ में तल्लीन हो पुरुषार्थ याही सार है।
गहि के कृपा गुरुदेव की भव सिन्धु से तब पार है॥२

सद्पुरुषार्थ युक्त पारख स्वस्वरूप में स्थित रहो। विषय-वासनाओं को नष्ट कर दो, पुनः विषय रूप भ्रम कूयें में न गिरो। सद्पुरुषार्थ में तत्पर हो जाओ, यही सार-पुरुषार्थ है। अतः सद्गुरु की कृपा बल से जगत्-सिन्धु से मुक्त हो जाओ॥ २॥

निशदिन यही है सोचना कैसे भला हूँ शान्त मैं।
धारा विषय की बह रही है पार हूँ केहि भाँति मैं॥

धारण विवेक विचार उर पुरुषार्थ याही सार है।
गहि के कृपा गुरुदेव की भवसिन्धुसे तब पार है॥३

कल्याण इच्छुक को रात-दिन यही सोचना चाहिये कि भला ! किस प्रकार हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से छूटकर मैं निरन्तर शान्त हो जाऊँगा ? और पंच विषयों का प्रवाह बह रहा है, मैं इससे किस भाँति पार पाऊँगा ? इसके लिये विवेक-विचारादि पुरुषार्थों का हृदय में धारण करना ही सार है। तभी गुरु-कृपा से जीव जगत्-सिन्धु से मुक्त होता है॥ ३ ॥

अफसोस है अफसोस है अफसोस है मुझको भला।
जो छोड़ कर निज परम् पद को मैं विषय में जा मिला॥
अब शमन कर मन वेग को पुरुषार्थ याही सार है।
गहि के कृपा गुरुदेव की भव सिन्धु से तब पार है॥४

भला ? अपने ऊपर हमें बारम्बार शोकित होना चाहिये। जो कि कल्याण-साधन करने योग्य अवसर को पाकर भी अपने मोक्ष परम् पद को त्याग कर विषयों के सेवन में लगे हैं। परन्तु अब मन की वासना को नष्ट करो, यही मुख्य कर्तव्य है। तभी संसारार्णव से पार होगे॥ ४ ॥

पुरुषार्थ साधन छोड़कर सब जिव विषय में हैं फँसे।
कितने स्वमग से पतन हो फिर भी उसी में जा धँसे॥
गुरु युक्ति से गहि मुक्ति को पुरुषार्थ याही सार है।
गहि के कृपा गुरुदेव की भव सिन्धु से तब पार है॥५

कल्याणदायी साधन-कर्तव्य त्याग कर सब जीव विषयों के जाल में फँसे हैं। कितने तो कल्याण-मार्ग से गिर कर पुनः उसी विषय दलदल में जाकर डूब गये। अतः हे जीव! गुरुदेव के साधन-उपाय से मुक्ति को प्राप्त करो, यही तुम्हारा मुख्य प्रयोजन है। तभी दुःखालय जगत् से बचोगे ॥ ५ ॥

कितने परम् पद के लिये पुरुषार्थ में तैयार हैं।
कितने परम् पद प्राप्त करके कर रहे उपकार हैं॥
करना यही सबको चही पुरुषार्थ याही सार है।
गहि के कृपा गुरुदेव की भव सिन्धु से तब पार है॥६

कितने ही जिज्ञासु परम् पद मोक्ष के लिये सद्पुरुषार्थ में तत्पर हैं। कितने ही पुरुष परम् जीवन्मुक्ति पद को प्राप्त करके अन्य जीवों का उपकार कर रहे हैं। मनुष्य मात्र को यही करना चाहिये, क्योंकि मानव-जीवन का यही मुख्य लाभ है। तभी यह जीव दुःख-रहित होता है॥ ६ ॥

पुरुषार्थ से ज्ञानी गुणी पुरुषार्थ से सबहीं बने।
पुरुषार्थ से सब हैं सुखी पुरुषार्थ तजि क्यों भव सने॥
सद्गुण कहै सद्गुण गहै पुरुषार्थ याही सार है।
गहि के कृपा गुरुदेव की भव सिन्धु से तब पार है॥७

पुरुषार्थ करके ही सब लोग ज्ञानी-गुणी बन जाते हैं। पुरुषार्थ से ही सदाचारी-संत-सज्जन सुखी हैं, फिर सद्पुरुषार्थ

त्याग कर तू संसार माया में क्यों लीन होता है ? दया, क्षमा, सन्तोष, विवेक, वैराग्यादि सद्गुणों का कथन और आचरण ग्रहण ही मुख्य पुरुषार्थ है। इसी से जीव का कल्याण है ॥७॥

मन मारिके जग त्यागि के गुरु ज्ञान में होवे अटल।
स्थिर रहे तेहि मार्ग में किञ्चत् नहीं होवे विचल॥
इसके लिये दृढ़ यत्न कर पुरुषार्थ याही सार है।
गहि के कृपा गुरुदेव की भव सिन्धु से तब पार है॥८

संसार का यथायोग्य त्याग करके और मन को मार कर स्वरूपबोध में दृढ़ हो जाय। इस स्वरूप-अभ्यास में सदैव ऐसा दृढ़ रहे कि कभी किञ्चित्मात्र भी हटे नहीं। इसके लिये एक-रस अविचल पुरुषार्थ करना चाहिये, यही मुख्य साधन है। तभी जीव गुरु-कृपा से भवाब्धि तर जायगा ॥ ८ ॥

पुरुषार्थ दो परकार का शुभ औ अशुभ संसार में।
निश्चय हुआ जिसकी तरफ रहते उसी विस्तार में॥
निर्णय यथारथ जो गहे पुरुषार्थ याही सार है।
गहि के कृपा गुरुदेव की भव सिन्धु से तब पार है॥९

शुभ और अशुभ संसार में ये दो प्रकार के पुरुषार्थ हैं। जिसकी ओर जिसको निश्चय हो गया, उसी के फैलावे में वह रहता है। यथार्थ निर्णय युक्त जो दया शीलादि शुभ पुरुषार्थ ग्रहण करता है, वही संसार-सागर से पार होता है। क्योंकि यही मुख्य साधन है ॥ ९ ॥

जेहि भाँति से जिव काज हो वैसे करो सहलग्न से।
तन मन वचन अर्पण करो गुरुभक्ति में सहमग्न से॥
सूरत स्वतः भूलो नहीं पुरुषार्थ याही सार है।
जपते रहो निजको सदा भव सिन्धु से तब पार है॥१०

जिस भाँति से जीव का कल्याण हो, वही कार्य उत्साह पूर्वक करो, सद्गुरु की भक्ति में अपने तन; मन और वचन को प्रेम पूर्वक अर्पण कर दो। सन्त श्रीरामसूरतसाहेब कहते हैं—अपने चेतन स्वरूप को कभी भी मत भूलो—यही मुख्य पुरुषार्थ है। सदैव अपने आप चेतन स्वरूप को स्मरण करते रहो, तभी संसार-सागर से पार होकर मुक्त हो जाओगे॥१०॥

प्रश्न—मुख्य पुरुषार्थ और उसका फल क्या है?

उत्तर—दुःखालय शरीर-संसार का अभाव करके देह से भिन्न अपने आप शुद्ध चैतन्य पारख स्वरूप का भाव पूर्वक निरन्तर चिन्तन करना यही मुख्य पुरुषार्थ है। और पूर्ण काम होकर हर्ष-शोक रहित उस अपने स्वरूप में ही दृढ़ स्थिति एवं एकरस विश्रान्ति की प्राप्ति—पुरुषार्थ का फल है। भाव पूर्वक निरन्तर स्वस्वरूप में मन लगाये हुए पुरुष का प्रारब्धान्त में सदैव के लिये विदेह मोक्ष हो जाता है। अतएव यह "स्वरूप-चिन्तन" रूप पुरुषार्थ ही सार है।

२—पाये बिना निज स्थिती बहते सभी भवधार हैं॥
सुख मान भोगहिं प्राप्त जो विद्या सकल पढ़ जाइये।

ज्ञानी गुणी पण्डित चतुर नामी यशी कहलाइये ॥
नहिं बोध है निज को जिन्हें मिथ्या सकल व्यापार है।
पाये बिना निज स्थिती बहते सभी भवधार हैं ॥१

सुख-भोग और मान प्राप्त हो, सम्पूर्ण विद्या पढ़ लिया हो। ज्ञानी-विज्ञानी, गुणी, पण्डित, चालाक, नामी-ग्रामी और यशस्वी कहलाता हो। परन्तु मैं कौन हूँ, इसका यथार्थ ज्ञान जिसे नहीं है, उसका उपरोक्त सब व्यापार व्यर्थ है। स्वस्वरूप-ज्ञान पूर्वक अपनी स्थिति पाये बिना सब जीव संसार-प्रवाह में बह रहे हैं॥ १ ॥

प्रश्न—स्वरूपज्ञान, अपनी-स्थिति और भवधार किसे कहते हैं ?

उत्तर—देह से भिन्न (अजर-अमर-अविनाशी) मैं शुद्ध चैतन्य पारखरूप हूँ—यह स्वरूप ज्ञान है। संसार-शरीर की वासना प्रियता सर्वथा त्याग कर अपने स्वरूप भाव एवं चिन्तन तथा शान्ति में तृप्त रहना—अपनी-स्थिति है। जन्म-मरण; गर्भवास, विषय-वासना, खानी-वाणी—यही भवधार है। भव कहते हैं जगत् या जन्मादि को, धार का अर्थ प्रवाह है।

परवीण हो व्यवहार में आचार में सब से बड़ा।
सम्पन्न हो धन-धान्य से बनि शूर वर सबसे लड़ा ॥
होवे विफल पुरुषार्थ सब निज बोध बिन सब ख्वार है।
पाये बिना निज स्थिती बहते सभी भवधार हैं ॥२

व्यवहार में कुशल हो, स्नानादि आचार में सब से श्रेष्ठ हो। धन-धान्य से युक्त हो, श्रेष्ठ योद्धा बन कर सब को परास्त कर दिया हो। परन्तु यह उसका सब पुरुषार्थ निष्फल है, क्योंकि स्वरूपज्ञान बिना सब व्यर्थ है। अपनी स्थिति प्राप्ति बिना सब जगत्-तरंग में डूब रहे हैं ॥ २ ॥

तीरथ बरत धाते सदा स्वर्गादि मुक्ती के लिये।
जप यज्ञ तप करते रहे योगादि सिद्धी के लिये।
पञ्चाग्नि साधन करि मुये निज बोध बिन सब भार है।
पाये बिना निज स्थिती बहते सभी भवधार हैं ॥३

कल्पित स्वर्ग या सामीप्यादि मुक्ति अर्थ सदैव तीर्थाटन करते, उपवास रहते। नाम जप, अश्वमेधादि यज्ञ, नाना तप, कल्पित सिद्धियों के लिये योगादि साधन करते। पञ्चाग्नि तापनादि नाना साधन करके जीव जड़ाध्यासी होजाते हैं, क्योंकि पारख स्वरूपज्ञान बिना यह सब बोझ रूप हैं। स्वरूप स्थिति-प्राप्ति बिना किसी का दुःख नहीं छूटता ॥ ३ ॥

मन इन्द्रियों के धार में लोलुप बने फिरते रहैं।
सद् आचरण गहते नहीं दुष्कर्म में अति रत रहैं॥
कैसे मिलै गुरु बोध तब जिनको नहीं वह प्यार है।
पाये बिना निज स्थिती बहते सभी भवधार हैं ॥४

जो लोग मन-इन्द्रियों के विषय-प्रवाहों में लोलुपी (तृष्णालु) बनकर निशिदिन भ्रमते रहते हैं। अहिंसा-ब्रह्मच-

यदि सदाचरण नहीं ग्रहण करते, पाप कर्मों में अत्यन्त आसक्त हैं। फिर उनको सद्गुरु का यथार्थ ज्ञान कैसे मिलेगा ? जबकि उन्हें वह ज्ञान प्रिय नहीं है। स्थिति बिना सब भव-भोग में बह रहे हैं ॥ ४ ॥

सिगरेट बीड़ी चर्स पी खाते तमाकू पान को।
सब धन इसी में छार करि जाने न धर्म अरु ज्ञान को॥
सत्संग में आते नहीं दुर्व्यसन में आगार हैं।
पाये बिना निज स्थिती बहते सभी भव धार हैं ॥५॥

सिगरेट, बीड़ी चर्स आदि पीते हैं, पान-तमाकू खाते हैं। सारा धन इसी में नष्ट कर देते, धर्म-ज्ञान को जानते नहीं। विवेकियों के सत्संग में आते नहीं, परन्तु दुर्व्यसनों के मन्दिर बने हैं। ऐसे जीव सन्तोष-विचार बिना जगत्-प्रवाह में भ्रमते रहते हैं ॥ ५ ॥

हैं पूर्व के कछु पुण्य से सुख भोग सब जिनको मिले।
अब सोचते वे हैं नहीं मदमस्त में जो हैं पिले ॥
गुरु-साधु के उपदेश को वे समझते आसार हैं।
पाये बिना निज स्थिती बहते सभी भवधार हैं ॥६॥

पूर्व नर-जन्मों के शुभ कर्मों द्वारा जिनको सब सुख-भोग आज मिले हैं। और उसी मद के मस्ती में जो प्रमत्त हैं, वे कुछ भी परिणाम का सोच-विचार नहीं करते। धन-शासन

विद्या, रूप और शरीर के मद में भूलकर विवेकी साधु-गुरु के सद्उपदेश को वे व्यर्थ समझते हैं। और बोध-प्राप्ति बिना दुःख के पात्र बने रहते हैं ॥ ६ ॥

जो पाप करते हैं सदा सुख चाहते पुनि स्वर्ग का।
कैसे मिले उनको भला जो है नहीं कुछ काम का॥
है शून्य उर धर्मादि से जिनको न ज्ञान विचार है।
पाये बिना निज स्थिती बहते सभी भवधार हैं॥७

जो लोग हिंसा, चोरी तथा व्यभिचारादि पाप कर्म सदैव करते हैं और फिर स्वर्ग का सुख भी चाहते हैं। तो भला उनको वह कैसे मिलेगा, जब वे किसी अच्छीगति लायक कोई काम ही नहीं करते। धर्म-सत्कर्मादि से जिनका हृदय शून्य है, कुछ भी ज्ञान-विचार नहीं है। वे अपनी स्थिति-प्राप्ति बिना संसार-प्रवाह में भ्रमते रहते हैं ॥ ७ ॥

कोटिन यतन करते रहैं गुरुशरण बिन सुख है नहीं।
इस हेतु से गुरुशरण लो सब पाप नाशे तब सही॥
तजि दीनता वर वीर बन क्यों भटकता संसार है।
पाये बिना निज स्थिती बहते सभी भवधार हैं॥८

मनुष्य चाहे करोड़ों उद्योग करता रहे, परन्तु वैराग्यशील सद्गुरु की शरण लिये बिना यथार्थ सुख नहीं मिल सकता। अतएव हे प्रिय बन्धु! गुरु-शरण ग्रहण करो, तब तुम्हारे सब

पाप निश्चय से नष्ट हो जायँगे। तू भोग-इच्छा रूप दुर्बलता को त्याग कर और वैराग्य-बोध में श्रेष्ठ वीर बन जा। तू व्यर्थ संसार चक्र में क्यों भटकता है ? अपने कल्याण-प्राप्ति बिना सब जीव जन्मादिक प्रवाह में बह रहे हैं ॥ ८ ॥

सुन कर गुरू के टेर को रहते सदा तैयार हैं।
दुष्कर्म को सब छोड़ कर शुभकर्म में हुशियार हैं॥
सन्तोष सुख उनको मिले संसार में वह प्यार है।
पाये बिना निज स्थिती बहते सभी भवधार हैं ॥ ९ ॥

सद्गुरु के उपदेश को सुनकर जो जिज्ञासु सदैव साधन में तत्पर रहता है। और सर्व पाप कर्मों को सर्वथा त्याग कर सत्कर्म करने में जो सदैव सावधान रहता है। उस व्यक्ति को सन्तोष रूप अविचल सुख मिलता और जगत् में वह सब सज्जनों को प्रिय रहता है। अतः बिना अपनी स्वरूप-स्थिति प्राप्त हुए सब जीव संसार-सागर में भ्रमते रहते हैं ॥ ९ ॥

गुरु ज्ञान ही जेहि प्रिय लगे सद्ज्ञान सुख उनके हिये।
पुनि दुख न हो उनको कहीं रत्तक परम् जिनके लिये॥
"सूरत" स्वतः दृढ़ यत्न यह करते रहो निशिवार है।
फिर प्राप्त कर निजबोध को तब ना बहो भवधार है १०

सद्गुरु का दिया हुआ पारख स्वरूपज्ञान ही जिसको प्रिय लगता है, स्वरूपज्ञान का निश्चिन्त सुख उसी के हृदय में अनुभव होता है। फिर उनकी कहीं भी दुःखों से भेंट नहीं

होती, क्योंकि उनके लिये परम् रक्षक सद्‌गुण, स्वरूपज्ञान सब उनके साथ-साथ रहते हैं। सद्‌गुरु श्रीरामसूरतसाहेब कहते हैं—यह अपनी स्थिति की प्राप्ति का साधन निश्चलता पूर्वक निरन्तर करते रहो। फिर अपने बोध और बोध-साधन को प्राप्त कर निर्वासनिक स्थित हो जाने पर कभी भी संसृति चक्र में न बहोगे ॥ १० ॥

प्रश्न—इस छन्द का सार भाव क्या है?

उत्तर—'मैं कौन हूँ' इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर और सर्व दुराचरण-दुर्गुणों को त्याग कर सदाचरण-सद्‌गुण पूर्वक जब तक अपने आप में जीव सन्तोष युक्त स्थित नहीं होता, तब तक सांसारिक कोई भी पदार्थ की प्राप्ति में जीव को शान्ति नहीं मिलती और न तब तक जीव का जन्म-मरण चक्र ही छूटता है। परन्तु जब स्वरूपज्ञान प्राप्तकर और मन-इन्द्रिय सम्बन्धी बाह्य विषयों की प्रवृत्ति को त्याग कर साधन युक्त स्वस्वरूप में ही दृढ़ स्थित हो जाता है। तब जीव की नित्य के लिये सन्तुष्टि, पूर्णकामता एवं जीवन्मुक्ति हो जाती है। और प्रारब्धान्त पश्चात् जन्म-मरण से सर्वथा छूट कर सर्वदा के लिये जीव अत्यन्त मुक्त हो जाता है। अतएव स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति की प्राप्ति ही जीवन लाभ है—यही इस छन्द का सार भाव है।

३—सो चतुर सुज्ञ उदार है।

निष्ठा जिसे गुरुदेव में अरु सन्त में अति प्रेम है।

साधन तितिक्षा के सहित वह बरतता शुभ नेम है ॥
करता सदा गुरु भक्ति सेवा लोभ से वह पार है।
कल्याण में जिसकी लगन सो चतुर सुज्ञ उदार है १

विवेकी सद्‌गुरु में जिसकी श्रद्धा है और वैराग्यवान् सन्तों में जिसका अत्यन्त प्रेम है। वह साधन, तितिक्षा (सहन) के सहित कल्याणकारी नियमों का पालन करता है। वह सदैव गुरु की भक्ति और सन्तों की सेवा करता है और लोभ-लोलुपता से परे रहता है। मोक्ष-प्राप्ति में जिसका प्रेम है, वह बुद्धिमान, ज्ञानी और महान् है ॥ १ ॥

सन्मुख सदा गुरुदेव के रहता परम् वह दीन है।
नहिं चाह सुख अरु मान की गुरु भक्ति ही में लीन है ॥
सद्ज्ञान धन उसके लिये व्याधी विषय सुख छार है।
कल्याण में जिसकी लगन सो चतुर सुज्ञउदार है २

वह जिज्ञासु विवेकवान् सद्‌गुरु के सामने सदैव अत्यन्त नम्र रहता है। उसे सांसारिक मान-सुख की इच्छा नहीं रहती, गुरु-भक्ति (स्वरूप-विचार) में ही वह सदा निमग्न रहता है। स्वरूपज्ञान रूप अखण्ड कोश उसके हृदय में विराजता है, विषय-सुख की इच्छा रूप रोग उसका सर्वथा नष्ट हो जाता है। अतएव जिसकी मोक्ष में प्रियता है, वह बुद्धिमान, ज्ञानी और श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

वैराग्य वेग से काज सब करता रहे निरधार है।
नहिं आश तन धन मित्र की लखता सभी आसार है॥
निर्द्वन्द्व वह निश्चिन्त वह ऐसा परम सुविचार है।
कल्याण में जिसकी लगन सो चतुर सुज्ञ उदार है ३

वह साधक वैराग्य के बल से स्वयं स्वावलम्बी होकर सदैव अपने सब साधनों को करता रहता है। उसे शरीर, धन और मित्रों की किञ्चित् मात्र भी आशा नहीं रहती, वह सबको निःसार–रिक्त देखता है। ऐसा वह श्रेष्ठ-सुन्दर विचार ही है कि उसको धारण करके वह सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से रहित होकर निर्द्वन्द्व और सर्वथा चिन्ता शून्य होकर स्वच्छन्द पृथ्वी तल पर विहरता है। इसलिये कल्याण प्राप्तिमें जिसकी निष्ठा है, वही बुद्धिमान् ज्ञानी और महान् है ॥ ३ ॥

नहिं राग है नहिं रोष है नहिं मान है नहिं शान है।
फीका उसे सुख भोग सब नहिं सुन्दरी का ध्यान है।
वैराग्य में करि प्रेम अति निज को लखै नित न्यार है॥
कल्याण में जिसकी लगन सो चतुर सुज्ञ उदार है ४

उसको न किसी से मोह है और न वैर है और न किसी वस्तु का मान मद ही है। संसार के सारे माने हुए सुख भोग उसे तुच्छ हैं, सुन्दरी-नारी को तो अग्नि की भट्ठी रूप एवं यमत्रास समझ कर उसका किञ्चित् भी चिन्तन नहीं करता।

वैराग्य में अत्यन्त प्रेम करके अपने चेतन पारख स्वरूप को वह सदैव शरीर से भिन्न समझता है। अतः कल्याण-प्रेमी बुद्धिमान् ज्ञानी और श्रेष्ठ मानने योग्य है ॥ ४ ॥

है दुख अमित चव खानि के परत्यच्छ सब को दिख रहे
होकर सजग तेहि से सदा कोई सुज्ञ नर निज बच रहे
दुख रूप तन मन पेखि के गहते सदा सत सार हैं।
कल्याण में जिसकी लगन सो चतुर सुज्ञ उदार है ५

मनुष्य, अण्डज, पिण्डज और उष्मज—इन चार खानियों के अपार क्लेश सबको प्रत्यक्ष दिखलाई देते हैं। इन दुःखों का कारण जड़ विषय-वासना समझ कर इन विषय-वासनाओं से कोई विवेकी पुरुष सदैव सावधान होकर बचते रहते हैं। सर्वाङ्ग शरीर और मन-स्मरणों को दुःखरूप देखकर वे सार-सत्य पारख चैतन्यस्वरूप की स्थिति को ही ग्रहण करते हैं। अतः कल्याण निष्ठक व्यक्ति बुद्धिमान, ज्ञानी और महान् है ॥ ५ ॥

सब स्वप्न माया मोह मय जिसने किया तिरस्कार है।
स्नेह पद गुरुदेव के भक्ती ही जिसको प्यार है ॥
नहिं चाहता वह और कुछ निज स्थिती उरधार है।
कल्याण में जिसकी लगन सो चतुर सुज्ञ उदार है ६

स्वप्नवत् मिथ्या समझ कर सम्पूर्ण माया के मोह को जिसने हृदय से सर्वथा त्याग दिया है। वैराग्यशील सद्गुरु के चरण कमलों में अथवा स्वरूप ज्ञान-मनन में जिसका प्रेम है,

और जिसे भक्ति ही हृदय से प्रिय है। वह अन्य सांसारिक पदार्थों को कुछ भी नहीं चाहता, केवल अपनी स्वरूप स्थिति ही हृदय में दृढ़तापूर्वक धारण करता है। अतः कल्याण-प्रेमी ही बुद्धिमान्, ज्ञानी और महान् है ॥ ६ ॥

सत्संग में अति प्रेम जेहि धोखा सभी नशि जाय है।
अविकार निजको बोध उर गुरु मन्त्र सो अपनाय है।
प्रारब्ध पर नित रह निरन्तर तोष युत निरधार है।
कल्याण में जिसकी लगन सो चतुर सुज्ञ उदार है ७

विवेकी सन्तों के सत्संग में जिसे अत्यन्त प्रेम है, उसके खानी-वाणी के सब धोखा-भ्रम सत्संग से धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं। निर्विकार अपने शुद्ध चैतन्य पारख स्वरूप का बोध हो जाता है, वह सद्गुरु के सत्योपदेशों को अक्षरशः धारण करता है। शरीरनिर्वाह और सुख-दुःखादि में वह प्रारब्ध पर ही सन्तोष पूर्वक सदैव निर्भर रहता है, और निराधार पारख स्वरूप में दृढ़ स्थित रहता है। अतः कल्याण-निष्ठक ही बुद्धिमान, ज्ञानी और महान् है ॥ ७ ॥

अज्ञान आसक्ती दलन करि विनय गुरु की गाय है।
गुरु श्रेष्ठता को पायकर निज दीनतादि नशाय है॥
लहि नम्रता उर शुद्ध नित करि पाप दोषहिं छार है।
कल्याण में जिसकी लगन सो चतुर सुज्ञ उदार है ८

वह साधक भूल-राग को नष्ट करके सद्गुरु-सन्तों से विनम्र

भाषण करता है। सद्गुरु के दिये हुए स्वरूपज्ञान रूपी महा-नता को पाकर अपनी विषय-इच्छा दीनता-दरिद्रता को निर्मूल कर देता है। सब पाप-दोषों[1] को जलाकर और नम्रता-भक्ति धारण करके हृदय को शुद्ध बना लेता है। अतएव मोक्ष-प्रेमी साधन-रत पुरुष ही बुद्धिमान्, ज्ञानी और महान् है ॥८॥

प्रश्न—इस छन्द का क्या सारांश है ?

उत्तर—सब दुर्गुण-दुराचरण, पाप-दोष, माया का मोह त्याग कर सत्संग, भक्ति और सद्रहस्य युक्त जो अपना कल्याण-साधन करता है, वही सब मनुष्यों में महान् है। क्योंकि वह जगत् की कामना और चिन्ता से सर्वथा रहित होकर निरन्तर पूर्ण काम हो जाता है। उसे इस संसार में पुनः कुछ कर्तव्य एवं प्राप्तव्य शेष नहीं रहता है—यही भाव इस छन्द में दर्शाया गया है।

४—स्वराष्टक छन्द ।

अ अधार तु गुरु क ले तव त्रिविध दुख मिटि जायगा।
तन मन लगा पुरुषार्थ कर निष्काम पद को पायगा ॥
आ आप में सन्तुष्ट हो तजि फिक्र जग सन्ताप है।
आदेश यह गुरुदेव का दै मन्त्र जीवहिं जाप है ?

हे जीव ! तू वैराग्यवान् सद्गुरु का आश्रय पकड़, तब

१—चोरी, हिंसा, व्यभिचार, गाली, निन्दा, झूठ, ईर्षा, क्रोध, मान, छल, इत्यादि ही दोष, पाप हैं।

तुम्हारा त्रयताप का क्लेश नष्ट हो जायगा। तन-मन लगाकर उत्साह सहित जब सद्पुरुषार्थ करोगे, तब सन्तुष्ट, पूर्णकाम पद को पाओगे। अतएव संसार की चिन्ता-सन्ताप त्याग कर तू अपने आप चेतन पारख स्वरूप में दृढ़ स्थित हो जा। यही सद्गुरु का उपदेश है—अपने चेतन पारख स्वरूप का भाव युक्त निरन्तर चिन्तन करो ॥ १ ॥

इ इसी संसार को तजि एक दिन चलि जायगा।
कोई नहीं पग एकपल भी संग तेरे जायगा॥
ई ईश बानी देह के अभिमान में तू मस्त है।
जाते दिखे ना भूप जग सब भूमि में ही पस्त है २

हे जीव! इस संसार को त्याग कर तू एक दिन चला जायगा। फिर उस समय तुम्हारे साथ में एक क्षण के लिये एक पैर भी कोई (प्राणी-पदार्थ) नहीं जायँगे। कल्पित कर्ता एवं वाणी जाल और शरीर के अभिमान में जो तू उन्मत्त हो रहा है, सो तू किस खेत की मूली है? अरे! इस संसार से बड़े-बड़े सम्राटों के जाते विलम्ब न लगा, सब का शरीर एक दिन इस मिट्टी में लीन हो जाता है ॥ २ ॥

उ उसी भ्रम भूल से भवधार ही में बह रहे।
गुरु ज्ञान यान चढ़ाय के भवपार जन को कर रहे॥
ऊ है नहीं ऊपर कछू यक पोल ही आकाश है।
कर्ता न ईश्वर ब्रह्म कोई जीव ही यक खास है ॥३

उपरोक्त खानी-वाणी के भ्रम और स्वरूप की भूल से जन्म-मृत्यु के प्रवाह में सब जीव अनादि से बहते जाते हैं। ज्ञान रूपी नावका पर चढ़ाकर उस भवधार से प्राणियों को सद्गुरु पार कर रहे हैं। ऊपर कर्ता-स्वर्गादि की कल्पना मत करो, ऊपर यह सब कुछ नहीं है, केवल शून्य है। अन्य कर्ता ईश्वर-ब्रह्म कोई नहीं, अगणित जीव ही मुख्य अनादि स्वतः हैं॥३

ए एक चित गुरु न्याय जो धारण करो नित प्रेम से।
बरतो सदा सुविचार युत रहिये अखण्डित नेम से॥
ऐ ऐन गुरु के ज्ञान बिन जीवन निरर्थक जाय है।
दृढ़ व्रत धीरज गहि सदा सो परम् पद को पाय है॥४

जो सद्गुरु की नीति एवं आचरण है, उसे एकाग्र चित्त से प्रेमपूर्वक निरन्तर धारण करो। व्यवहार में विचार पूर्वक बरतो और साधन-नियम में अखण्ड भाव युक्त रहो। सद्गुरु के ज्ञान और आचरण बिना यह जीवन व्यर्थ चला जाता है। अतएव सद्रहस्य रूप व्रत को दृढ़ता और धैर्य पूर्वक जो ग्रहण करता है, वह परम्पद रूप मोक्ष को प्राप्त होता है॥ ४ ॥

ओ ओट ले गुरुदेव का नाहक जनम तू खो रहा।
फिर भी उसी में भूल निज को लोभ करके गो रहा॥
औ और है कोई नहीं सब जीव ही का कर्म है।
ज्यों भासता अहि रज्जु में तिमि जीव ही का भर्म है ५

हे जीव! सद्गुरुदेव की तू शरण ले ले, व्यर्थ में अपने

मोक्ष-प्रद जन्म को तू क्यों नष्ट कर रहा है ? नर तन पाकर भी अपने स्वरूप को भूलकर उन्हीं विषय भोगों में मोह करके मिल रहा है। सुख-दुःख का देने वाला अन्य कोई नहीं है। सुख-दुःखादि सर्व भोगों का हेतु जीवों के शुभाशुभ कर्म ही हैं। (नेत्र-दोष, अन्धकार, सामान्य-प्रकाश, दूरत्व और सादृश्यता—इन पाँच दोषों से) भ्रम वश जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीत होती है, तैसे स्वस्वरूप की भूल से विषयों में सुख मान-कर जीव भ्रमता रहता है ॥ ५ ॥

अं अः हृदय में अंक इक गुरु पद कमल आधार हो।
विपरीत सबहीं छोड़ कर धारण करो सतसार हो ॥
यह ऐश औ ऐश्वर्य सब क्षणभंग नश्वर जानिये।
अभिमान करना नहिं भला सत्संग में सुख मानिये॥६

हृदय में सद्लक्षण युक्त एक सद्गुण को ही धारण करो, और सद्गुरु के चरण कमलों का आश्रय पकड़ो। सब उल्टी चालें (दुराचरणों को-) सर्वथा छोड़ कर सत्स्वरूप ज्ञान और जीवन का सार (लाभ) मोक्ष को प्राप्त करो। और यह ऐश्वर्य-विलास को तो सर्वतो भाँति से क्षणभंगुर एवं नाशवान् समझो। इन सबों के अभिमान करने से अपना भला न होगा, अतएव सत्संग तथा सत्मार्ग में ही अपना कुशल समझिये ॥ ६ ॥

ऋ रीत सुन्दर छोड़कर जो चल रहे अनरीत हैं।

निज मार्ग से होकर पतित गुरु सन्त से विपरीत हैं ॥
तू लीन हो सत्मार्ग में सत्संग बल से जाग हो ।
जिज्ञासु बन गुरु शरण ले निज रूप ही में पाग हो ॥७

जो अच्छे आचरण को त्याग कर बुरे आचरण में चल रहे हैं। अपने कल्याण मार्ग से गिर कर विवेकी साधु-गुरु के न्याय से उलटे चलते हैं, वे ठीक नहीं करते हैं। अतएव सत्संग से परमार्थ की शक्ति को प्राप्तकर और अज्ञान से सावधान होकर कल्याण-मार्ग के आचरणों में प्रेम पूर्वक तत्पर हो जाओ। ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा वाला बनकर सद्गुरु की शरण लो और साधन युक्त अपने चेतन स्वरूप में दृढ़ स्थित हो जाओ ॥ ७ ॥

यह स्वर वो श्वासा देह के अन्दर सकल व्यापार हैं।
निज रूप चेतन भिन्न सबसे गुरु लखाया सार है ॥
"सूरत" स्वतः निजरूप को हरदम करो अब जाप हो।
दे छोड़ आशायें सकल जिससे नशे सन्ताप हो ॥८

यह सम्पूर्ण स्वर-अक्षरादि प्राणयुक्त शरीर में रहे हुए चेतन मनुष्य का व्यापार है। इन सर्व विद्या-अविद्याओं से अपना चेतन स्वरूप भिन्न है, सद्गुरु ने उसी को सत्य बतलाया है। ग्रन्थ कर्ता सन्त "श्रीरामसूरत साहेब" कहते हैं—अपने शुद्ध ज्ञान चैतन्य पारख स्वरूप का अब निरन्तर चिन्तन करो। और दुःख पूर्ण संसार की सम्पूर्ण आशाओं को सर्वथा त्याग दो, जिससे

तुम्हारा सम्पूर्ण क्लेश सदा के लिये विनष्ट हो जाय ॥८॥

प्रश्न—इस छन्द में किस भाव को प्रकट किया गया है ?

उत्तर—इस छन्द में यह बतलाया गया है कि धन, प्रभुता ऐश्वर्य, विलास, मान, बड़ाई, कुटुम्ब, गृह, शरीर, विद्या, वाणी आदि सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ नाशवान् छूटने वाले हैं। अतएव इनका मद सर्वथा त्यागकर और सद्गुरु शरण लेकर अपना कल्याण कर लेना चाहिये।

५—चौंतीसा वर्ण-विचार।

क है कपट से पूर्ण सब सुख भोग मिथ्या मानिये।
नर जीव ही कर्त्ता इसे अध्यास करके जानिये ॥१
ख खानि नारी सुत विषय भोगादि का विस्तार है।
मरते जन्मते शून्य में कहते यही संसार है ॥२

संसार के सम्पूर्ण भोगों के सुख छल-कपट पूर्ण और मिथ्या हैं—ऐसा समझो। भूलवश इस मनुष्य जीव ही को कर्मों का कर्ता और वासना-वश फँसा हुआ जानो ॥ १ ॥ स्त्री, पुत्र और विषय भोगादि—यही खानी जाल का फैलावा है। शून्य एवं मिथ्या रूप विषय-सुखों के विवश होकर जीव मरते-जन्मते रहते हैं, इसी को विवेकी जन संसार कहते हैं ॥२

ग गोत गाथा गा रहे करते नहीं कछु गौर हैं।
अरु मोह की पट्टी बँधी अज्ञान का घनघोर है ॥३

घ है घमँड करना वृथा सुख साज प्राणी वस्तु का ।
सब छूटते पल मात्र में साथी नहीं कोइ अन्त का ॥४

जो लोग छन्द-प्रबन्ध गायन कर और कथा कहकर दूसरे को सुनाते हैं, परन्तु अपने सुधार के लिये उस कथन पर लक्ष्य नहीं करते। जिनके हृदय के विवेक नेत्रों पर मोह की पट्टी बँधी है, जिनके हृदय में अज्ञान का घनघोर अन्धकार है, उनका भविष्य बड़ा बुरा है ॥ ३ ॥ संसार के सुख-सामग्री और प्राणी-पदार्थों का अभिमान करना व्यर्थ है। क्योंकि क्षणमात्र में ये सब छूट जायँगे और अन्त में परलोक के लिये कोई अपना साथी न होगा ॥ ४ ॥

ङ है निमिष में नाश हो माया विभव रचना सभी ।
स्पर्श यह पाँचो विषय सुख मानना जो हैं सभी ॥५

च चोर चंचल चित्त मन सद्ज्ञान धन को लूटता ।
है जीव स्वामी भूप को अति गाफिली उर शूलता ॥६

हे जीव ! जिसका तेरे को बड़ा भारी अभिमान है, वे कोमलाङ्गी के सुकोमल स्पर्श एवं सुख-सानन्दी युक्त पाँचों विषयों के सर्व भोग, धन-ऐश्वर्य और सम्पूर्ण आकर्षण क्षण-मात्र में नष्ट हो जायँगे ॥ ५ ॥ यह चित्त या मन चंचल तथा चोर है, यह पारख स्वरूपज्ञान रूपी धन को सदैव लूटता रहता है। यह शरीर रूपी घर का स्वतन्त्र स्वामी जो जीव है, वह मन से जो असावधान हो जाता है, यह असावधानी ही जीव के हृदय में अत्यन्त पीड़ा पहुँचाती है ॥ ६ ॥

छ है क्षणिक सुख भोग जग के चल विचल सब हो रहे।
यौवन छटा विद्या वो वाणी बुन्द जल सम ढह रहे॥७

ज जन्मना मरना जगत में वासना सुख बीज है।
विष वासना के दग्ध से निज मोक्ष पद को लीज है॥८

संसार के सम्पूर्ण सुख-भोग क्षणभङ्गुर हैं, प्रत्यक्ष ही सब नष्ट हो रहे हैं। जवानी, सुन्दरता, एवं विद्या-वाणी सब जल कणवत् नष्ट हो जाते हैं॥७॥ विषय सुखों की वासना ही संसार में जन्मने-मरने का बीज है। विवेक-वैराग्यादि द्वारा विषय-वासनाओं को सर्वथा नष्ट कर देने से अपना परम् मोक्ष पद सदैव के लिये प्राप्त हो जाता है॥ ८॥

झ झाल झगड़ा बढ़ रहा है ईश वो देवादि का।
सब कर्म में फँसते गये सुनि भोग सुख स्वर्गादि का९

ञ निग्रही मन का बनो फन्दा सकल नश जायगा॥
तब आप आपहिं शान्त है निरधार पद को पायगा १०

संसार में कर्ता-देवादि का अन्धकार और झगड़ा बढ़ रहा है। कल्पित स्वर्ग-साकेत लोकादि के सुख-भोगों को गुरुओं द्वारा सुन करके सब जीव नाना कर्म-बन्धनों में फँसते जाते हैं॥ ९॥ अतएव सर्व विषय-वासनाओं और कल्पना-भ्रमों से मन को हटाकर मनका रोकनेवाला बनो, तब समस्त बन्धनों का नाश हो जायगा। फिर तो अपने आप चेतन पारख

स्वरूप में स्थित होकर निराधारमोक्ष पद को सदैव के लिये पा जाओगे ॥ १० ॥

ट टाल दो अनुमान सब अपरोक्ष आप स्वरूप है।
जड़ भास झूठा जानकर यह तन निरय भ्रम कूप है ११
ठ ठौर पारख छोड़कर जड़-भास में क्यों पग रहा।
भरमिक ठगों नर नारिसंग क्यों मोह वश तू लगरहा १२

कर्तादि सर्व अनुमान को त्याग दो, अपना चेतन स्वरूप अपरोक्ष (स्वयं प्रत्यक्ष) है। जड़ भोगों में जो सुख का प्रतीत होता है, उसे मिथ्या समझो, यह शरीर भी नर्क और भ्रम का कूवाँ है ॥११॥ अपनी पारख स्थिति को त्याग कर खानी-वाणी के जड़-भासों में क्यों लीन हो रहे हो ? खानी-वाणी-जाल में भ्रमाने वाले और सुख-भोगों की आशा देकर ठगने वाले नर-नारियों के साथ में मोह वश तू क्यों लग रहा है ? ॥१२

ड डार कर सब कल्पना निज रूप में तू शान्त हो।
संसार बड़वानल अहै क्रोधादि में मत भ्रान्त हो १३
ढ है ढिंढोरा ढोंग का परचार बहु संसार में।
है सत्य वस्तू छिप रही पाखण्ड के आधार में ॥१४

हानि-लाभ, सुख-दुःख, हर्ष-शोकादि समस्त कल्पनाओं को सर्वथा त्याग कर अपने चैतन्य पारख स्वरूप में तुम दृढ़ स्थित हो जाओ। यह संसार तो बड़वानल के समान दुःख ज्वाला में हरक्षण खौल रहा है, अतः काम, क्रोध, लोभादि में

भ्रमो मत ॥१३॥ नाना मत के गुरु लोग संसार में ढोंग का ढिंढोरा पीट रहे हैं, कल्पित वाणी जाल का अत्यन्त प्रचार चारों ओर हो रहा है। सत्य चैतन्य वस्तु नाना पाखण्ड एवं मत वादों की गहनता में छिप रही है॥ १४ ॥

ण है दोऊ रण जाल तेहि में जीव सब गाँसे पड़े।
निज बोध पारख के बिना अनुमान धोखा में लड़े १५

त हैं तरण तारण गुरू तिनको करे जो सेव है।
अन्तःकरण तेहि शुद्ध ह्वै पावे तभी सब भेव है ॥१६

खानी और वाणी ये दोनों जाल जीव से युद्ध करने वाले मन शत्रु के सेना हैं, इसी शत्रु के सेना के बीच में सब जीव घिरे बन्धन में पड़े हैं। अपने शुद्ध पारख स्वरूप के ज्ञान बिना सब जीव अनुमान-धोखा में झगड़ रहे हैं॥१५॥ संसार में एक वैराग्यशील पारखी सद्गुरु ही स्वयं मुक्त रूप और अन्य को मुक्त करने वाले हैं, अतएव उन सद्गुरु की सेवा करके जो स्वरूपज्ञान को प्राप्त होता है। उसका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है और वह जड़-चेतनका सब यथार्थ मर्म जान जाता है१६

थ थिर रहे निजरूप-में तज कर सकल बकवाद है।
थिरता बिना दुखिया सभी सद्ज्ञान बिन बरबाद है १७

द है दया दिल में धरो दाया मनुज का धर्म है।
है धर्म बिन जीवन वृथा पशु वो दनुज का कर्म है॥१८

समस्त वाद विवादों को त्याग कर अपने स्वरूपमें दृढ़ता पूर्वक स्थित रहो। स्थिति प्राप्ति बिना ही सब जीव दुखी हैं, स्वरूपज्ञान बिना भ्रष्ट हो रहे हैं ॥१७॥ छोटे-बड़े समस्त जीवों के प्रति हृदय में दया धारण करो, क्योंकि यही मनुष्य का मुख्य धर्म है। दया-धर्म बिना यह मानव-जीवन निरर्थक है, बल्कि दया-धर्म बिना पशु और राक्षस का कर्म मनुष्य करने लगता है ॥ १८ ॥

प्रश्न—मनुष्य होते हुए पशु और राक्षस कौन है ?

उत्तर—मैं कौन हूँ, जगत क्या है ? बन्धन कैसे है, छुटकारा कैसे होगा ? इत्यादि ज्ञान की बातें जो नहीं जानता है। केवल कमाता-खाता और विषय भोगों में लीन रहता है, वह मनुष्य होते हुए भी पशु है। जो जीव-हिंसा करता, मांस खाता, मद्य पीता, चोरी-व्यभिचारी करता एवं परपीड़ा में रत रहता है, वह मनुष्य होते हुए भी राक्षस है। स्वरूपज्ञान जानने वाला दया, शील, क्षमा, सत्य, धैर्य, विचार, विवेक, वैराग्य, गुरुभक्ति एवं सत्कर्म-परायण ही पूरा मनुष्य है।

ध है धरम करना चही याही जगत में सार है।
है ध्यान जेहि परमार्थ का वहि सुज्ञ वर भव पार है ॥१६
न है नहीं कहुँ भूत जग नाउत वो ओझा जो गहे।
अनभिज्ञता से जक्त प्राणी झूठ को ही सच कहे ॥२०॥

जीव-दया, परोपकार, दुखियों की सहायता, दान, सन्त-

सेवा, सदाचरण-सद्गुण आदि धर्म सब मनुष्य को करना चाहिये, संसार में धर्माङ्ग ही जीवन-लाभ है। जिसे परमार्थ (सत्यवस्तु) चेतन स्वस्वरूप पर लक्ष्य है, वही श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष संसार से मुक्त हो जाता है ॥१९॥ भूत-प्रेत कहीं नहीं होते, नाउत, ओझा एवं बैगा आदि जो भूत-प्रेतादि की कल्पना करके उसे पकड़े हैं, वह मिथ्या है। अज्ञानता से संसार के प्राणी मिथ्या को ही सत्य कहते हैं ॥ २० ॥

प पाप करके पंक में हैं अज्ञ जिव निशिदिन सने।
पावन परम् गुरुपद कमल नहिं ध्यान है कुछ भी मने २१
फ फल करम का भोग तेहि शिर अवश्य में भोगन पड़े।
बन्धन सोई फाँसी सोई नर जीव के गल में मढ़े २२

हिंसा, चोरी, व्यभिचार एवं अभक्ष्यसेवन रूप पाप कर्म करके मलिनता रूप कीचड़ में अज्ञानी जीव रात दिन फँसे हैं। परम् पवित्र सद्गुरु के चरण कमलों का तथा स्वरूपज्ञान का लक्ष्य उनके मन में किञ्चिन्मात्र भी नहीं है ॥ २१ ॥ परन्तु उन हिंसादि पाप कर्मों का फल दुःख उनके शिर पर है, समय से उसे अवश्य भोगना पड़ेगा। यह कर्म संस्कार ही बन्धन है और यही फाँसी है, यह मनुष्य जीव के गले में मढ़ जाता है। सारांश—जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक मनुष्य-शरीर में किया हुआ कर्म अवश्य भोगना पड़ता है ॥ २२ ॥

ब बंचकी है धूर्त मन जो जीव के पीछे लगा।
है मित्र बनि तन साथ में विष भोग में रहता पगा २३
भ है भयंकर जगत में सुखमान ही भुलवाय है।
भक्ती भजन गुरु सन्त से करके रहित भरमाय है २४

जो मन सदैव जीव के साथ लगा है, यह महा ठग एवं धोखेबाज है। यह जीव का मित्र बनकर शरीर में रहता है और विषय भोगों में आसक्त रहता है ॥ २३ ॥ विषय-सुख और मान ये संसार में जीव के कठिन वैरी हैं, येही जीव को यथार्थ कल्याण-मार्ग से भुला देते हैं। भक्ति, भजन, सन्त, गुरु से विमुख करके जीव को संसार चक्र में भ्रमाते रहते हैं ॥२४

म मान माया मोह में हैं जीव सब घायल पड़े।
पारख स्वपद गुरु ज्ञान बिन संसार में सबही गड़े २५
य यान गुरुपद प्राप्त कर भव सिन्धु से तर जाइये।
नट खट जगत् दुख रूप है फिर कर यहाँ नहिं आइये २६

माया के कल्पित सुख और मान के राग में संसार के सब जीव कष्टित पड़े हैं। सद्गुरु के ज्ञान रूप स्वस्वरूप पारख के बिना संसार के मोह दलदल में ही सब जीव गड़े जाते हैं ॥२५॥ हे जीव ! सद्गुरु की शरण और स्वरूपज्ञान रूप नौका का आधार लेकर संसार-सागर से पार हो जाओ। यह संसार (नटखट) कपटी छली और दुःख रूप है। अतएव पुनः शरीर

धारण कर इस दुःखालय संसार में न आओ। विवेक-वैराग्य युक्त मोक्ष प्राप्त कर लो ॥ २६ ॥

र राम चेतन रूप है उर में सदा जो रम रहा।
तन दृश्य का द्रष्टा अहै वह दृश्य से न्यारा रहा ॥२७
ल छोड़कर लालच सभी उर लत सकल त्यागन करो।
यक लक्ष पारख ज्ञान में अन्तःकरण पावन करो। २८

सदैव हृदय में रमण करने वाला जो अपना चेतन पारख स्वरूप है, यही वास्तविक राम है। शरीर रूपी जड़ दृश्य का इन्द्रियों द्वारा देखने वाला होने से वह चेतन जड़-दृश्य शरीर से सर्वथा एवं सर्वदा भिन्न है ॥ २७ ॥ अतएव अपने को चेतन रामरूप समझ कर सब लोलुपताओं को त्यागो और हृदय के सम्पूर्ण बुरे आदतों को नष्ट कर दो। भक्ति अदि शुभ कर्मों द्वारा अन्तःकरण पवित्र बनाकर एक ध्येय से अपने पारख ज्ञान में दृढ़ यत्न पूर्वक स्थित होओ ॥ २८ ॥

व वास्तविक सद्ज्ञान का वक्ता वही सरदार है।
वाचांश को लेते हुऐ लक्षांश उर में धार है ॥२९॥
श शुचि शिरोमणि है सोई कल्याण में जिसकी लगन।
नित शान्त पद को प्राप्त कर निज रूप में होवे मगन ३०

सत्य स्वरूपज्ञान का वही श्रेष्ठ वक्ता है। जो कथन के सार अंश को लेते हुए अपने अन्तःकरण के लक्ष्य में धारण करता है ॥ २९ ॥ मोक्ष-साधन एवं मोक्ष में जिसका अत्यन्त

प्रेम है, संसार में वही अत्यन्त पवित्र और सब का शिर मुकुट है। वह अपने अविचल शाश्वती परम् शान्ति को प्राप्त कर स्वतः पारख चेतन स्वरूप में ही निरन्तर निमग्न रहता है ॥३०

ष षट् करम पशु भोग में मानव के जीवन जा रहे।
कामादि षष्ठ विकार वश सब जीव संसृति सह रहे ३१
स सार निर्णय ज्ञान बिन परतन्त्र सबहीं हैं दुखी।
गुरु बोध पारख के बिना "सूरत" सो कैसे हो सुखी ३२

भोजन, छाजन, निद्रा, भय, मैथुन, और मोह—इन छः कर्म रूप पशु-भोग में कल्याण-साधन करने योग्य मनुष्य का उत्तम जीवन व्यर्थ में जा रहा है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—इन छः विकारों अथवा उत्पन्न होना, बढ़ना, बाल, युवा, वृद्ध मृत्यु—इन छः विकारों के वश होकर सब जीव आवागमन के दुःखों को सह रहे हैं ॥३१॥ सत्य-निर्णय एवं स्वरूपज्ञान बिना सब जीव मन-इन्द्रिय एवं वाम-वंचक के फन्दे में पड़े हुए पराधीन दुखी हो रहे हैं। सन्त "श्रीरामसूरत साहेब" कहते हैं—सद्गुरु का यथार्थ पारख-बोध प्राप्त हुए बिना जीव कैसे सुखी हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥३२॥

ह त्याग दो हंकार सब तन बल विभव स्थिर नहीं।
सद्ज्ञान गुण मन में धरो फिर क्या कमी देखो सही ३३
क्ष क्षमा हितकर सभी क्षमतालु बनना चाहिये।
हन्ता व ममता त्याग कर कल्याण करना चाहिये ३४

सब अभिमान सर्वथा त्याग दो, क्योंकि ये शरीर, शक्ति और धन स्थाई नहीं हैं। स्वरूपज्ञान और सद्गुण हृदय में धारण करो, फिर तुम्हें क्या कमी रहेगी ? अर्थात् कुछ नहीं, यह बात स्वयं अनुभव करके देखो ॥ ३३ ॥ क्षमा सद्गुण सब के लिये हितकारी है, अतएव सब को क्षमालु बनना चाहिये। विजाति दृश्य माया की अहन्ता-ममता त्याग कर अपना मोक्ष-साधन करना चाहिये ॥ ३४ ॥

प्रश्न—इस छन्द में क्या बतलाया गया है ?

उत्तर—माया का मद-मान और आसक्ति त्याग कर जीवन-सुधार एवं दुर्लभ परम् पद मोक्ष की प्राप्ति के लिये विविध ज्ञान-विचारों का निर्णय किया गया है। जिसे थोड़े में पूर्ण रूप से नहीं बताया जा सकता। अतएव ऊपर के पदों का पूर्ण भाव समझने के लिये उन पदों को पुनः-पुनः पढ़ो।

६—सवैया।

वृत्ति मनो वश मेल सबै जग, चाह अनेकन जीव दुखी है।
राजा वो रङ्क सुखी नहिंहोवत, एक न एककी चाह जगी है
नाश न होत लखेबिन पारख, शुद्ध स्वरूपसो आप सही है
सर्व परीक्षक आपहि चेतन, चेत करे भवपार वही है ॥१

स्वार्थ पूर्ण मनोवृत्ति के वशीभूत होकर सब जगत् जीवों से मनुष्य समता लेता है, अनेक विषय इच्छाओं को धारण कर यह जीव कष्टित हो रहा है। राजा-दरिद्र कोई सुखी नहीं

होते, एक-न-एक विषयों की इच्छा उठकर हरक्षण जीव को कष्ट देती रहती है। सबसे भिन्न मैं शुद्ध चैतन्य पारख स्वरूप पूर्णकाम एवं सत्य हूँ—इस प्रकार पारख ज्ञान का बोध हुए बिना वह इच्छा नाश नहीं होती। यह चेतन सब का स्वतः परीक्षक और सबसे भिन्न है, ऐसा जानकर मन-माया से जो सावधान हो जाता है, वही संसार-सागर से पार हो जाता है॥१

देह अहै जड़ कारज नश्वर, जीव सदा तेहि माँहि रहा है।
इन्द्री विषय सुखचाह करै जब, नाहिं मिलै तब दुःख महा है॥
सुखध्यास तजै सद्ज्ञान भजै, गुरु भक्ति चहै वैराग्य लहा है
"सूरत" पाय स्वतः पद पारख, फेरि नहीं जग भोग गहा है २

यह शरीर चार जड़ तत्त्वों का कार्य नाशवान् है, इस नाशवान् काया में प्रवाह रूप जीव पुनः-पुनः निवास करता रहता है। इन्द्रियों के कल्पित विषय-सुखों को जब यह देह-निवासी जीव चाहता है और मन अनुकूल जब पूरा नहीं मिलता, तब इसे महान कष्ट होता है। इस रोग से छूटने का उपाय यह है कि विषय-वासना सर्वथा त्याग दे, निर्विषय स्वरूप ज्ञान मनन करे, गुरु-भक्ति धारण कर वैराग्य को प्राप्त होवे। ग्रन्थ कर्ता सद्गुरु कहते हैं—अपने पारख स्वरूप की स्थिति प्राप्त कर पुनः वह दुःख रूप भोगों को न ग्रहण करेगा॥ २॥

धन में जस लोभी के प्रेम जगे, अरु कामी हिये प्रिय नारि सुहाई।
तिमि प्रेम लगै पद पारख में, नित प्रेमी बनै नहिं होत जुदाई॥

तेहिबन्धकटैजगभूलमिटै,नहिं फेरिबहैजगधारकदाई ॥
त्यागिविषयविषचाहविकारजु,भोगकैचाटसनेहनशाई ३

धन में जैसे लोभी का प्रेम उत्पन्न होता है और जैसे कामी के हृदय में अनुकूल स्त्री अच्छी लगती है। तैसे अपने पारख स्वरूप की स्थिति में प्रेम लगाना चाहिये, स्वरूप स्थिति का निरन्तर प्रेमी बन जाय, उससे कभी भी पृथक् न हो। जो ऐसा करता है उसके सांसारिक बन्धन कट जाते हैं, सब भूलें नष्ट हो जाती हैं, वह पुनः कभी भी जन्ममरण प्रवाह में नहीं बहता। विषरूपी विषयों के विकारी स्वच्छाओं को त्याग कर भोग की आदत के राग को वह नष्ट कर देता है ॥ ३ ॥

छाजन भोजन हेतु गहेतन, आश रखे नहिं काहु दुखाई।
प्रारब्धगुजाररहैतेहिसाथहिं,तोषलहैपुनि आपुहिं आई ॥
केवल धर्म सुधार चलैनित, मानगुमान को देय बहाई।
"सूरत" साधु गुरूपद सेवत, भावबढ़ै नवनेहसदाई॥४॥

केवल शरीर-निर्वाह के लिये उदासीनतायुक्त भोजन-छाजनादि ग्रहण करे और किसी की किञ्चिन्मात्र भी आशा न रखे। शरीर-निर्वाह के लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये, क्योंकि प्रारब्ध तो साथ ही है—ऐसा निश्चय रखने से फिर तो सन्तोषवृत्ति अपने आप ही आकर प्राप्त हो जायगी। मात्र प्रयत्नपूर्वक अपना धर्म सुधार करके चलना चाहिये और मान-मद को दूर बहा देना चाहिये। ग्रन्थकर्ता का कहना है—

विवेकी साधु-गुरु के चरणों की सेवा करते हुए कल्याण-साधन में सदैव नया-नया प्रेम बढ़ाते रहना चाहिये ॥ ४ ॥

जाकेनरागनद्वेषकभी, नहिंव्यापतलोभ नआशकोईहै ।
आगेनपीछेकिफिक्रजिन्हेंकछु, पारख बोधप्रकाशसोईहै॥
सो सुखकीउपमा नहिं लागत, जीवन्मुक्तनिराशवहीहै ।
विवेकसदातनभोगरहेतक,शेषकछूनविदेहकही है ॥५॥

किसी प्राणी-पदार्थों के प्रति जिसके मन में कभी मोह और वैर नहीं जगता, न लोभ व्यापता है, न कल्पित सुखों के लिये कोई आशा ही उत्पन्न होती है । जिन्हें भूत-भविष्य की किञ्चित्मात्र भी चिन्ता नहीं है, उसी को पारख-बोध एवं पारख-प्रकाश कहा जाता है । उस सुख की उपमा अन्य किसी की नहीं लगती, वही नैराश्य जीवन्मुक्ति पद है । प्रारब्ध भोग (शरीर) रहे तक सदैव विवेक से वे पुरुष स्थिति-रत रहते हैं, फिर प्रारब्धान्त पश्चात् स्थूल-सूक्ष्म सर्व दृश्यों से सर्वथा पृथक् पन हो जाता है, उनके पास दृश्य-वस्तु कुछ भी नहीं रहती, बस शेष अपने आप पारख चैतन्य मात्र सदैव के लिये सर्वथा विदेह स्थित हो जाते हैं—ऐसा विवेकी जन कहते हैं॥५

देह न गेह न नेह जहाँ, नहिं आपन गैर न कोई रहा है ।
आवनजान न मेल तहाँकछु, लोभ न मोह न क्रोध गहाहै
नारीनरोनहिंकाम कलामन, इन्द्रिन भोगन दुक्ख जहाँहै
शुद्धस्वरूपसोचेतन सन्तत,मुक्तिविदेहनिरधारमहाँ है ६

उस निराधार विदेह मुक्ति में देह, घर, मोह, अपना और पराया कुछ नहीं है। आना-जाना, संयोग-वियोग वहाँ कुछ नहीं, लोभ, मोह, क्रोधादि का गन्ध भी वहाँ नहीं है। नर-नारी का पारस्परिक काम-कला, मन, इन्द्रियाँ तथा सुख-भोग की कल्पना रूपी जलन—ये सब वहाँ किञ्चित्‌मात्र भी नहीं हैं। वहाँ तो निरन्तर शुद्ध पारख स्वरूप चैतन्य मात्र अत्यन्त निराधार विदेह मुक्त पद है ।। ६ ।।

भूखन प्यासन सोवत जागत, हर्षनशोककिगम्यजहाँ है।
दृश्यमनोमयअभावसदाअति, साधनकीनहिंगर्जतहाँ है।
सोईचहौऔलहौनरआपन, अविचलधामस्वतन्त्ररहा है।
धन्यवहीजेहिचाहतताहि, सुजन्मसुफलतेहिपुरुषमहाहै७

उस विदेह मोक्ष दशा में भूख, प्यास, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, हर्ष, शोक आदि की गति नहीं है। कामादि मनोमय का वहाँ सर्वथा और सर्वदा अभाव है। अतः विवेक-वैराग्यादि साधनों की भी वहाँ आवश्यकता नहीं है। हे मनुष्य ! उस अविचल एवं स्वतन्त्र धाम रूप मोक्षपद की ही इच्छा करो और साधन द्वारा उसी को प्राप्त करो। वे पुरुष धन्य और सर्व श्रेष्ठ हैं जो उस मोक्षपद को चाहते हैं, उन्हीं का मानव जन्म सार्थक है ।। ७ ।।

कामनक्रोधनलोभरहाजहँ, सुक्खरुदुःखकिगम्यनहीं है।
नारीनरो नहिं पुत्रकलत्रन, शत्रुवमित्रकि वास नहीं है॥

शुद्धस्वरूपसोचेतननित्य, सबन्धअनादिसोभूलगही है।
भागजगो गुरुबोधमिले जेहि, भूलमिटैभवनाहिंबही है॥८

उस मोक्ष स्वरूप में काम, क्रोध, लोभादि नहीं है, वहाँ सुख-दुःख की भी गति नहीं है। स्त्री-पुरुष, पुत्र-नाती, शत्रु-मित्र वहाँ कुछ नहीं। वह चेतन सदैव शुद्ध पारख स्वरूप है, केवल अनादि जड़-सम्बन्ध से वह अपने स्वरूप को भूला है। जिसको सद्गुरु द्वारा उस स्वरूपबोध की प्राप्ति हो गयी, उसका भाग्य जाग्रत हो गया, उसकी अनादि भूल मिट जाती है, वह पुनः जन्मादि प्रवाह में नहीं बहता ॥ ८ ॥

बोधवहीजिवशान्तस्वरूपमें, माया प्रपंचसे दूर रहाई।
विरागवहीजेहिरागनकोईसे,भक्तिवहीजो कुसंगतजाई॥
तृप्ति वही उरचाहतजै सब, भोगनसे उपराम रहाई।
स्थितिहै वहि वृत्तिकोतोड़िके, अन्तरआपमें थीररहाई॥९

बोध का स्वरूप यही है कि विजाति माया प्रपंच को हटाकर अपने चेतन पारख स्वरूप में दृढ़ स्थित रहे। वैराग्य वही है, जहाँ किसी भी प्राणी-पदार्थों से किञ्चित्मात्र राग न हो; और भक्ति उसे कहते हैं जहाँ कुसंग त्याग कर सच्चे वैराग्य शील सदाचारी पारखी सन्तों में निष्ठा है। पूर्ण तृप्ति या पूर्ण काम का यही लक्षण है कि हृदय से सब इच्छाओं को त्याग कर भोगों से उदासीन (सर्वथा अभाव) रहे। स्थिति उसी

को कहते हैं जहाँ सब मनोवृत्तियों को दमन करके हृदयस्थ स्वस्वरूप में शान्त रहा जाता है ॥ ९ ॥

ज्ञानस्वरूप स्वतन्त्र है चेतन, द्रष्टाअहैवहदृश्यसे पारा।
आपुहिभूलिकेभिन्नजोभास, करैपरतीतसोभर्मअसार॥
देखेसुने अरु भोगे विषय, संस्कार रचे दिलअन्दर भारा।
सन्मुखवेगउठैजेहिजौन, सोयादकरैतजिताहूसेन्यारा१०

वह चेतन ज्ञान स्वरूप स्वतन्त्र है, वह इन्द्रिय-साधन द्वारा जड़-दृश्य का द्रष्टा और उससे भिन्न है। अपने चेतन पारख स्वरूप को भूलकर जड़-विजाति भिन्न-भास को वह सुख रूप समझता है, परन्तु जड़ शरीरादि भोगों में सुखाभास भर्म रूप एवं निःसार है। विषयों को देख, सुन और भोग करके यह जीव हृदय-अन्तर वासना का समूह निर्माण कर लेता है। जिस घटधारी जीव के मन के सन्मुख जिन वासनाओं का वेग उठता है भूल वश जीव उसको स्मरण करने लगता है, उन स्मरण एवं वासना-समूहों से जीव सर्वथा पृथक् है, विवेक द्वारा परख कर यदि उन वासनाओं-स्मरणों को त्याग दे, तो स्वयं स्ववश शान्त स्थिर हो जाय ॥ १० ॥

सोवतजागत खावतपीवत, बोलतचालतबीतरहेदिन।
कर्मशुभाशुभभासिकचेतन, भाससदादृश्यनाशिरहेछिन॥
कहिंरागमेंरोवतद्वेषजरैं, निजकेलिकरैकहिंघूमिरहेखिन।
स्वप्नसमानअसारजोजानत, धन्यवहीजनजाग्रतहै तिन

सोते, जागते, खाते, पीते, बोलते, चालते अपने उत्तम समय यों ही बीते जा रहे हैं। पाप-पुण्य कर्मों का ज्ञाता चेतन जीव है, कर्मों के फल भासमान दृश्य जड़ हैं, वे सदैव क्षण-क्षण नष्ट होते रहते हैं। यह माया में भूला जीव कहीं मोह में रोता है, कहीं वैर में जलता है, कहीं अपने को देह मानकर भोगों की क्रीड़ा करता है, कहीं घूमकर दुखी-चिन्तित होता रहता है। इन सब प्राणी पदार्थों और परिस्थितियों के सम्बन्ध को जो स्वप्नवत् निःसार जानता है, उसी की प्रशंसा है और वही मोह-नींद से जाग्रत है॥ ११॥

प्रश्न—उपरोक्त पदों का सारांश क्या है?

उत्तर—उपरोक्त पदों का यह सारांश है कि समस्त भासमान प्राणी-पदार्थ, शरीर-मन एवं समस्त परिस्थितियों का सम्बन्ध स्वप्नवत् मिथ्या है। इनमें ऐसे ही दृष्टि रखकर अपने निश्चिन्त पारख शुद्ध ज्ञानस्वरूप में स्थित होकर मुक्त हो जाना चाहिये। यह कार्य करने वाला ही संसार में सबसे बड़ा है।

७-कवित्ताष्टक।

मनहीं से काम क्रोध मनही से लोभ आदि।
　　मनहीं से मोह करि जीव सो बेहाल है॥
मनही से शत्रु मित्र मनही से राग द्वेष,
　　मनही से नारि पुरुष भोग जञ्जाल है॥

मनही से वेद विद्या मनही से ईश ब्रह्म,
मनही से भूत प्रेत देवी औ देवाल है।
मनही से सुख दुःख मनही से बन्ध मोक्ष,
मनही से मोर तोर मनही सब काल है ॥१॥

केवल मन की कल्पना से ही मान-मानकर काम, क्रोध लोभ, मोहादि रच कर जीव दुखी रहता है। शत्रु-मित्र मोह-वैर और स्त्री-पुरुष का पारस्परिक भोग विलास—यह सब मन का चरित जीव के फँसने का बन्धन है। वेद-विद्या, ईश्वर-ब्रह्म, भूत-प्रेत, देवी-देवतादि सब मनुष्य के मन का स्वप्न है। मन की कल्पना से ही सुख-दुःखों का अनुभव होता है और विषयों में लगे रहने से मन ही बन्धन है तथा स्वरूपज्ञान में लगे रहने से मनही द्वारा मोक्ष-कार्य का सम्पादन होता है। परन्तु मोर-तोर के भावों से अनादि काल से राग-द्वेष में सना हुआ यह मन सब प्रकार से जीव को दुःखदायी हो रहा है ॥१

चञ्चल चपल मन अश्व सम वेग जेहि,
थिर न रहत क्षण करे खुरखुण्ड जू।
कहीं लोभ काम माहिं कहीं मोह क्रोध माहिं,
गुरु ज्ञान प्राप्त बिन जलन प्रचण्ड जू॥
भक्ति भाव याहि हेतु सन्त गुरु सेव नित,
सूरत स्वरूप लहि तजि के उदण्ड जू।

भद्र रूप शुद्ध वृत्ति जीवन को लाभ धन,
　　साधन को फल यही मोक्षपद मराडजू ॥ २ ॥

उदण्ड घोड़ा के समान चंचल-चपल जिस मन का रूप अत्यन्त वेग युक्त है, वह मन क्षण भी स्थिर नहीं रहता, सदा उधम मचाया करता है। स्वरूपज्ञान-हीन जीव को यह मन कहीं काम और लोभ में तथा कहीं मोह और क्रोध में प्रचण्ड रूप से जलाता रहता है। इसलिये विवेकवान् सद्गुरु-सन्तों की श्रद्धा-भक्ति एवं सेवा सदैव करते हुए और मन का उन्माद त्यागकर पारख स्वस्वरूप की स्थिति को प्राप्त करना चाहिये। यही इस मानव-जीवन का लाभ है और यही अपना धन है कि शुद्ध मन पूर्वक भद्र (कल्याण) स्वरूप में स्थित रहे, सब साधनों का परिणाम भी यही है कि मोक्षपद की सिद्धि (प्राप्ति) करले ॥ २ ॥

चतुर सुजान गुरु युक्ति गहि सावधान,
　　शोधि परिणाम मन वेगको हनन जू।
नहिं दिल आश राखि पंच भोग भौतिकादि,
　　शुभ गुण भक्ति गहि सन्तत मनन जू॥
नहिं कोई राग द्वेष अपना स्वजाती जान,
　　सबसे सजग रहि दया सु गुनन जू।
अनुकूल प्रतिकूल उलझनि अनेक विधि,
　　याते निज शान्ति लहि और न सुनन जू ॥३॥

मन के नाश का फल अच्छा होगा—ऐसी परीक्षा करके जो बुद्धिमान, श्रेष्ठ ज्ञानी हैं, वे गुरु से उपाय जानकर सावधानता पूर्वक मन के वासना-वेग को दमन कर देते हैं। भौतिकादि अर्थात् जड़ सम्बन्धी पञ्च विषय भोगों की हृदय में वे किञ्चित् भी आशा नहीं रखते, भक्ति युक्त सद्गुणों को ग्रहण कर स्वरूप का ही वे निरन्तर मनन करते हैं। सब प्राणियों को अपना चेतन भाई समझ कर किसी से राग-द्वेष नहीं करते, सब के सम्बन्ध में सावधान-तटस्थ रहकर हृदय में दया का लक्ष्य रखते हैं। अनुकूल-प्रतिकूल की जो अनेक प्रकार से उल्झनें हैं, उनको त्याग कर अपने पारख स्वरूप-स्थिति की शान्ति को प्राप्त करते हैं। अन्य बकवाद नहीं सुनते ॥ ३ ॥

काहे करे काम क्रोध काहे करे लोभ मोह,
अपना स्वरूप शुद्ध सबहीं से न्यार जू।
काहे करे भय शोक काहे करे इर्षा मान,
जीव सब भिन्न आप सबही से पार जू॥
क्रोध गत काम गत लोभ मोह जहाँ नाहिं,
ऐसो है स्वरूप नित भूल वश हार जू।
गुरु ज्ञान यान लहि सहज भव पार ह्वै,
फिर नहिं जन्म मर्ण मुक्ति निरधार जू ॥४॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह क्यों किया जाय ? क्योंकि अपना चेतन स्वरूप इन सबों से सर्वथा पृथक् और शुद्ध है। भय-शोक एवं ईर्ष्या-अभिमान भी क्यों किया जाय ? क्योंकि जीव सब से रहित एवं परे स्वयं है। काम, क्रोध, लोभादि जहाँ नहीं हैं, ऐसा अपना नित्य शुद्ध स्वरूप पारख है, वह अपनी भूल वश ही दुःखी होता है। सद्गुरु के स्वरूप ज्ञान रूपी जहाज का आश्रय लेकर जीव सहज रूप से संसार-सागर से पार हो जायगा, पुनः उसका जन्म-मरण न होगा, वह सदैव के लिये निराधार विदेह मुक्त हो जायगा ॥ ४ ॥

जड़ अरु चेतन अनादि दोउ भिन्न भिन्न,
दोनों हैं अखण्ड नित्य प्रत्यक्ष सो जानिये।
कारज अनेक विधि कारण में लीन होत,
उत्पति हो बार बार कारण में आनिये॥
तीसरो न कर्ता कोऊ दोनों निराधार सोऊ,
वासना से कर्म देह बीज वृक्ष ठानिये।
वासना को नाश कर मोक्ष पद पाइयत,
निराधार आपही विदेह मुक्ति मानिये ॥५॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु से चार तत्त्व जड़ और इनसे पृथक् अगणित चेतन जीव—ये दोनों जड़-चेतन अनादि पृथक्-पृथक् हैं, इन दोनों को अखण्ड और नित्य, चेतन को स्वयं प्रत्यक्ष तथा जड़ को पर प्रत्यक्ष जानो। घर-घड़ा बादल-

बर्फ विजली-चिराग, आँधी-बौंडर आदि अनेक प्रकार के कार्य पदार्थ चार तत्त्व रूप कारण में लीन होते रहते हैं, पुनः-पुनः उत्पन्न होकर पुनः-पुनः अपने कारण में आकर लय होते रहते हैं, ये जड़-चेतन दोनों अपने-अपने स्वरूप से निराधार हैं, इनका बनाने वाला कोई अन्य तीसरा कर्ता नहीं है, बीज-वृक्ष वत् वासना वश जीव कर्म से देह और देह से कर्म बनाता रहता है। जब इस विषय-वासना को नाश कर दिया जाता है, तब मोक्ष-पद प्राप्त हो जाता है, फिर शरीर पात पश्चात् केवल चेतन निराधार विदेह मुक्त हो जाता है—यही सद्गुरु श्री कबीर साहेब का सिद्धान्त है ॥ ५ ॥

बार बार जनम लिये बार बार भोग किये,
तृप्त नाहीं होत कभी तृष्णा अधिकाय जू।
अग्नी में घृत जैसे भोगन की चाह तैसे,
पर्श किये बाढ़ै अति शान्ति नहीं पाय जू॥
शान्त रूप जीव आप शान्त आप होन चाहे,
छोड़े बिन विषय भोग शान्ति कैसे आय जू।
त्याग करे सचमुच विषय भोग दिलसे ही,
तीनों काल दुख दोष जग में दिखाय जू ॥६॥

चारों खानियों में बारम्बार जन्म धारण किये और बारम्बार विषय-भोगों का भोग किये परन्तु सन्तुष्टि कभी भी न हुई, बल्कि तृष्णा अधिक-अधिक बढ़ती ही गयी। अग्नि

में घी डालने से जैसे अग्नि प्रचण्ड होती है, तैसे इच्छा रूपी अग्नि में भोग रूप घी है। अर्थात् विषयों का सेवन करने से इच्छा का रूप अत्यन्त तीव्र होता है, फलतः जीव शान्ति नहीं पाता। यह जीव स्वरूप से शान्त है, इसलिये हर क्रियाओं में यह शान्त होना चाहता है, परन्तु विषय-भोगों को सर्वथा त्यागे बिना शान्ति कैसे मिलेगी ? जब सही-सही विषय-भोगों का दृढ़ता पूर्वक त्याग करे और भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों काल के जगत् भोगों में दुःख-दोष ही दिखलाई दे, तब शान्ति मिलेगी ॥ ६ ॥

मेरो नारि पुत्र घर मेरो राज काज बड़ो,
　　मेरो हित बन्धु घने विद्या में प्रवीन जू।
मेरो गज अश्वकार चारो ओर नाम बड़ो,
　　दास दासी सब कोई हमरे अधीन जू॥
सब कुछ मिल गये सुख भोग साज सब;
　　गुरु ज्ञान भक्ति बिन दुख ही मलीन जू।
याते गुरुदेव पद वन्दौ बार बार अब,
　　भक्ति ज्ञान मोहि मिलै दया करि दीन जू ॥७॥

मेरे स्त्री-पुत्र हैं, घर और राज्य-कार्य सब मेरे बड़े हैं, मेरे मित्र-बन्धु एवं समाज बहुत हैं, मैं विद्या में प्रवीण हूँ। मेरे हाथी, घोड़े और मोटरें हैं, चारों ओर हमारे नाम की कीर्ति छा रही है, दास-दासी सारा संसार हमारे स्ववशता में हैं—

इस प्रकार मान कर यह जीव अभिमानी बना रहता है। कल्पित सुख-भोगों की सब सामग्री एवं सब कुछ मिल गया, तो क्या मिला ? स्वरूपज्ञान और गुरु-भक्ति के विना अशान्ति जनक मलिन भोगों का मिलना मानो दुःखों का ही मिलना है। इसलिये गुरुदेव के चरण कमलों की अब बारम्बार वन्दना करता हूँ, हे सद्गुरु ! स्वरूपज्ञान और भक्ति—यही हमें मिले, यही कृपा करके दीजिये ॥ ७ ॥

जौहरी के संग रहि जौहरी के ढंग लहि,
जौहरी के रूप सोऊ जौहरी कहात है।
जैसे कोऊ भूपसंग भूप कोष अपनाय,
भूप तक्त पाय सोऊ भूप है जात है॥
तैसे दीन हीन कोऊ गुरु संग ज्ञान लहि,
गुरुपद पाय सोऊ गुरु है जात है।
ऐसो है प्रताप तेज शरण दयाल प्रभू,
दीनन के दानी जग 'सूरत" विख्यात है ॥८॥

रत्नों को परखने वाले जौहरी के साथ में रहकर और उसके नियम को जानकर अन्य मनुष्य भी जौहरी हो जाता है और जौहरी ही कहलाता है। जैसे कोई राजा की संगत करके राजा के खजाना और राज को पाकर राजा हो जाता है। तैसे कोई ज्ञान में दीन-हीन दुखी मनुष्य वैराग्य शील सद्गुरु की संगत में ज्ञान को प्राप्त करके और गुरुत्व पद—

स्वस्वरूप की स्थिति प्राप्त करके गुरु रूप हो जाता है। सन्त श्री रामसूरत साहेब कहते हैं—कृपालु सद्गुरुदेव की शरण का ऐसा प्रकाश और प्रताप ही है, दीनों को ज्ञान-दान के दाता सन्त-गुरु जगत् में प्रसिद्ध परोपकारी हैं ॥ ८ ॥

प्रश्न—पूर्वोक्त कवित्तों में क्या बताया गया है ?

उत्तर—मन और दुर्गुणों के नाश की युक्तियाँ, स्वरूप का ज्ञान और साधारण मनुष्यों के लिये उपदेश दिये गये हैं और अन्त में सन्त-गुरु के सत्संग की महानता का वर्णन किया गया है। भलीभाँति समझने के लिये पुनः-पुनः मनन करना अति आवश्यक है।

शब्द

भजन बिन नरतन खोय दियोरे।

पशु पक्षी सम जग सुख भोग्यो, उत्तम तन धरि काह कियोरे ॥ १

खाय सोय कर उमर बितायो, नहिं कछु धर्म को बीज बियोरे ॥ २

धन कुटुम्ब घर में ममता करि, परमारथ पथ भूल गियोरे ॥ ३

कह अभिलाष विषय में रत ह्वै, पुनि पुनि दुखमय जनम लियोरे ॥ ४

शब्द

जीवन जात कौन भरोस ॥ टेक ॥

प्रति मिनट नित घटत आयुष, नीर अंजुलि शोष ॥ १ ॥
मोक्ष साधन योग्य नर तन, जात पशु तन पोष ॥ २ ॥
पेट भोग में दिन बितावत, तदपि ज्ञान को जोश ॥ ३ ॥
विषय तृष्णा चित्त छीजत, मिलत नहिं सन्तोष ॥ ४ ॥
जानि के क्षणभङ्ग तन, अभिलाष स्वतः स्वतोष ॥ ५ ॥

रहनि प्रबोधिनी का तीसरा प्रकरण छन्द
सप्तामृत टीका-व्याख्या सहित समाप्त

❀ प्रकरण-फल-छन्द ❀

यह छन्द सत्तामृत मनन करि,
विष-विषय सब दूर भौ।
अमृत अचल पारख मिला,
मन-कामना सब पूर भौ॥
मन की मनन्दी मोह माया,
स्वप्न मिथ्या धूर भौ॥
मन-इन्द्रियाँ शासित हुईं,
शासक सुसाधक शूर भौ॥

❀ दोहा ❀

दुख विजाति जड़ जहर जग,
छुट्यो मोह अरु शोक।
निज स्वरूप चेतन अमिय,
मिल्यो सुथिर निःशोक॥

❀ प्रकरण-महिमा-छन्द ❀

वाणी-विषय के शब्द गाँसी,
जीव के उर में गड़े।
तेहि गाँस-मोचन हेतु पारख,
शब्द आवश्यक पड़े॥
पच्चीस शब्द-समूह यह,
अति ही मनोहर दुःख-हर।
गायन-मनन पाठन-पठन के,
हेतु है अति सुक्ख कर॥

❀ दोहा ❀

जड़ असार तन धरि भ्रमत,
गये अनन्तन अब्द।
चेत मूढ़ मन! आज हूँ,
गहे सन्त गुरु शब्द॥

❀ सद्गुरवे नमः ❀

❀ रहनि प्रबोधिनी ❀

चतुर्थ प्रकरण

शब्द--पचीसी

(टीका-व्याख्या सहित)

१—विनय-गजल

कठिन दुष्कर्म से मुझको बचा लीजे गुरू स्वामी॥टेक॥
पड़ा हूँ मैं विषय धारा, प्रबल अज्ञान के वश में।
स्वपारख दृष्टि से सबको,शमन कीजै गुरू स्वामी ॥१
अनेकों ठोकरें खाया, प्रभू तव पद भुला करके।
दयासागर दया करके, शरण दीजै गुरू स्वामी ॥२
नहीं कछु भक्ति है तेरी,नहीं कछु ज्ञानबल मुझमें।
दुर्बल अतिदीन हो करके, पुकारूँ हूँ गुरू स्वामी ॥३
सुना है पतित पावन हो,पतित तारे अमित भवसे।
पतित एक "दाससूरत"को,बचा लीजै गुरू स्वामी ॥४

हे गुरु साहेब ! हमें भयंकर पाप कर्मों से बचा लीजिये ॥ टेक ॥ कठिन अविद्या के अधीन होकर मैं विषय-प्रवाह में

पड़ा हूँ। हे गुरु साहेब ! अपने पारख ज्ञान के बल से इन समस्त विषय-वासनाओं एवं अज्ञान को नष्ट कर दीजिये ॥ १ ॥ हे स्वामिन् ! आपके चरण-कमलों को भूल कर संसार में मैं अनेकों ठोकरें खाया हूँ। हे कृपा के समुद्र सद्गुरुदेव ! कृपा करके अपने शरणों का सहारा हमें दे दीजिये ॥ २ ॥ मेरे में न कुछ आपकी भक्ति है और न ज्ञान का बल है। हे गुरुदेव ! अत्यन्त शक्ति-हीन और गरीब होकर आपके द्वार पर त्राण हेतु पुकार रहा हूँ ॥ ३ ॥ मैंने सुना है आप पतितों को पवित्र करने वाले हैं, अपार पापियों को आपने संसार-सागर से तार दिया है। हे गुरुदेव ! एक पतित "सूरतदास" को भी जन्म-मरण चक्र से बचा लीजिये ॥ ४ ॥

प्रश्न—इस पद में क्या बतलाया गया है ?

उत्तर—इस पद में सद्गुरुदेव के सामने शिष्य को कैसे विनम्र होना चाहिये—इस भाव को दर्शाया गया है।

२—गजल

मिटा दो दोष त्रय स्वामी, दुहाई आपकी ये है॥टेक॥
आवरण मल विक्षेपों से, सदा हूँ मैं ग्रसित गुरुवर।
बतादो शमन की युक्ती, कृपावर आपकी ये है ॥१
सदा पापादि कर्मों से, मलिन रहता है मन मेरा।
सिखा सद्धर्म दो सद्गुरु, सहारा आपकी ये है ॥२
वृत्ति चंचल विषय फन्दों से, रहती है जो ये मेरी।

भक्ति दृढ़ नेह निजपद में, करा दो दास को ये है ॥ ३
अविद्या घोर वारिद से, ढका रविज्ञान है मेरा ।
"दास सूरत" नशे क्षणमें, जो हो दृढ़ ज्ञान गुरुकी है ॥ ४

आपके निकट पुकार करता हूँ, हे सद्गुरु ! हमारे तीन दोषों को नष्ट कर दो ॥ टेक ॥ स्वरूप की भूल, विषयासक्ति और जड़संस्कार—येही तीनों दोष हैं, इनमें मैं सदा ग्रसित हूँ । इनके नाश करने का उपाय बता दीजिये, यही आपकी महान् कृपा है ॥ १ ॥ पाप कर्मों से हमारा मन सदैव मलिन रहता है । हे सद्गुरु ! इनको हटा कर हमें सत्य-धर्म सिखा दो, (क्योंकि "सत्यान्नास्ति परो धर्मः" अर्थात् सत्य से बढ़ कर दूसरा धर्म नहीं है ।) यही आपका आश्रय पकड़ता हूँ ॥ २ ॥ विषय-वासनाओं से जो यह हमारा मन चञ्चल रहता है । सो इस दास के मन में अपनी भक्ति और स्वरूपज्ञान का दृढ़ प्रेम करा दीजिये ॥ ३ ॥ अज्ञान रूपी घने बादलों से हमारा स्वरूपज्ञान रूपी सूर्य ढका है । ग्रन्थकर्ता सद्गुरु श्री रामसूरत साहेब कहते हैं—यदि सद्गुरु का दृढ़ पारख ज्ञान रूपी प्रबल वायु चले तो यह अज्ञान रूपी बादल क्षण में नष्ट होकर स्वरूपज्ञान-भानु का प्रकाश हो जाय ॥ ४ ॥

प्रश्न—तीन दोषों का क्या नाम और भाव है ?

उत्तर—मल, विक्षेप और आवरण—ये तीन दोषों के नाम हैं । मल का भाव विषयासक्ति, विक्षेप का जड़ संस्कार,

चञ्चलता और आवरण का अर्थ स्वरूप की भूल है। सत्कर्म-वैराग्य, उपासना-भक्ति और स्वरूपज्ञान से उक्त दोषों का क्रमशः नाश हो जाता है।

३—गजल

हमारा मन हमारे वश, करा दीजै गुरू स्वामी ॥टेक॥
किया हैरान बहु तेरा, तेरे पद को भुला करके।
कृपाकर शीघ्र निजवश में, करा दीजै गुरू स्वामी ॥१
वृथा ये मन बेगारी वत्, पकड़ करके नचाता है।
दया कर इस बेगारी से, छुड़ा लीजै गुरू स्वामी ॥२
क्षणिक सुख भोग विषयोंका, फँसाता है दिखा करके।
दगाबाजी ये सब मनकी, दमन कीजै गुरू स्वामी ॥३
ठगौरी सब चली जावै, जिसे पहिचान करने से।
रहूँ मैं सजग शरणों में, परख दीजै गुरू स्वामी ॥४
दया करके दयानिधि अब, बचालो मनके फन्दोंसे।
"दास सूरत"को निजपदमें, लगा लीजै गुरू स्वामी ॥५

हे सद्गुरुदेव! हमारा मन हमारे अधीन करा दीजिये ॥ टेक ॥ आपके चरणों को भुलाकर यह मन हमें अनेक भाँति से दुःख दिया है। हे सद्गुरुदेव! कृपा करके शीघ्रातिशीघ्र इसको हमारे अधीन करा दीजिये ॥ १ ॥ राजा के बेगारीवत् यह मन व्यर्थ ही हमें पकड़ कर संसार में नचाता रहता है।

हे सद्गुरुदेव ! कृपा करके इस मन के बेगारी से हमें छुड़ा लीजिये ॥ २ ॥ क्षणिक विषयों के कल्पित सुख-भोगों का लाभ दिखा कर यह मन जीव को बन्धनों में फँसा देता है। हे सद्गुरुदेव ! इस दुष्ट मन की सब धोखेबाजी नष्ट कर दीजिये ॥ ३ ॥ इस मन की भलीभाँति परीक्षा करते ही इसकी सब ठगाई चली जाती है। (गई ठगौरी जब ठग पहिचाना), हे सद्गुरु साहेब ! ऐसी प्रबल पारख दृष्टि दे दीजिये, जिससे मैं धोखेबाज मन से सदैव सावधान रहकर आपकी शरणों में जीवन पर्यन्त टिका रहूँ ॥ ४ ॥ हे कृपासागर सद्गुरु ! अब मन के बन्धनों से मुझे कृपा करके बचा लीजिये। और हे सद्गुरुदेव ! इस दीन "सूरतदास" को अपने चरणों में लगा लीजिये ॥ ५ ॥

प्रश्न—मन का अपने वश होना क्या है ?

उत्तर—भोग-वासनाओं और भोग-चिन्तनों का सर्वथा त्याग होकर जो अन्तःकरण का निर्विषय एवं स्थिर हो जाना है—यही मन का अपने वश होना है।

४—गजल

शरणों में हूँ तुम्हारे, गुरुदेव मुझको तारो।
खानी व बानी धारा, तिससे करो किनारो ॥टेक॥
जो हैं सगे घनेरे, सुत बन्धु नारि मेरे।
सुख हेतु स्वार्थ केरे, कहते हैं जो हमारो ॥१

निज निज करम के भागी, अन्तिम चले सुत्यागी।
बिरथा है मोह लागी, मानव जनम सुधारो ॥२
कीन्हें करम हजारा, पर कौन है सहारा।
गुरु दीन निज इशारा, तुम ही तो हो विचारो ॥३
गुरु सम न कोई जगमें, दर्शन दिये सुमग में।
"सूरत" तुम्हारे पग में, साहेब विवेक अधारो ॥४

हे गुरुदेव ! मैं आपकी शरण में हूँ, मुझे संसार-सागर से तार दीजिये। खानी-वाणी की धारा से किनारा लगा दीजिये ॥ टेक ॥ जो मेरे माने हुए स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव इत्यादि बहुत से सगे-मित्र हैं। वे जो मुझे अपना कहते हैं, सब अपने-अपने सुख स्वार्थ के हैं ॥ १ ॥ अन्त में सब सबको त्यागकर चल देते हैं और अपने-अपने कर्म-फल भोगों को प्राप्त होते हैं। कोई किसी के कर्म-फल में हिस्सेदार नहीं हो सकता, इस संसार में व्यर्थ लोगों को मोह-ममता लग रही है, अतएव हे सद्गुरु ! हमारा नर-जन्म सुधार दो ॥ २ ॥ दुःखों से छूटने के लिये मैंने हजारों कर्म किया, परन्तु संसार में कौन आधार है ? सद्गुरुदेव जब मिले, उन्होंने अपना स्वरूपज्ञान सम्बन्धी संकेत दिया कि हे जीव ! तू ही अपने को विषयों में फँसाकर दुखी है और तू ही विषयों को त्याग कर अपने दुःखों की निवृत्ति कर सकता है—इसका विचार करो ॥ ३ ॥ मेरे हित मार्ग में सद्गुरु दर्शन दिये, आपके समान संसार में अन्य कोई

जीव का दुःख छुड़ाने वाला नहीं है। हे सद्गुरु श्री विवेक साहेब! आप ही आश्रय हैं, आपके चरणों में यह दास विनीत है ॥ ४ ॥

५—गजल

मनकी अमित भुलावा, गुरुवर परखाने वाले।
देकर सुज्ञान अपना, पारख दृढ़ाने वाले ॥टेक॥
देखे सुने जो भोगे, अभ्यास पुष्ट रोगे।
सोइ मन बना है तन में, तिसको नशाने वाले ॥ १ ॥
लागा अनादि रगड़ा, चैतन्य जड़ का झगड़ा।
कर बोध स्वयं शोधन, झगड़ा मिटाने वाले ॥ २ ॥
माया के नैन बाणें, तिरछी कटाच्छ तानें।
घायल पड़े अयाने, गुरुवर बचाने वाले ॥ ३ ॥
वश वासना से जन्में, पुनि पुनि गरभ में भरमें।
साहेब कबीर छिनमें, मुक्ती कराने वाले ॥ ४ ॥
देकर विचार बल को, युक्ती अनेक दृढ़कर।
"सूरत" ये सैन मन पर, कब्जा दिलाने वाले ॥ ५ ॥

मन की भूलें अपार हैं, इसकी परीक्षा श्रेष्ठ सद्गुरु ही कराते हैं। अपना स्वरूपज्ञान देकर पारख पद निश्चय करा देते हैं ॥ टेक ॥ विषयों के मनःकल्पित भोगों को जो देख, सुन और भोग लिया गया है, उसका वासना रूपी रोग

दृढ़ रूप से बन गया है। वही शरीर में मन रूप से बना है, इसको ज्ञान वैराग्य देकर सद्गुरु नाश करने वाले हैं ॥ १ ॥ अनादिकाल से चैतन्य-जड़ का झगड़ा (बन्धन) लगा है। स्वस्वरूपज्ञान का शोधन करके तिस झगड़ा को सद्गुरु मिटाने वाले हैं ॥ २ ॥ प्रमदा के तिरछे नैन रूपी वाणों से घायल होकर कितने ही अज्ञानी पड़े हैं, इससे श्रेष्ठ सद्गुरु ही बचाने वाले हैं ॥ ३ ॥ इन विषय-वासनाओं के वश होकर गर्भ में सोये, जन्म लिये और जगत्-चक्र में भ्रमें। परन्तु काया के विकारी आदतों को जीते हुए वैराग्यवान् पारखी सद्गुरुरूप श्री कबीर साहेब क्षण-मात्र में सब बन्धनों को परखा कर मोक्ष पद दिलाने वाले हैं ॥ ४ ॥ सन्त श्री रामसूरत साहेब कहते हैं—विवेक बल को देकर और साधनों की अनेक युक्तियाँ निश्चय करा कर मन के फौज पर अधिकार एवं स्वाधीनता दिलाने वाले सद्गुरुदेव हैं ॥ ५ ॥

प्रश्न—इस पद में मुख्य क्या भाव दर्शाया गया है ?

उत्तर—यहाँ यह भाव दर्शाया गया है कि मन-माया, बाम-बंचक एवं अज्ञान रूप घनघोर बन्धनों से वैराग्यवान सन्त-गुरु ही छुड़ाने वाले हैं। अतएव उन्हीं की शरण लेनी चाहिये।

६-गजल

तू चेतकर पियारे, तन रत्न जा रहा है।
पाकर अमोल मणिको, क्योंकर गवाँ रहा है ॥टेक॥

जो दीखता जगत में, कुछ भी नहीं है अपना।
क्षण क्षण में मोह करके, सबमें बँधा रहा है ॥ १ ॥
सपने की सम्पती सुख, जागे न हाथ कुछ भी।
जन देह गेह तैसे, नाहक भुला रहा है ॥ २ ॥
गुरु ज्ञान सीख जागो, सब मोह नींद त्यागो।
पारख स्वबोध पागो, अवसर नशा रहा है ॥ ३ ॥
दुखसे चहो जो बचना, सद्गुरु शरण में लागो।
नहिं दूसरा ठिकाना, युक्ती जँचा रहा है ॥ ४ ॥
"सूरत" सदा ये चिन्तन, गुरु भक्ति प्राप्त हेतन।
करिके जो शुद्ध साधन, निरधार हो रहा है ॥ ५ ॥

हे प्यारे चेतन ! तू सावधान हो जा, कल्याण साधन करने योग्य तुम्हारा रत्न तुल्य मानव-जन्म बीता जा रहा है। बहुमूल्य मणि रूप नर-जन्म पाकर व्यर्थ भोगों में तू इसे क्यों नष्ट कर रहा है ? । टेक ॥ जिन प्राणी-पदार्थ और परिस्थितियों को तू संसार में देखता है, वे तो कुछ भी अपना नहीं है। क्षण-क्षण में मोह को प्राप्त होकर सब में तू व्यर्थ ही बन्धमान हो रहा है ॥ १ ॥ स्वप्न की सुख-सम्पत्ति जागने पर कुछ भी हाथ में नहीं आती। इसी प्रकार कुटुम्ब, शरीर और घर हैं, ये तुम्हारे हाथ न आयेंगे, तू व्यर्थ ही इनमें भूल रहा है ॥ २ ॥ सद्गुरु के स्वरूपज्ञान-शिक्षा को सुनकर सावधान हो जाओ, और सब प्रकार से मोह की नींद

त्याग दो। अपने पारख स्वरूपज्ञान में ही दृढ़ स्थित होओ, शीघ्र करो, समय नष्ट हो रहा है ॥ ३ ॥ यदि सर्व दुःखों से सर्वदा के लिये सर्वथा बचना चाहते हो, तो वैराग्यवान् सद्-गुरु की शरण लो। इसके अतिरिक्त दुःखों से छूटने का अन्य कोई स्थान नहीं है, यह उपाय मैं तेरे को निश्चय ही बता रहा हूँ ॥ ४ ॥ ग्रन्थकर्ता सद्गुरु श्रीरामसूरत साहेब कहते हैं—अपने हित के लिये गुरुभक्ति धारण कर शरीर-संसार की नश्वरता और स्वस्वरूप पारख की नित्यता का सदैव चिन्तन करो। विवेक-वैराग्यादि पवित्र साधनों को धारण करके निराधार मोक्ष हो रहना चाहिये ॥ ५ ॥

७—गजल

नर चेत जिन्दगी सब, तेरी गुजर रही है।
अंजुलि में नीर जैसे, च्रण च्रण खिसक रही है ॥टेक॥
दो०—निजको तजि नहिं सार कछु, जगत् प्रपंच असार।
पाँखी सम नर की दशा, मोह विवश जरिछार ॥
यौवन व नारिसुतधन, दामिनि चमक रही है॥१॥
दो०—जेहि सुख हेतु अनादिसे, उपजत विनशत देह।
सो विष विषया पान करि, फिर फिर ताही नेह ॥
नहिं ओस जलके पीये, तृषा बुझा रही है ॥२॥
दो०—मान कीरती धन विभव, सुन्दर नारी रूप।
मिलत छुटत सब देखिये, स्वप्न समा भ्रम कूप ॥

यह दीखतेहि दिखते, आयू सिरा रहो है ॥३॥

दो०—ये सब मन भव रोग के, परम् वैद्य गुरुदेव ।
"सूरत" ताके शरण गहि, जनम मरण दुखछेव ॥
सद्गुरु कि ज्ञान बूटी, जनको जिला रही है॥४॥

हे मनुष्य ! तू सावधान हो जा, कल्याण-साधन करने योग्य मानव-जीवन व्यर्थ में बीता जाता है। अंजुलि में पानी के समान क्षण-क्षण समय बीतता है ॥ टेक ॥ अपना कल्याण छोड़कर संसार में कुछ भी सार नहीं है, यह जगत् तो बन्धन रूप और निःसार है। दीपकपर अज्ञानी पाँखी के गिरने के समान मनुष्य की दशा है, वह मोह-वश जलकर धूल होता है। परन्तु ध्यान देकर समझ लो ! जवानी, स्त्री, पुत्र, धन—सब बिजली-चमक के समान क्षण में नाश होने वाले हैं ॥ १ ॥ जिन कल्पित विषय सुखों को ग्रहण करने के कारण अनादि काल से जीव देह के साथ जन्मता-मरता है। उन्हीं विषरूप विषयों को ग्रहण करके जीव पुनः-पुनः उन्हीं में रागवान् हो रहा है। परन्तु ओस के जल को पीने से जैसे प्यास नहीं बुझती, तैसे संसार भर के भोगों को भोगने पर भी मन सन्तुष्ट नहीं हो सकता। बल्कि तृष्णा-शोक, जन्म-मरण कष्ट को सहता ही रहता है ॥ २ ॥ मान, कीर्ति, धन, ऐश्वर्य, सुन्दर स्त्री और रूप-लावण्य—इन सबको देखो ! मिलते-बिछुड़ते रहते हैं। ये सब स्वप्नवत् हैं, अज्ञान की खानि हैं। इधर देखते-ही-देखते शरीर

की आयु क्षीण होती चली जाती है ।। ३ ।। ये सब मन से उत्पन्न हुए संसार-व्याधियों को मिटाने वाले श्रेष्ठ चिकित्सक वैराग्यवान् पारखी सद्गुरु हैं। सन्त श्रीरामसूरतसाहेब कहते हैं—उन सद्गुरु की शरण में जाकर जन्म-मरण दुःख को मिटा डालो। सद्गुरु की स्वरूपज्ञान-जड़ी जिज्ञासु जन को जिला देती है। भाव—जड़ाध्यास से छुड़ाकर पारख स्वरूपज्ञान में स्थित कर देती है ।। ४ ।।

प्रश्न—ऊपर के पदों में क्या बताया गया है ?

उत्तर—जीवन क्षणिक है, संसार का सम्बन्ध स्वप्नवत् है। शीघ्र कल्याण करना ही जीवन लाभ है—इत्यादि बातें बताई गयी हैं।

८—गजल

हमें है मोक्ष का पाना, तो क्या दुनिया से यारी है।
सदा गलतान निजपदमें,मिटा आशायें सारी हैं॥टेक॥
सदा जा जा के जङ्गल में, बैठकर पद्म आसन से।
दमन मन इन्द्रियोंको कर, गुरूका ध्यान धारी है॥१॥
भटकता था सरायों में,जगतके भोगहित निशिदिन।
जगो है भाग बहु दिन पे, मिली वारी हमारी है॥२॥
पड़ा था जब विषय धारा, मिला न कोई कढ़िहारा।
मिला जब शब्द टकसारा, उसीसे वार पारी है॥३॥

धन्य कबीर गुरु प्यारे, किये भव दुःख से न्यारे।
दास सूरतके हो आश्रय,सकल बन्धन निवारी है ॥४॥

हमें यदि मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा है, तो संसार से प्रेम करना क्या है ? बल्कि संसार की समस्त आशाओं को मिटा-कर अपने स्वरूप में ही हमें सदैव लीन रहना चाहिये ॥ टेक ॥ सदैव जङ्गल (या बाग, नदी, शून्य-घर आदि) निर्जन-एकांत स्थल में जा-जा या ठहर-ठहर कर और पद्मआसन आदि किन्हीं आसनों से बैठकर मन-इन्द्रिय को रोक कर वैराग्यवान्-सद्गुरु का ध्यान करते हुए शान्त अन्तःकरण से स्वरूप का दृढ़ चिन्तन करें ॥ १ ॥ विषय-भोगों के लिये संसार-सराय में रात-दिन मैं भ्रम रहा था। आज बहुत दिनों पर हमारा भाग्य जाग्रत हुआ और हमें कल्याण-साधन करने का अवसर (ज्ञान) मिला ॥ २ ॥ मैं अनादि से विषय-प्रवाह में पड़ा था, कोई बचाने वाले नाविक मुझे न मिले थे। परन्तु जब गुरुकबीर कृत बीजक-वर्णित पारखोक्त निर्णय-शब्द मिले, तब उसी से मेरा उद्धार हुआ ॥३॥ प्रिये सद्गुरु श्रीकबीर साहेब धन्य हैं, जो जीव का सब भास-अध्यास हटाकर एवं पारखज्ञान देकर जन्मादिक दुःखों से जीव को बचा लिये। ग्रन्थकर्ता नम्र भाव लेकर कहते हैं इस "सूरतदास" के आप ही आश्रय हैं, मेरे सम्पूर्ण बन्धनों को आप ने ही हटाया है ॥ ४ ॥

प्रश्न—मोक्ष-प्राप्ति में जगत्-मोह क्यों बाधक है ?

उत्तर—जगत्-मोह से जगत् की वासना बनती है। जगत्-वासना ही बन्धन है और जगत्-वासना से छूट जाना ही मोक्ष है। अतः वासना कारक होने से जगत्-मोह का त्याग कहा गया है।

८--गजल

जिसे भवसिन्धु तरना हो, प्रथम मनको मिटा डाले।
शरण सन्तोंके जाजाकर, परखके फन्द सब टाले॥टेक॥
दिखाता दृष्टि गोचर जो, सकल माया की सृष्टी है।
फँसे मत मोह कर उनमें, सिनेमा स्वप्न की जालें॥१॥
है जाहिर जगत के अन्दर, हुए जो शाह सीकन्दर।
फँसे सब आके माया में, सहे दुख जेल की हालें॥२॥
गिना करके कहाँ तक मैं, कहूँ इतिहास ग्रन्थों के।
इसी माया के ही कारण, चले तलवार औ भालें॥३॥
धन्य वो पारखी गुरुवर, जो इसके फन्द से न्यारे।
बचाये "दाससूरत" को, सदा उपकार सो पाले॥४॥

जिसे इस संसार-सागर को पार पाने की इच्छा हो, वह पहले विकारी मन को नष्ट कर दे। वैराग्यशील सन्तों के शरण में जा-जाकर एवं युक्ति सीखकर विवेक-युक्त सब बन्धनों को त्याग दे॥ टेक॥ जो नेत्रादि ज्ञान-इन्द्रियों से दिखलाई देता है, यह सब रचना माया की है, अर्थात् जड़ है। उनमें राग करके मत बँधो, सिनेमा और स्वप्न के समान ही यह माया

का जाल (मोह) मिथ्या है ॥ १ ॥ बड़े-बड़े जो राजा बाद-शाह हुए, उनके चरित्र संसार में प्रसिद्ध हैं। वे सब माया में आकर फँस गये, यहाँ तक कि अनुचित आचरणों से कई-कई को दुःखमय कारावास के संकटों को भोगना पड़ा ॥ २ ॥ पुस्तकों के इतिहासों को गिना करके मैं कहाँ तक कहूँ ? इसी कञ्चन-कामिनी रूप माया के कारण तलवार-भाले (बन्दूक-तोप-बम्) आदि सब कुछ चले (लङ्का काण्ड, महाभारत, आल्हखण्ड आदि इन्हीं कारणों से हुए) हैं ॥ ३ ॥ वे सर्व परीक्षक वैराग्यशील श्रेष्ठ सन्त-गुरु धन्य हैं, जो इस माया के फन्दे से पृथक् रहते हैं। आप सद्गुरु ही इस दीन "सूरतदास" को बचा लिये, यह उपकार मैं जीवन पर्यन्त पालूँगा और आपका कृतज्ञ बना रहूँगा ॥ ४ ॥

प्रश्न—मोक्ष-प्राप्ति का सरल साधन क्या है ?

उत्तर—मन का वश करना, सो जगत् में दुःख दोषों के दर्शन से मन वश में होगा।

१०--गजल

जिसे हो आश तरने की, किसी से मोह क्यों लावै।
रहे नित लीन अपने में, जगत सारा भुला जावै ॥टेक॥
दिखावा दम्भ को तजकर, लगा तन मन करे साधन।
महा दल शत्रु कामादिक, तिसे जड़से नशा जावै ॥ १ ॥
था जिसके हेतु दुनिया में, अनेकों ठोकरें खाता।

मिटाकर आज वह नाता, गुरूका ज्ञान गुणगावै ॥२॥
सदा सबसे विलग रहकर, मिटाके भेद निजपर का।
सकल मानन्दियाँ दिलसे, हटाकर शेष रह जावै॥३॥
नशाकर मनके फन्दे को, रहे गुरू ऐन घेरा में।
सफल मानुष जनम "सूरत" न जगमें फेर वह आवै॥४॥

जिसे संसार-सागर से तरने की इच्छा है, वह किसी से राग क्यों करे ? उसे चाहिये सम्पूर्ण संसार के मोह को सर्वथा भूल कर अपने चेतन पारख स्वरूप में निरन्तर स्थित रहे ॥ टेक ॥ वह ऊपरी दिखावा और पाखण्ड त्याग कर और तन-मन लगाकर सहर्ष साधन करे। विकट शत्रु-सैन काम-क्रोध, लोभादि को जड़ से नष्ट कर दे ॥ १ ॥ जिन विषय-सुखों और मान के लिये अनादि से यह जीव संसार में नाना ठोकरें खाता था। उन मान-सुख एवं विषय-भोगों के सम्बन्ध-राग मिटाकर सद्गुरु का स्वरूपज्ञान और सद्गुण ही का कथन-मनन और धारणा रखे ॥ २ ॥ अपने-पराये में राग-द्वेष के अन्तर को मिटाकर सदैव सबसे पृथक् उदासीन रहे। और सब जड़-पदार्थों की अहन्ता-ममता त्यागकर शेष-शुद्ध पारख स्वरूप अपने आप में दृढ़ स्थित हो जावे ॥ ३ ॥ मान-सुख की प्राप्ति रूप मन के बन्धनों को नष्ट कर सदैव सद्गुरु के न्याय-अन्तर्गत रहे। सन्त श्रीरामसूरतसाहेब कहते हैं—उसी का नर-जन्म सफल है, वह इस दुःखालय, सन्ताप-शालारूप

जगत् में पुनः कभी भी न आवेगा। अर्थात् सर्वदा के लिये सर्वथा मुक्त हो जावेगा ।। ४ ।।

११--गजल

ध्याय सन्त समाज को, नर शरण गुरु की आइए।
जन्ममरण त्रय ताप नशिके, परम पद को पाइए ॥टेक॥
सौभाग्यवश नरतन मिला है,शीघ्र हितकर काजकर।
सत्य साधन भक्ति गहि भवसिन्धुसे तर जाइए ॥१॥
सुत वित्त नारी सम्पदा, अरु देह नश्वर जानकर।
तजकर सकल आशा जगतकी,ध्यान गुरुका लाइए॥२॥
निजरूप का अभ्यास कर, जड़ दृश्यसे तुम पार हो।
सबका जनइया सबसे न्यारा,नित्य तृप्त रहाइए॥३॥
सद्गुरु कबीर निदेश को,भूलो न सन्तत याद रख।
"सूरत" स्वतः निरधार पदमें;चित स्वयं ठहराइए ॥४॥

हे मनुष्य ! विवेक सम्पन्न सन्त-समाज का ध्यान धारण कर सद्गुरु की शरण में आ जाओ। फिर तो तुम्हारे जन्म-मरण और (दैहिक, दैविक, भौतिक) तीनों ताप नष्ट हो जायँगे और तुम परम् मोक्ष पद पा जाओगे ।। टेक ।। सुन्दर भाग्य वश यह कल्याण-साधन करने योग्य मानव-शरीर तुम्हें मिला है, इसलिये अविलम्ब कल्याणकारी कार्य कर लो। सद्स्वरूपज्ञान, सद्गुण-साधन एवं भक्ति-भाव धारण करके

संसार-सागर से पार हो जाओ ॥ १ ॥ पुत्र, धन, स्त्री, ऐश्वर्य और शरीर नाशवान् जानकर संसार की आशा त्याग दो, गुरु चरणों का ध्यान करते हुए स्वस्वरूप चिन्तन में स्थित होओ ॥ २ ॥ स्वरूप-स्थित का अभ्यास करो, हे जीव ! तुम इस जड़-शरीरादि दृश्यों से सर्वथा पृथक् हो । तुम सब जड़ पदार्थों को जानने वाले सब जड़-पदार्थों से भिन्न हो, अतः अपने आप में तुम निरन्तर सन्तुष्ट रहो ॥ ३ ॥ सद्गुरु श्री-कबीरसाहेब के उपदेश को भूलो मत, उसे निरन्तर स्मरण रखो । आप ने कहा है—

साखी—जो तू चाहे मूझको, छाड़ सकल की आश ।
मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास ॥
(बीजक)

सद्गुरु श्रीरामसूरत साहेब कहते हैं—अपने निराधार चेतन स्वरूप में अपने मन को दृढ़ स्थित करदो ॥ ४ ॥

प्रश्न—ऊपर के पदों में क्या बतलाया गया है ?

उत्तर—स्पष्ट मोक्ष का मार्ग ! बारम्बार मनन कीजिये तब यथार्थ अनुभव होगा ।

१२—गजल

अब जाग मुसाफिर चेत करो,
कोई न तुम्हारा साथी है ॥ टेक ॥
मिथ्या भ्रम सुखमें भटकेहो, जग खानि बानिमेंअटकेहो

कर गौर हृदय में देख जरा, स्वारथ ही तक सब साथी हैं।१
सुतनारि सगे जो मान मेरे, कोइ अन्त न होंगे साथ तेरे।
निज कर्म शुभाशुभ जौन किये, सोई तेरो संघाती हैं।२
क्यों लोभ मोह मद कोह करे, फँस कालजाल में काहे मरे।
ज्योंसलभदीप में जायजरे, त्यों ही तेरोमति माती है ३
गुरुदेवकबीर को राख हिये, जगजीव दुखी लखिज्ञानदिये।
यहि"सूरतदास"कोटेकरहे, सबभासकोजानविजाती है।४

हे मानव-पथिक ! अब जागो सावधान होओ ! यहाँ तुम्हारा कोई साथी नहीं है ॥ टेक ॥ असत्य कल्पित विषय सुखों के भ्रम में तुम भटक कर संसार के खानी-वाणी-बन्धनों में उलझ गये हो । भला ! हृदय में थोड़ा विचार करके देखो तो, संसारी जीव सब अपने-अपने स्वार्थ ही तक तुम्हारे संगी बने हैं ॥१॥ पुत्र, स्त्री एवं बन्धु बान्धवों को जो तू अपना मानता है, वे अन्त में कोई तुम्हारे साथ न चलेंगे । परन्तु अपने तईं जो तूने पाप-पुण्य कर्म कर लिया है, परलोक में वही तुम्हारे साथ जायगा ॥२॥ लोभ, मोह अहंकार और क्रोध क्यों करता है ? और मन रूपी काल के जाल में फँसकर क्यों मरता है ? जैसे पतङ्गी दीपक की ज्योति में कूद कर जल मरती है, तैसे तुम्हारी बुद्धि पगली हो गयी है ॥३॥ सद्गुरु श्रीकबीरसाहेब के पारख-ज्ञान को हृदय में रखो, उन्होंने संसारी जीवों को दुखी देख कर ज्ञान-दान दिया है । ग्रन्थ-

कर्ता कहते हैं—हमारा सदैव यही पक्ष और ज्ञान रहना चाहिये कि जहाँ तक पाँच-विषय और मन-वासनादि भासमान् हैं, वे सब मुझ चैतन्य से पृथक् जड़ हैं ॥ ४ ॥

१३—गजल

वैराग्य ही जीवन परम्, वैराग्य ही अपनाय है।
सोचिये निशि दिन यही, नहिं संगकछुभीजाय है ॥टेक॥
जो धन विभव प्रभुता सकल, क्षण में सभी छुटि जायँगे।
कोई नहीं साथी तेरा, जब जीव तन से जाय है ॥१॥
ये मालो जर सब लूट करके, मित्र हित खा जायँगे।
जिनके लिए जीवन रतन, अपनारहा जहँड़ाय है ॥२॥
विद्या पढ़े विद्वान् बनि, वक्ता हुए सबसे बड़ा।
जाना नहीं निजको यदी, वैराग्य से गफिलाय है ॥३॥
बिरथा हुआ परिश्रम सब, ऐश्वर्य पाँचों भोग के।
तजकरचलेअध्यास वश, दुख खानि में भरमाय है ॥४॥
"सूरत" स्वतः निज याद कर, जगराग तू सब टार दे।
सन्तत ठहर निजरूपमें, तब दुख सकल मिटि जायहै५

वैराग्य ही श्रेष्ठ जीवन है, इसलिये वैराग्य ही धारण करो। रात-दिन यही चिन्तन कीजिये कि अन्त समय में कुछ भी संसार की वस्तु साथ में नहीं जायगी ॥ टेक ॥ जो सम्पत्ति, ऐश्वर्य और कीर्ति हैं, ये सब-के-सब क्षण मात्र में छूट जायँगे।

जब इस काया को त्याग कर (जीव) तुम परलोक जाने लगोगे, तब उस समय तुम्हारा कोई साथी नहीं होगा ॥१॥ जिन कुटुम्बी एवं हित-मित्रों के मोह में फँस कर कल्याण-साधन करने योग्य रत्न तुल्य नर-जन्म तू नष्ट कर रहा है। तेरे मरते ही वे सब तेरे धन-सम्पत्ति को लूट कर खा लेंगे ॥२॥ अनेकों विद्या पढ़ कर विद्वान् हो गया, सब से श्रेष्ठ वक्ता-प्रवचनकर्ता हो गया। परन्तु यदि अपने आप पारख स्वरूप को यथार्थ न जाना और वैराग्य धारण करने से असावधान ही रह गया, तो उसका सब व्यर्थ है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—इन पाँचों भोगों के ऐश्वर्य एवं इनको एकत्र करने का परिश्रम सब तभी व्यर्थ हो गया। जब यह जीव सब त्याग कर वासना-वश दुःखमय शूकर-कूकर एवं कीट-पतङ्गादि खानियों में भ्रमने चला ॥४॥ सन्त श्रीरामसूरतसाहेब कहते हैं—अपने आप चेतन स्वरूप को चिन्तन करो और संसार के मोह को सर्वथा हटा दो। निरन्तर अपने चेतन स्वरूप में स्थित होओ, तब तुम्हारा समस्त दुःख सदैव के लिये नष्ट हो जायगा ॥ ५ ॥

प्रश्न—वैराग्य श्रेष्ट जीवन क्यों है ?

उत्तर–निःभोग, निर्विवाद निष्काम और सन्तुष्टरूप होने से।

१५—गजल

सदा अपने दिलन्दर में, लगी लव मोक्ष होने की।
न कोई चाहना उर में, जगत के भोग पाने की ॥टेक॥

मिला है खूब अब अवसर, शमन मन वासना को कर।
तजे तन भोग को चिन्ता, जगत ख्वाहिश बढ़ाने की।१
काम क्रोधादि से हटकर, सदा सद्गुण जिसे भाते।
दयादिक अङ्ग धारणकर, रंग वैराग्य लाने की ॥२॥
गहे साहस धरे धीरज, करे मन इन्द्रियों को वश।
रहे नैराश्य विजयी बन, अचल साम्राज्य लाने की ॥३॥
पुनः निजरूप जैसा है, करे ठहराव वैसे ही।
रहे निरधार "सूरत" है, न फिर से भूल खाने की ॥४॥

जिस जिज्ञासुके हृदय में निर्द्वन्द्व मुक्तिप्राप्ति की लगन सदैव लगी रहती है। संसारी भोगों की प्राप्ति की उसके मन में कोई इच्छा नहीं रहती, बल्कि वह उसे दुःख रूप समझता है ॥ टेक ॥ वर्तमान में बड़ा सुन्दर समय मिला है, अतः मन-इन्द्रियों को रोककर स्वरूपस्थिति करो। शरीर-निर्वाह की चिन्ता और संसार के बढ़ावा की इच्छा भी सर्वथा छोड़ दो ॥ १ ॥ काम-क्रोधादि से दूर होकर जिसे सदैव दया, शील, क्षमा, सत्य धैर्य विचार, सन्तोषादि लक्षणों का धारण, वैराग्य-भाव मनन आदि सद्गुण ही अच्छे लगते हैं ॥ २ ॥ जो साधन-पथ में साहस और धैर्य धारण करता है और मन-इन्द्रियों को स्वाधीन कर संसार से नैराश्य, विजयी स्वतन्त्र हो जाता है, वही अविचल स्वराज्य (स्वरूप-स्थिति) को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ फिर जैसे अपना स्वरूप सब भास-अ-

ध्यास से रहित शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है, तैसे स्थिति का अभ्यास जीवन पर्यन्त रखना चाहिये। ग्रन्थकर्ता सद्गुरु कहते हैं— फिर वह प्रारब्धान्त पश्चात् निराधार विदेह-मुक्त हो जायगा, पुनः वह कभी भ्रम-भूल में न पड़ेगा ॥ ४ ॥

१५—गजल

वैराग्य के परभाव को, जो दृढ़ किये दिल में सदा।
रहते सदा एकान्त वै, तजकर सकल सुख सम्पदा। टेक
जंगल बगीचा हो सदन, मंगल उन्हें सब ठाम में।
नहिं राग कुछ भी है उन्हें, निजरूप में ही थिर सदा ॥१॥
छल बल कपट लखते रहे, मन धूर्त के व्यवहार को।
नैराश्य से करते गुजर, नहिं धन, विभव की कुछ मदा ॥२॥
पटतर किसी की छोड़कर, पुरुषार्थ कर रहते सजग।
आगे वो पीछे आश तज, प्रारब्ध पर निर्भर सदा ॥३॥
हैं मान मर्दन कर दिये, परवाह भोगों का तजे।
स्वच्छन्द पारख प्राप्त जब, वे मोक्ष पथ गामी सदा ॥४॥
"सूरत" स्वतः निजरूप से, सबहीं विजाती जानकर।
जग मेल आशा ठेलकर, गुरुदेव को निष्ठा सदा ॥५॥

अपने हृदय में वैराग्य के महत्त्व को जो सदैव दृढ़ निश्चय किये हैं। वे सम्पूर्ण लौकिक सुख-सम्पदा को त्याग कर जगत् प्रपंच रहित सदैव एकान्त—अपने शुद्ध चैतन्य पारख स्वरूप में

ही स्थित रहते हैं ॥ टेक ॥ वन, बगीचा, मन्दिर कहीं भी हो, उनका हर स्थलों पर कुशल-ही-कुशल है। क्योंकि उनके हृदय में किन्हीं भी पदार्थों का किञ्चिन्मात्र भी मोह नहीं रहता, वे सदैव अपने मङ्गल मूल स्वरूप ही में शान्त रहते हैं ॥ १ ॥ दगाबाज मन के सब व्यवहारों को छल, बल, कपट रूप वे देखते रहते हैं। आशा-हीन होकर वे निरस भाव से शरीर का निर्वाह लेते हैं। धन ऐश्वर्य का उन्हें कोई अहंकार नहीं रहता ॥ २ ॥ किसी से पटैती, बराबरी, ईर्ष्या, अभिमान करना छोड़कर अपने सद्पुरुषार्थ करने में सावधान रहते हैं। भूत-भविष्य की आशा त्याग कर निर्वाह में प्रारब्ध पर ही वे सदैव निर्भर रहते हैं ॥ ३ ॥ वे अभिमान नष्ट कर देते हैं, विषय भोगों का चिन्तन तक त्याग देते हैं, (भोगना कौन कहे ?)। जब जिन्हें स्वतन्त्र पारख बोध प्राप्त हो गया, वे जीवन पर्यन्त मोक्ष-मार्ग के पथिक बनकर प्रारब्धान्त पश्चात् निराधार विदेह-मुक्त हो जाते हैं ॥४॥ सन्त श्रीरामसूरतसाहेब कहते हैं—अपने चेतन स्वरूप से पृथक् सबको विजाति-जड़वर्ग जानकर और संसार के राग तथा आशा को त्याग कर वे सदैव सद्गुरु के निष्ठक एवं स्वरूप-स्थिति-साधन में रत रहते हैं ॥ ५ ॥

प्रश्न—ऊपर के वैराग्य-भाव कब आयेंगे ?

उत्तर—संसार-शरीर में निरन्तर दुःख देखने से।

१६—शब्द

समुझि मन अपनी वृत्ति सुधारो ।।टेक।।

सब जीवन में समता धारो, नहिं कोइ अपन परारो ।
राग द्वेष फिर कासो करिए, तजिपरवृत्तिकोभारो ।।१।।
निन्दा औ उपहास करे कोई, स्तुति वन्दन सारो ।
स्वस्वरूप सेबाह्य जानि सब, उलझनि सबहीं टारो।।२।।
रहो निराश शान्ति पद लहिके, आशा तृष्णा जारो ।
सपन समान जानि यहजीवन, तजि अभिमान विकारो ३
घास ओश कण वारि बतासा, दामिन चमक विचारो ।
स्थिर रहित क्षणिक सब चंचल, जग व्योहार असारो ४
तेहि से लक्ष पृथक् सब करिके, हंस रहनि सब धारो ।
टूटैं बन्धन जगत् देह का, नित सत्संग अधारो ।।५।।
अन्तिम पारख दशा निरन्तर, शुद्ध रूप अविकारो ।
मुक्त होय प्रारब्ध भोगि के, आवागमन निवारो ।।६।।
साक्षी भास नाश ह्वै सकलौं, आपे आप रहारो ।
"सूरत" स्वतःस्वरूप विदेहै, लहि विदेह व्यवहारो ७

मन का सम्बन्ध कर्ता, हे जीव ! सत्संग में ज्ञान समझकर अपने लक्ष्य को ठीक करो ।। टेक ।। सब प्राणियों में समता (हितैषित्व) धारण करो, न कोई अपना है और न पराया है । फिर विचारो ! मोह-वैर किससे करोगे ? अतः बन्धन या

बोझा रूप राग-द्वेष को समझ कर त्याग करो ॥ १ ॥ चाहे कोई निन्दा उपहास करे, चाहे कोई सब भाँति विनय-वन्दना करे। इन सबको अपने स्वरूप से पृथक् समझ कर सब उद्वेगनों को हटा दो ॥ २ ॥ भोगों की आशा-तृष्णा ज्ञान अग्नि में जलाकर और संसार से नैराश्य होकर स्वस्वरूप में शान्त होओ। और इस जीवन को स्वप्नवत् जान कर अभिमान कचड़े को भी छोड़ दो ॥ ३ ॥ घास में लगा हुआ ओस-कण, जल का बताशा और बिजली की चमक विचार करो ! ये सब स्थिर नहीं हैं, सब क्षण-भंगुर और चञ्चल हैं, इसी प्रकार संसार का सारा व्यवहार सार-हीन है ॥ ४ ॥ इसलिये इन संसारी पदार्थों से मन हटा करके सर्व सदाचरणों को धारण करो। फिर सत्सङ्ग के आश्रय से संसार-शरीर का सम्बन्ध रूपी बन्धन सदैव के लिये कट जायगा। ५ ॥ अन्त में होनेवाली मृत्यु की दशा को सबसे अभाव करके आज ही चरितार्थ कर लो, निर्विकार शुद्ध पारख स्वरूप में निरन्तर रमण करो। इस प्रकार प्रारब्ध भोगों को भोग लेने के पश्चात् जीव विदेह-मुक्त हो जायगा, उसका गमनागमन रूप व्यवसाय सर्वदा के लिये समाप्त हो जायगा ॥ ६ ॥ उस विदेह स्थिति में साक्षी-भाव और बाह्य-प्रतीत सब प्रकार से नष्ट होकर 'जानि-जनावन से रहित' अपने आप निराधार रह जायगा। सद्गुरु श्रीरामसूरत-साहेब कहते हैं—अपना सत्य चैतन्य स्वरूप सब समय देह से सर्वथा रहित शुद्ध है, शरीर-व्यवहार रहे तक भी वही विदेह-

स्वरूप का भाव चित्त में दृढ़ रखो; जिससे लगा हुआ आवरण रूप शरीर-सम्बन्ध का सर्वदा के लिये विच्छेद होकर शेष विदेह-स्वरूप ही मात्र नित्य के लिये रह जाय ॥ ७ ॥

१७—शब्द

करौ यतन परलोक बनन की ॥ टेक ॥
शरण जाय गुरुभक्तिगहो,तनअन्तस स्वच्छकरन को।
विरति विवेक बोध लहिजिव को,रिपुकामादि दलन को१
जो कछु धर्माधर्म कमावो, निज संग वाही रहन की।
होयसजग परमारथ सेवो, सबसुख अटल मिलन की २
निशिदिन फिकरशोधकरयाही नहिं पुनिनरकगिरनकी।
मानुष को कर्तव्य यही है, अवगुण सकल तजन की ३
दया क्षमा सत् धीर धरै उर वीर भाव में चलन की।
"सूरत"लगनदिनोंदिनआगे,मोक्षपरम्पदआपगहन की

अपने परलोक सवाँरने के लिये उद्योग करो ॥ टेक ॥
सद्गुरु की शरण लेकर उनकी भक्ति धारण करो, जिससे शरीर-मन पवित्र हो जाय। वैराग्य, विवेक और स्वरूपज्ञान धारणकर जीव के शत्रुरूप काम-क्रोधादि को विनष्ट कर डालो ॥ १ ॥ पाप-पुण्य जो कुछ कमाओगे, अपने साथ में हर-समय, हर-स्थल पर वही रहेगा। सावधान होकर परमार्थ (स्वरूप-ज्ञान) की रक्षा करो, फिर दुःख रहित अविचल शान्ति मिलेगी ॥ २ ॥ रात-दिन यही चिन्ता रखो और यही विचारो कि

फिर से अब हम गर्भ-वास या शरीर-वास रूप नर्क में न पड़ें। मनुष्य का यही कर्तव्य ही है कि सब दुर्गुणों को त्यागकर मोक्ष हो जाय ॥ ३ ॥ दया, क्षमा, सत्य, धैर्य आदि सद्गुणों को हृदय में धारण कर वीर-भाव पूर्वक कल्याण-पथ में चलना चाहिये। ग्रन्थकर्ता कहते हैं—परम् पद मोक्ष-प्राप्ति के लिये दिन प्रतिदिन अपना प्रेम-उत्साह आगे-आगे बढ़ाते रहना चाहिये और इसी जीवन में अपना कर्तव्य पूर्ण कर मुक्त हो जाना चाहिये ॥ ४ ॥

प्रश्न—परलोक किसे कहते हैं ?

उत्तर—पुनजन्म को, जो आज पाप-पुण्य करोगे, वही आगे जन्मों में पाओगे। अतः अच्छा कर्म करो।

१८—शब्द

तजो जड़ नेह सदा दुखकारे ॥ टेक ॥

तुम हो चेतन सब से न्यारा, सब को देखि विचारे।
भूल अनादी जड़ सम्बन्धहिं, दुखिया जीव दुखारे ॥१॥
नर तन से जस कर्म वासना, गढ़ि गढ़ि देह सवाँरे।
तैसहिं अब तब भोग होत है, करत क्रिया सब हारे ॥२॥
नहिं चाहत कोइ दुख काहू से, सब सुख नित्य लहारे।
जानि न पावत हेतु ताहिकर, सुख आशा दुख धारे ॥३॥
सुख तजि दुख नहिं देखो कबहूँ, जो कुसंग लखि टारे।
"सूरत" चेति आप में आपहिं, रहो स्वतः निरधारे ॥४॥

जड़ शरीर-संसार और पंच विषय-भोगों का मोह छोड़ दो, क्योंकि ये सदैव दुःखदायी हैं ।। टेक ।। हे चेतन ! तू सर्व जड़ पदार्थों से पृथक् हो, सब के द्रष्टा और गुण-दोषों के विचारने वाले हो । परन्तु अपने स्वरूप की भूल तथा अनादि जड़-सम्बन्ध करके शरीर धारी जीव दुखी हैं और बारम्बार दुःखों का पात्र बनते जाते हैं ।। १ ।। इस कर्मभूमि रूप मनुष्य-शरीर में पाप पुण्यों कि जिस प्रकार कर्म-वासनायें बनती हैं, तैसे ही उत्तम-मध्यम देहों का निर्माण हो-हो कर आज और कालान्तर में सुख-दुःखों का भोग जीव को होता रहता है, अपनी-अपनी समझ अनुसार दुःखों से छूटने की क्रिया सब करते-करते थके जाते हैं, परन्तु बिना यथार्थ ज्ञान के दुःखों का अन्त नहीं होता ।। २ ।। किसी से कोई दुःखों की प्राप्ति नहीं चाहता, सब सुख हमें नित्य मिलें— सब यही चाहते हैं । परन्तु दुःखों का कारण लोग जान नहीं पाते, विषय-सुखों की आशा वश ही जीव दुःखों के प्रवाह में पड़ा है ।। ३ ।। कल्पित विषय-सुखों को सर्वथा त्याग देने पर कहीं दुःख का चिन्ह भी नहीं पाओगे, यदि अपना विरोधी जानकर उसे त्यागा जाय तो । सन्त श्रीरामसूरत साहेब कहते हैं—अपने आप में सावधान होकर स्वयम् निराधार पारख स्वरूप में दृढ़ स्थित रहो ।। ४ ।।

१६—शब्द

हमारे उर गुरुवर बसिये आप ।। टेक ।।

चिन्ता शोक सतावत निशिदिन, निज स्वरूप नहिं जाप।
अवगुण निज नहिं पेखत कबहूँ, पर अवगुण लखि ताप॥१॥
राग द्वेष आवरण हमेशा, स्वस्वरूप को ढाँप।
शोक महान! कुबुद्धि जो ऐसी, तजि तव रहस्य प्रताप॥२
देव सुबुद्धि विचार निरन्तर, मेटि सकल सन्ताप।
समता सजग परीक्षा आवैं, ध्वंस होय त्रय ताप॥३॥
जैसे असंग अकाम एकरस, जहाँ न जगत कलाप।
"सूरत" परम धाम सोइ चाहत, अटल स्वतः जो आप॥४

हे श्रेष्ठ सद्गुरु! हमारे हृदय में आप का ज्ञान निवास करे, यही याचना है॥ टेक॥ जगत् की चिन्ता और शोक हमें रात-दिन दुःख दे रहे हैं, अपने स्वरूप का स्मरण नहीं होता। अपने दुर्गुण कभी भी देखने में नहीं आते, दूसरे के दुर्गुणों को देख-देख करके सन्ताप उठाता रहता हूँ॥ १॥ राग-द्वेष के आवरण स्वतः स्वरूपज्ञान को सदैव ढाँकते रहते हैं। महान चिन्ता है, जो ऐसी कुमति ने मुझे घेर लिया है, आपके आचरण—तेज को छोड़ बैठा हूँ॥ २॥ अपनी विवेकवती बुद्धि और निरन्तर विचार धारा को देदीजिये, जिससे सब कष्टों का अन्त हो जाय। सब में समता, सावधानी और पारख दृष्टि धारण करूँ, तीनों तापों का विनाश हो जाय॥ ३॥ निराधार, निष्काम और एकरस जैसे अपना स्वरूप है; जहाँ जगत्-प्रपंच का समूह कुछ भी नहीं है। यह दास

उसी श्रेष्ठ धाम को चाहता है, जो अपना आप अविनाशी अचल है ॥ ४ ॥

प्रश्न—शान्ति कब मिलती है ?

उत्तर—अपने दोष देखकर निराभिमानी होने पर। इस बात का ऊपर पदों में वर्णन है, पुनः विचारो।

२०—शब्द

चलि गये हंस सरवर तन सूनी ॥ टेक ॥
आशा छोड़ि निराश भयो अब, आँख गई तब मूनी।
आश्रित जन सब रोवन लागे, ममता मोह मनैं मनगूनी १
तनु इन्द्रियन साज सब ढीले, गाड़ि जारि करि धूनी।
यहि तनसरवर शैर कियो जस, तस गहिकर्म केर फलछूनी २
स्वपन समान देह के स्वारथ, छूटि न आवे पूनी।
राज काज धन विद्याबानी, सबअभिमान नष्ट भौ चूनी ३
दान धर्म गुरु सन्त जो सेवा, किये मिलै सुख दूनी।
"सूरत" स्वतः स्वरूपको गहिके, चलेजगतदुख भूनी॥४॥

चेतन-हंस निकल चले, शरीर-तालाब शून्य हो गया ॥ टेक ॥ न चाहते हुए सबको छुटते देखकर जीव उदास और व्याकुल हो उठा, इतने में उसके नेत्र ढँक गये। ममता मोह मन में सोच-सोचकर कुटुम्बी लोग सब रोने लगे ॥ १ ॥ शरीर के सब इन्द्रिय-सामग्री चेतन के सत्ता-हीन होने से ढीले हो गये, (जिधर कोई हाथ-पैर मुख आदि घुमा दे उधर

ही पड़ा रहे ।) निदान या तो मिट्टी में गाड़ दिये या जलाकर राख कर दिये । इस नर-शरीर रूपी तालाब में चेतन हंसने जैसे भोग-विलास और शुभाशुभ कर्म किया था, पुनर्जन्म में वैसे फलों को पाने लगा ॥ २ ॥ शरीर का सब स्वार्थ-पसारा स्वप्नवत् है, छूट जाने पर पुनः इनसे भेंट नहीं होती । राज्य, व्यवहार, सम्पत्ति और विद्या-वाणी आदि सबका अभिमान नष्ट होकर धूल हो जाती है ॥ ३ ॥ दान, धर्म सन्त-गुरु की सेवा करने से जीव को बहुत सुख मिलता है । ग्रन्थकर्ता कहते हैं—स्वतः पारख ज्ञान और स्थिति को प्राप्त करने से तो जीव जन्मादिक दुःखों को भी मिटा देता है ॥ ४ ॥

प्रश्न—इस पद में क्या दर्शाया गया है ?

उत्तर—अभिमान नाशक बूटी का इसमें वर्णन है । एक दिन शरीर त्यागना है फिर अभिमान किसका ?

२१—शब्द

परखि मन आपन रहो हुशियार ॥टेक॥

राग न कीजै द्वेष न कीजै, निज स्वरूप है न्यार ।
साधन विरति एकरस तत्पर, छोड़ि जगत व्यवहार ॥१॥
दयाशील सन्तोष धरो मन, दृढ़ सुविवेक विचार ।
सुमनसुबासरहतरतअलिजिमि,तिमिस्थितिनिजसार ।२
शत्रु काम क्रोधादि दुखद अति, तेहि को डारो मार ।
करो अकण्टकराज्यस्ववशनिज, जहाँन कोई परार ॥३॥

सद्गुण सुभट विराजत जहवाँ, श्री गुरु भूप अधार ।
तन प्रारब्ध वेग तक "सूरत" रह्नि अन्त निरधार ॥४॥

अपने मन की परीक्षा करके सावधान रहो ॥ टेक ॥ मोह-वैर किसी से न करो, अपना स्वरूप इन सबों से पृथक् है । वैराग्य-साधन में एकरस डटे रहो, जगत् प्रपंच के व्यवहार छोड़ दो ॥ १ ॥ दया, शील, सन्तोष, श्रेष्ठ विवेक और विचार—इनको दृढ़ता पूर्वक मन में धारण करो, फूलों की सुगन्धी में भँवरा जैसे आसक्त रहता है, तैसे तुम अपनी सार स्वरूपस्थिति में आसक्त रहो ॥ २ ॥ काम-क्रोधादि अत्यन्त दुःखदायी शत्रु हैं, इनको मार डालो । फिर जहाँ दूसरे की किञ्चित् मात्र भी विवशता नहीं है, स्वरूपस्थिति रूपी ऐसा निर्विघ्न स्ववश स्वतन्त्र स्वराज्य करो ॥ ३ ॥ सद्गुरु भूप के आश्रय में जहाँ सद्गुण रूपी योद्धा विराजते हैं । प्रारब्ध वेग तक वहाँ ठहर कर अपनी स्वरूपस्थिति की रक्षा करते हुए प्रारब्धान्त पश्चात् विदेह मुक्त हो रहना चाहिये ॥ ४ ॥

प्रश्न—इस पद का भाव बताइये ?

उत्तर—स्वरूपस्थिति के रहस्य इसमें खूबी के साथ वर्णन हैं, इन्हें धारण करने से ये काम में आयेंगे ।

२२—शब्द

करो नर चेत यक दिन तन छूटी ॥टेक॥
बहुत गुमान आश जो कीन्हें, सो सबहीं है झूठी ।

साथ जाय सो एक भी नाहीं, नर नारी जइहैंसबरूठी ।१
कर्म वासना जीव विवश सब, मृत्यु रही है लूटी ।
संस्कार जस जाय खानि तस, कौड़ी जाय न मूठी ॥२॥
जन्म जहाँ जस भोग तहाँ तस,मिलि हैं सबहीं जूटी ।
यहप्रमाणप्रत्यक्षजग देखो, दुख सुखादि शिर कूटी ॥३॥
मोक्ष धाम साधन करो आजहिं, यत्न गुरू पद जूटी ।
"सूरत"स्वतःगुरूपद स्थिति,जाय जगत् दुख छूटी ॥४॥

हे मनुष्य ! सावधान होओ, एक दिन तुम्हारा शरीर छूट जायगा ॥ टेक ॥ संसार की जो बहुत आशा-अभिमान किये हो, यह सब व्यर्थ है। संसार के कोई भी प्राणी-पदार्थ तुम्हारे साथ नहीं जायँगे, स्त्री-पुरुष सब तुम से विमुख हो जायँगे ॥ १ ॥ सब जीव कर्म-वासनाओं के वश हैं, मृत्यु सबको लूट रही है। जैसे कर्मों के संस्कार रहते हैं, तैसे उत्तम-मध्यम खानियों में जीव जाता है, जाते समय यहाँ की एक कौड़ी भी हाथ में नहीं जाती, हाथ भी तो छूट जाता है ॥२॥ जैसे पाप-पुण्य रहते हैं वैसे ही ऊँची-नीची खानियों में जाकर सुख-दुःख जीव भोगता रहता है और पाप-पुण्य के सब फल आकर जीव को मिलते रहते हैं। यह कर्म फल भोग का प्रमाण संसार में प्रत्यक्ष है, कर्मानुसार सुख-दुःखादि को प्राप्त होकर जीव कष्टित हैं ॥ ३ ॥ मनुष्य-शरीर कल्याण-साधनों का धाम है, अतः गुरुपद में लगकर उद्योग पूर्वक अब

साधन करो। सन्त श्री रामसूरत साहेब कहते हैं— साधन पूर्वक स्वस्वरूप में स्थित हो जाने पर जगत् दुःखों से छूट जाओगे— यह निश्चय है ॥ ४ ॥

प्रश्न—इस पद में क्या कहा गया है ?

उत्तर—शरीर की नश्वरता और अविनाशी जीव का कर्म-फल-भोग तथा मोक्ष का वर्णन किया गया है।

२३—शब्द

भजन करो तन की कौन है आश ॥ टेक ॥
जो जो जन्म लिये यह जगमें, कोई न रहिगा खास।
कृष्ण राम बड़ गये लखन युत, सीता रही न पास ॥१॥
राज पाट औ माल खजाना, सुन्दर नारी फाँस।
जेहि कारण सब लड़त भिड़त हैं, क्षणमेंहोतविनाश ॥२॥
जिनको आज मित्र करि पेखत, अन्त कोई नहिं खास।
याते ज्ञान भक्ति में पागो, तजि के भोग बिलास ॥३॥
स्वप्न समान असार जगत यह, नर झूठा विश्वास।
करि सत्संग गुरू मग लागो, क्षण क्षण बीतत श्वास ॥४॥
"सूरत" सावधान निशि वासर, परखि तजो जड़भास।
साधु गुरू के चरण शरण गहि, जग से होउ निराश ॥५॥

कल्याणार्थ भजन—साधन करो ! इस नाशवान् शरीर का क्या भरोसा है ? ॥ टेक ॥ इस संसार में जो-जो जन्म लिये,

कोई भी नहीं रह गये। श्रीकृष्ण, लक्ष्मण सहित श्रेष्ठ श्रीराम सब चले गये, राम के साथ सीता भी न रह सकीं ॥ १ ॥ राज्य, गद्दी, माल-खजाना, सुन्दर-स्त्री—ये सब जीव के लिये बन्धन हैं। जिस मिट्टी-मूत्र के लिये सब लड़ते-कटते हैं, वे क्षण में ही नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥ जिनको आज अपना मित्र करके समझते हो, अन्त में कोई तुम्हारा मुख्य साथी नहीं है। इसलिये भोग-विलास त्याग कर ज्ञान-भक्ति में रत होओ ॥३॥ यह संसार स्वप्न के समान निःसार है, हे मनुष्य ! इस झूठे जगत् के प्रति तुम्हारा विश्वास असत्य है। सत्संग करके सद्गुरु के मार्ग में लग जाओ, क्षण-क्षण श्वास बीतता जाता है ॥ ४ ॥ ग्रन्थकर्ता कहते हैं—रात-दिन सावधान रहो, परीक्षा पूर्वक जड़ सुख भास को त्यागते रहो। और विवेकी साधु-गुरु के चरणों की अधीनता लेकर संसार से उपराम हो जाओ ॥ ५ ॥

२४—शब्द

सजग तू नर तन पाय सुभागे ॥ टेक ॥

बन्धमोच्छकासाधनयहवाँ,परखिपरखिपथमेंचलोआगे१॥
कपटकुचालकुसंगकुमारग,कालसमानजानितेहित्यागे२।
गुरुविमुखमनवशसबप्राणी,सत् संगतबिननिपटअभागे
धन सुतनारि कुटुम्बके मोहीभक्तिभजनमेंकबहुँ नलागे४
पारसमणिअमूल्ययहजीवन,गाफिलभए मिलैनहिंआगे५

समय गये पछितायेन चूकै, फिर चौरासी असह दुख पागे ६ ।।
आहि आहि जग में दुख भारी, सूरत गुरू बिन कबहुँ न भागे ७ ।।
कहैं कबीर परख करि निशिदिन, मोह निशा से तबहिं जिव जागे

हे सुन्दर भाग्य वाले चेतन ! कल्याण-साधन करने योग्य तू नर तन पाया है, अतः सावधान हो जा ।। टेक ।। बन्धन और मुक्ति दोनों का साधन यहाँ है, इसलिये परख-परख कर मुक्तिमार्ग में अग्रसर होओ ।। १ ।। कपट, दुराचरण, कुसंग और बुरा मार्ग—इनको काल समान कष्टदायी जानकर त्यागते रहो ।। २ ।। यथार्थ सद्गुरु से उल्टे होकर सब जीव मन के वश हो रहे हैं, सत्संग के बिना वे बिल्कुल भाग्य-हीन हैं ।।३।। धन, पुत्र, स्त्री एवं कुटुम्बों के रागवान् बनकर भक्ति-भजन में कभी भी नहीं लगते ।। ४ ।। पारस-मणि के समान यह जीवन अमूल्य है (जिसका मूल्य सारा संसार नहीं) । आज असावधान हो जाने पर आगे पशु आदि खानियों में मोक्ष नहीं मिल सकता ।। ५ ।। आज के समय बीत जाने पर पीछे से पछिताये न चूकेगा, पुनः चौरासी की असह वेदना भोगने होंगे ।। ६ । शोक ! शोक !! संसार में बड़ा कठिन दुःख है, यह जीव गुरु-ज्ञान बिना कभी भी इन दुःखों से भागकर न बचा ।। ७ ।। सन्त श्रीकबीरदेव कहते हैं—रात-दिन मनमाया से सावधान होकर अपने पारख स्वरूप का चिन्तन रखो, मोह-रात्रि से तभी जानो जीव जग गया ।। ८ ।।

प्रश्न—ऊपर के पदों में क्या वर्णन है ?

उत्तर—जीवन सुधारने के लिये सुन्दर चेतावनी दी गयी है, विचारने और प्रयोग में लाने से मीठ लगेगी, केवल पढ़ने से नहीं ।

२५—कव्वाली

नमों नमों सद्गुरु दीन दयाल, सत् सिद्धान्त परखाने वाले ।
देकर जीव जमा का बोध, सब अनुमान छुड़ाने वाले ॥टेक॥
भूल रहा सब जगत जहान, नहिं जानत क्या ठौर ठिकान ।
पचि पचि के होते हैरान, सबको भेद बताने वाले ॥१॥
जड़ चेतन दोउ वस्तु अनादि, कर्ता कोई नहीं है आदि ।
जितने मत विरोध जड़वादि, सबसे सजग रहाने वाले ॥२॥
कोइ करते तीरथ व्रत जाप, कोइ सगुण कोइ निर्गुण थाप ।
करते सबही विविध प्रलाप, दै निज ज्ञान नशाने वाले ३
चिन्ता भूत भविष्य की छोड़ि, मिजको निजपद में दे जोड़ि ।
ममता पिण्ड ब्रह्माण्ड कि तोड़ि, आशा सबहिं जलाने वाले ॥४
करते राग द्वेष सब छार, ऐसे सन्त सदा निरधार ।
सूरत को कीन्हों भवपार, कर्णाधार कहाने वाले ॥५॥

दीनों पर कृपा करने वाले सद्गुरु को बारम्बार नमस्कार है, आप सत्य पारख सिद्धान्त की परीक्षा कराने वाले और अविनाशी जीव का बोध देकर सब अनुमान-कल्पना को छुड़ाने वाले हैं ॥टेक॥ सारे संसार के जीव अपने आप स्वरूप

को भूल रहे हैं, कोई अपना स्थिति-स्थान नहीं जानते। नाना अनुमान-कल्पना एवं कल्पित साधनों में पच-पचकर दुखी होते हैं, इन सबों का मर्म बताने वाले आप सद्गुरु हैं ॥ १ ॥ जड़-चेतन दोनों वस्तु भिन्न-भिन्न अनादि स्वतः हैं, इनका आरम्भक कर्ता कोई नहीं है ! जितने मत-विरोधी हैं, सब जड़-वाद (भास) में भ्रम रहे हैं, इन सबों से आप सावधान रहते, सब कसर-विकार को जानकर उनमें नहीं मिलते और जिज्ञासु को भी बचाते ॥२॥ कोई तीर्थ, कोई व्रत एवं कोइ नाम-जप करते कोई सगुण कोई निर्गुण का प्रतिपादन करते। इस प्रकार सब जीव विविध प्रकार प्रमत्त-बातें कर रहे हैं, अपना यथार्थ स्वरूप ज्ञान देकर इन द्वन्द्वों को आप नष्ट करने वाले हैं ॥३॥ आगे-पीछे की चिन्ता से रहित, अपने लक्ष्य को अपने स्वरूप में लगाये हुए। पिण्ड-ब्रह्माण्ड की ममता को नष्ट किये हुए और सब जगत्-आशा को दग्ध करने वाले आप हैं ॥ ४ ॥ राग-द्वेषादि सर्व विकारों को नष्ट करने वाले जो सन्त हैं वे सदैव निराधार मोक्ष स्वरूप में रमण करने वाले होते हैं। संसार-सागर के मल्लाह कहाने वाले हे सद्गुरुदेव ! इस दीन "रामसूरत दास" को आप संसार-सागर से पार कर दिये, आप का उपकार अमित है ॥ ५ ॥

प्रश्न—इस पद में क्या दर्शित है ?

उत्तर—पारखी सद्गुरु का महत्त्व इसमें बताया गया है, पुनः मनन कीजिये।

दीन बन्धु करुणा अयन, सद्गुरु सत्य कबीर ।
पारख बोध प्रकाश करि, मेटेहु भव को भीर ॥
सर्व पारखी सन्त जन, बोधक सूरतदेव ।
बार बार बन्दन करों, दुख हर कलिमल छेव ॥
क्षमहु चूक अपराध मम, लेहु शरण अपनाय ।
जग समुद्र के मध्य में, सद्गुरु सन्त सहाय ॥

शब्द

जय हे साधु सद्गुरु देव ॥ टेक ॥

जड़ चैतन्य को भेद देवत, सब प्रखावत भेव ॥ १ ॥
देत शिक्षा सरस हितकर, करत कलिमल छेव ॥ २ ॥
पतितपावन अधमुधारण, नाहिं तुम सम केव ॥ ३ ॥
चहुँ दिशा से दिखत भक्षक, एक रक्षक देव ॥ ४ ॥
सब प्रकार से नम्र है, अभिलाष तव पद धेव ॥ ५ ॥

चारों प्रकरण युक्त रहनि प्रबोधिनी टीका
व्याख्या सहित सम्पूर्ण समाप्त

❀ प्रकरण-फल-छन्द ❀

जग-मोह अर्णव जीव तारक,
सन्त-गुरु के ज्ञान हैं।
तेहि के गहे दुख नाश हो,
पावे परम् पद थान है ॥
प्रारब्ध भर सद्ग्रन्थ-साधन,
गहि सुसंगत भक्ति को।
निजरूप का चिन्तन निरन्तर,
प्राप्त अविचल मुक्ति को ॥

❀ दोहा ❀

मन मारे भक्ती करे,
निज स्वरूप रत होय।
यही जनम में मुक्त सोइ,
निःसंशय दुख खोय ॥

स्थान बड़हरा सद्गुरु श्रीरामसूरत साहेब के आधार में प्रकाशित पुस्तकें—

विवेकप्रकाश सटीक

ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, सदाचार, स्त्री-शिक्षा गृहस्थी-शिक्षा इत्यादि अनेक धार्मिक प्रसंगों से यह ग्रन्थ सम्पन्न है। इसमें प्रत्येक विषय समझाने के लिये लगभग १२५ सरल दृष्टान्त दिये गये हैं। बीच बीच में अनेकों भजन, वन्दना, चेतावनी आदि से सुसज्जित है। स्थल-स्थल पर स्पष्ट, शिक्षा, प्रश्नोत्तर व्याख्यायुक्त रखे गये हैं, अतः गृहस्थ-विरक्त, आबाल-वृद्ध, नर-नारी के लिये परम् उपयोगी है। चिकना उत्तम ग्लेज कागज पौनेआठ सौ पेजों की ठोस पक्की जिल्द, मूल्य केवल ७.०० (सातरुपया) मूल्य में उचित छूट दिया जाता है।

बीजक शिक्षा

सद्गुरु श्री कबीर साहेब के बीजक का यह चुनित अनूठा ग्रन्थ है। बीजक के उपदेशक पदों का इसमें संग्रह करके सरल टीका और व्याख्या की गयी है। स्थल-स्थल पर दृष्टान्त, चेतानी-शब्द और शिक्षाओं से पूर्ण है। संसार की असारता का इसमें अधिक स्पष्टीकरण है, कल्याण इच्छुक का तो यह जीवन प्राण है। चिकना उत्तम ग्लेज कागज लगभग ७०० पेजों की ठोस पक्की जिल्द, मूल्य केवल ५·०० (पाँच रुपया)।

रहनि प्रबोधिनी सटीक

इसमें पहले हर पदों पर संक्षिप्त टीका की गयी है, पुनः प्रत्येक विषय को स्पष्ट समझाने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर किये गये हैं। इसमें लगभग २१७ प्रश्नोत्तर हैं, जो अति रुचिकर हैं। यथार्थ गुरु और अयथार्थ गुरुओं के लक्षण, गृहस्थी में चलने की रीति, जीवन्मुक्ति के

लक्षण, विवेक, वैराग्य, दया, शील, भक्ति, ब्रह्मचर्य, सत्य समता, शान्ति आदि ६४ सद्गुण-सदाचरणों का विशद विवेचन है। यह पुस्तक अपने स्थान पर अति उत्तम, साधकों को तो अति प्रियकर है। चिकना उत्तम ग्लेज कागज लगभग पौने पाँच सौ पृष्ठों की ठोस पक्की जिल्द मूल्य केवल ३.५० (तीन रुपया ५० न० पै०)।

वैराग्य संजीवनी

अनेक प्रकार के छन्दों में ज्ञान, भक्ति, वैराग्य का इसमें स्पष्ट वर्णन है। अन्त में पचीसों चित्ताकर्षक भजन हैं। इसके विषय में अधिक नहीं बतलाना है, क्योंकि इससे प्रायः पाठक जन परिचित हैं। प्रथम संस्करण को स्नेही पाठकों ने बड़े प्रेम से शीघ्र-शीघ्र अपनाया। कारण वश पुनः शीघ्र न छपने पर वर्षों से यह पुस्तक अप्राप्त थी। अब द्वितीयावृत्ति छपकर प्रस्तुत है। उत्तम ग्लेज कागज, ४८० पेज की ठोस पक्की जिल्द गुटका साइज, मूल्य केवल १.५० (एक रुपया ५० न० पै०)।

सरल सिक्षा

इसमें सातखण्ड हैं, प्रथम खण्ड में कई शंकाओं के समाधान, गृहस्थी में पिता-पुत्र और स्त्री-पुरुष का कर्तव्यपालन, दान, धर्म, भक्ति के लक्षण आदि बातों पर तीसों लेख हैं। दूसरे खण्ड में हर श्रेणी योग्य ३१० महत्वपूर्ण उपदेश हैं। तीसरे खण्ड में सत्योपदेश के १०० वचन हैं। चौथे खण्ड में नीति सम्बन्धी चाणक्यनीति के १८३ विलक्षण वचन हैं। पाँचवें खण्ड में विदुरनीति के ३४० उपदेश के वचन हैं। छठवें खण्ड में भर्तृहरिजी रचित भर्तृहरिनीति के ७० उत्तम वचन हैं। और सातवें में कुछ वचन शान्ति-पथ के हैं। इस प्रकार

इसमें धर्म नीति, राजनीति, गृह-नीति, तथा साधु-नीति आदि पर अनेकों लेख और शहस्रों महत्व पूर्ण वचन होने से यह पुस्तक गृहस्थ विरक्त, साधक-सन्यासी, राजा-प्रजा तथा स्त्री-बालक सबके लाभ की है।

स्त्री-बालशिक्षा

स्त्री-बालकों के लिये यह परम् उपयोगी है। नैहर-सासुर में स्त्री को कैसे आचरण से चलना चाहिये। माता-पिता, भाई, पति, सासु-ससुर आदि से कैसा व्यवहार रखना चाहिये, विधवा ब्रह्मचारिणियों के आचरण क्या हैं? इत्यादि बातें अनेक दृष्टान्त-प्रमाणों द्वारा बताया गया। बच्चों का सुधार कैसे होता है, बच्चा कैसे माता-पिता का सेवी हो, विद्या किसे कहते हैं, इत्यादि प्रसंगों का इसमें विशद वर्णन है। ग्रन्थ देखने से ही पता चलेगा।

विवेक प्रकाश मूल, मूल्य		१.००	(एक रुपया)
अहिंसा शुद्धाहार	,,	०.६२	(६२ न० पै०)
भजन प्रवेशिका	,,	०.६२	(६२ न० पै०)
रहनि प्रबोधिनी	,,	०.३६	(३६ न० पै०)
आदेश प्रभा	,,	०.३६	(३६ न० पै०)
सन्तमहिमा (बड़ी)	,,	०.५०	(५० न० पै०)
सन्तमहिमा (छोटी)	,,	०.२०	(२० न० पै०)
सरल बोध	,,	०.२५	(२५ न० पै०)

मिलने का पता—

१—सन्त सेवक कमलसिंह
मु० दर्रा, पो० इसदा
मानिकचौरी, जि० रायपुर

२—बाबू बैजनाथ प्रसाद बुक्सेलर
राजा दरवाजा वाराणसी-१

नोट—बदहरा की सब पुस्तकें उपरोक्त दो ही पते पर मिलती हैं। अब शंकर भक्त मोहम्मदनगर और साहेबदीन बुक्सेलर मसकनवा से